महादेव गोविन्द रानाडे लिखित

मराठों का उत्कर्ष

RANADES

Rise and development of the Maratha Power
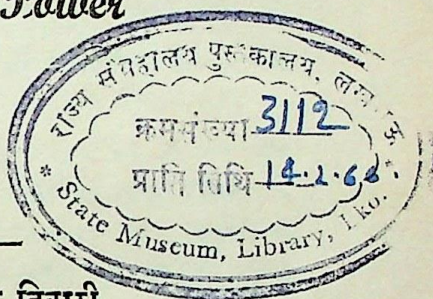
संपादक :—
पं० कमलाकर तिवारी

अनुवादक :—
रमेश तिवारी
प्रवक्ता कालिका धाम इन्टर कालेज, सेनापुरी, वाराणसी

इतिहास प्रकाशन संस्थान
इलाहाबाद, वाराणसी

अनुवादक का वक्तव्य

आदरणीय श्री गिरिधर शुक्लजी की प्रेरणा से पूज्य पिताजी, श्री कमलाकर तिवारी के साथ मराठा इतिहास के सम्बन्ध में सर्वथा प्रामाणिक ग्रंथ /माने जानेवाले ग्राण्ट डफ कृत 'हिस्ट्री ऑफ द मराठाज' का अनुवाद करते समय मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि मराठों की शूरता, वीरता एवं शिवाजी के सम्बन्ध में ग्रान्ट डफ का दृष्टिकोण यद्यपि उदारवादी था फिर भी कुछ स्थलों पर ऐसा लगा कि जैसे शिवाजी के साथ मराठा राज्य की स्थापना में निहित आदर्शों एवं नैतिक भावनाओं के साथ उचित न्याय नहीं किया गया है। मि० ग्रान्ट डफ़ के अनुसार मराठा राज्य की स्थापना एक संयोग था, उसकी पृष्ठभूमि में कोई सुनियोजित एवं सुगठित योजना नहीं थी और लूटपाट ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी।

ऐसे ही अफ़जल काण्ड के विवरण में मि० ग्रान्ट डफ ने यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि अफजल खाँ की हत्या शिवाजी के छल एवं कपट के परिणाम स्वरूप हुई; उसके अनुसार पहले शिवाजी ने ही की, और अफजल के पेट में, भेंट करते समय ही बघनखा घुसेड़ दिया। और इस प्रकार उसने शिवाजी को ही दोष देने का प्रयास किया है जो मुझे अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ। ऐसी ही कुछ अन्य बातें भी हैं जिन पर एक नये, भारतीय दृष्टि से विचार प्रकाश डालने वाले किसी ग्रंथ की खोज में मैं लग गया।

अचानक एक दिन घर ही में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े, माननीय महादेव गोविन्द रानाडे लिखित 'राइज एण्ड डेवलपमेण्ट आव मराठा पावर' पर मेरी दृष्टि पड़ी। मैंने उसे आद्योपान्त पढ़ जाने के पश्चात् अनुभव किया कि मि० ग्राण्ट डफ के एकांगी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उत्पन्न कुछ भ्रमों का निराकरण करना ही रानाडे की इस कृति का मुख्य उद्देश्य था। मैंने पिताजी से परामर्श लिया, उन्होंने भी इस सम्बन्ध में सहमति प्रकट की और प्रोत्साहित होकर अवसर पाते ही इसके अनुवाद कार्य में लग गया। परिणाम आपके समक्ष है, और इसके विषय में विचार करना अब आपका काम है, मेरा नहीं।

यह ग्रंथ, इतिहास न होकर, एक प्रबन्ध है, तथा उसमें मराठों के

विकास काल की प्रमुख घटनाओं के माध्यम से श्री रानाडे ने कुछ विशिष्ट तथ्यों एवं मतों का प्रतिपादन करने का स्तुल्य प्रयास किया है जो मराठा राज्य की स्थापना की पृष्ठभूमि में निहित नैतिक आदर्शों के प्रति हमें एक नया दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करता है। आशा है, यह ग्रंथ मराठा इतिहास के विद्यार्थियों एवं पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, और इसी में मेरे इस प्रयास की सार्थकता है।

कृतज्ञ होना चाहिए हमें श्री महादेव गोविन्द रानाडे का, जिन्होंने हमें मराठा इतिहास तथा लोकनायक शिवाजी के जीवन चरित्र, उनकी शासन व्यवस्था, एवं मराठा इतिहास के कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को एक नए दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि हमें दी। एक बात इस सम्बन्ध में और कहना चाहता हूँ, पाठकों के हृदय में, इस पुस्तक के कारण मि० ग्रान्ट डफ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं उत्पन्न होना चाहिए। इतिहास वही है, अन्तर है तो दृष्टिकोणों का। वैसे यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि हम अपनी वस्तुओं को दूसरों की दृष्टि से देखने के आदी हो गये हैं :

मैंने यथासम्भव प्रयास किया है कि अनुवाद मूल विषय के अनुकूल ही हो, एवं मूलग्रन्थ की भावनाओं की हत्या न हो, फिर यह अनुवाद सर्वथा दोषमुक्त है, यह कहने का साहस मैं नहीं कर सकता। जो त्रुटियां रह गई हों, उनके लिए सहृदय पाठकों के समक्ष क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि हिन्दी संसार ने इसे अपनाया तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

रमेश तिवारी

महादेव गोविन्द रानाडे

संक्षिप्त जीवन परिचय एवं कार्य

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, न केवल महाराष्ट्र में, अपितु मद्रास, बंगाल, गुजरात, संयुक्त प्रदेश एवं अन्य प्रान्तों में जितने भी साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन चल रहे थे, उनमें से सम्भवतः कोई भी ऐसा नहीं था जिसके सूत्र संचालन में महामति महादेव गोविन्द रानाडे का सक्रिय सहयोग नहीं था। वे भारत के राजनीतिक और सामाजिक रंगमंच के अनेक प्रमुख सूत्रधारों-जैसे तिलक, गोखले आदि के गुरु एवं पथ-प्रदर्शक थे। जिस समय रानाडे ने एक होनहार युवक और वृटिश सरकार के एक उत्तरदायी अफसर के रूप में जीवन में प्रवेश किया, भारत-वासी विशेषकर शिक्षित वर्ग वित आधुनिक और पुरातन सभ्यताओं के विषम जाल में उलझे हुए थे तथा 'अपना सभी कुछ बुरा और पराया अच्छा' के सिद्धान्त को अपना कर एक अधकचरी सभ्यता को जन्म दे रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति में न्यायमूर्ति रानाडे ने नवचेतना का ऐसा शंख-नाद किया जो गत सौ वर्षों के इतिहास में अनुपमेय था।

महाराष्ट्र में उत्पन्न इस विख्यात महापुरुष का जन्म सन् १८४२ ई० के फरवरी माह की अट्ठारहवीं तारीख को हुआ था; गोखले, तिलक, पराजंपे सावरकर तथा अन्य गणमान्य मराठी नेताओं की भाँति ही रानाडे भी कोंकण चितपावन जाति के थे तथा उनका परिवार कोंकड़ प्रान्त में स्थित रत्नागिरि जिले में निवास करता था। उनके पिता कोल्हापुर में सरकारी नौकरी करते थे। और उन्नति करते-करते तहसीलदार के पद तक पहुँच गए थे। अतः महादेव गोविन्द रानाडे की प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर में ही हुई। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्होंने बम्बई के एलफिंस्टन कालेज में प्रवेश किया तथा यथा समय बम्बई युनिवर्सिटी से बी. ए. की डिग्री प्राप्त की। बी. ए. की परीक्षा पास करते ही वे उसी कालेज में उपाध्यापक के पद पर नियुक्त हो गए। सन् १८६३ ई० में एम. ए. की परीक्षा पास की और विशेष योग्यता के लिए स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। सन् १८६२ से १८६६ ई० तक वे 'इन्दुप्रकाश' नामक ऐंग्लो मराठी पत्र के अंग्रेजी विभाग के सम्पादक

रहे। सन् १८६६ में ही उन्होंने ग्रॉनर्स सहित एल. एल. बी. की परीक्षा भी पास कर ली। सन् १८६६ से १८६८ ई० के बीच उन्होंने पूना के शिक्षा विभाग में एक्टिंग मराठी ट्रांसलेटर, अक्कलकोट राज्य के दीवान तथा कोल्हापुर में न्यायाधीश के पदों पर कार्य किया। सन् १८६६ में वे बम्बई हाईकोर्ट में असिस्टेन्ट रिपोर्टर, १८७१ में बम्बई के तीसरे मजिस्ट्रेट, तत्पश्चात् स्मालकाज़ कोर्ट के चौथे जज और फिर पूना के एक्टिंग फर्स्ट क्लास फर्स्ट ग्रेड सब-जज हुए। वे सन् १८७६ में नासिक के सदर अमीन हुए और १८८० में स्थानांतरित होकर धूलिया चले आये। सन् १८८१ में उन्हें बम्बई में एक्टिंग प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त किया गया, और इसी वर्ष वे पूना के सदर अमीन हो गये, सन् १८८५ ई० में बम्बई के गवर्नर के कौंसिलर और सन् १८८६ में फाइनेंस कमेटी के कमिश्नर का पद प्राप्त किया। सन् १८८७ ई० में बृटिश सरकार ने उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि देकर सम्मानित किया। सन् १८९० में वे पुनः बम्बई के गवर्नर के कौंसिलर हुए। सन् १८६३ में उन्हें बम्बई हाईकोर्ट का जज बनाया गया। इसी पद पर कार्य करते हुए १६०१ की १६ जनवरी को यह महान आत्मा इहलोक से बिदा होकर एक ज्योति-पुन्ज की भाँति शून्याकाश में विलीन हो गए।

रानाडे की मृत्यु के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक द्वारा 'केसरी' में लिख गए लेख से इस महान आत्मा के कार्य का दिग्दर्शन भली-भाँति हो जाता है। तिलक जी ने लिखा था "उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में सभी बातों में पूना पर मृत्यु का आवरण छाया हुआ था......उस समय महाराष्ट्र देश एक ठण्डे गोले की नाईं बन गया था। उस ठण्डे गोले को किस प्रकार गरमी पहुँचाने से वह सजीव होगा और हाथ-पैर हिलावेगा, इसी बात का दिन-रात विचार करके उसे पुनर्जीवित करने का कठिन कार्य अपने कंधों पर लेकर रानाडे जी ने ही सबसे पहले अत्यन्त परिश्रम किया और यही इनके बड़प्पन का मुख्य प्रतीक है। सरकारी नौकरी सँभालकर देश की उन्नति के लिए किस प्रकार के प्रयत्न किये जायँ, इसका निर्णय करके उन्हें अमल में लाते हुए परिश्रम करना बुद्धिमान पुरुष का ही कार्य है......इस समय महाराष्ट्र में जो ज्वलन्त सजीवता के लक्षण दिखाई दे रहे हैं और वहाँ के वक्ता तथा लेखक निर्भीकता से सार्वजनिक कार्यों की चर्चा करते दिखाई देते हैं। उसका एक मात्र श्रेय रानाडेजी के पचीस वर्ष के दीर्घोद्योग को ही दिया जा सकता

है" तत्कालोन समाज पर रानाडे का इतना अधिक प्रभाव था कि गवर्नर लार्ड रे ने निःसंकोच रूप से स्वीकार किया था। 'रानाडे मीन्स पब्लिक ओपीनियन' अर्थात् रानाडे प्रगतिवादी वर्ग के विचारों के प्रतिनिधि थे।

रानाडे जी ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में भारत का जैसा पथ-प्रदर्शन किया था, वह तो अविस्मरणीय है ही, साथ ही उनकी साहित्य-सेवा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारतीयों द्वारा लिखे गए उत्कृष्ट ग्रंथों को पुरस्कृत कराने के ध्येय से उन्होंने 'डेक्कन वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना की, तथा मराठी भाषा के विकास के लिए मराठी साहित्य सम्मेलन की नींव डाली। भारतीय अर्थशास्त्र सम्बन्धी कार्य, एवं आयोजन का प्रारम्भ भी उन्होंने ही किया। उन्होंने बंगाल के ब्रह्मोसमाज के अनुरूप ही प्रार्थना समाज की स्थापना की जिसके द्वारा धार्मिक विचारों का प्रचार करके सामाजिक परिषद तथा कतिपय अन्य संस्थाओं की स्थापना की गई। विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं की उच्च शिक्षा के लिए भी रानाडे ने पर्याप्त परिश्रम किया। उन्हीं की प्रेरणा से सन् १८७८ ई० में मराठी ग्रंथकारों के सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन हुआ। व्यायाम का प्रचार बढ़ाने के लिए उन्होंने क्रीडांगण नाम की संस्था स्थापित की। उन्होंने समाज-सुधार हेतु वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, विधवा विवाहोत्तेजक सभा प्रभृति दर्जनों संस्थाओं की नींव डाली जिन्होंने अत्यन्त सक्षम रूप से कार्य किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि महामति महादेव गोविन्द रानाडे ने राष्ट्रहित के किसी भी मार्ग को अछूता नहीं छोड़ा।

रानाडे द्वारा लिखित ग्रंथों में ऐतिहासिक दृष्टि से मराठों के प्रारम्भिक विकास एवं उत्कर्ष से सम्बन्धित 'राइज आव द मराठा पावर' (मराठा सत्ता का उत्कर्ष) सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जिसका अविरल अनुवाद पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। इस ग्रंथ की रचना में रानाडे का एक विशिष्ट उद्देश्य था और अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा प्रदर्शित मराठों के इतिहास के विकृत स्वरूप का सप्रमाण खण्डन। उनके समय में ग्रान्ट डफ द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आव द मराठाज' को ही मराठों का सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास माना जाता था परन्तु उक्त ग्रंथ में उक्त अंग्रेज इतिहासकार ने कुछ घटनाओं को ऐसे विकृत रूप में प्रस्तुत किया है जिनका निराकरण करना रानाडे ने आवश्यक समझा। उदाहरण के लिए ग्रान्ट डफ ने लिखा है कि मराठों की राज्य स्थापना का प्रयत्न अस्थाई बनकर

अथवा जंगल के दावानल के समान था जिसका न कोई विशिष्ट उद्देश्य था और न जिसमें कोई नैतिकता ही थी। रानाडे ने अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही ग्रान्ट डफ का मुँहतोड़ जवाब देते हुए सिद्ध कर दिया कि मराठों द्वारा हिन्दू राज्य की स्थापना किए जाने के प्रयत्नों के पीछे एक विशिष्ट उद्देश्य था जिसकी प्राप्ति में वे पूर्णरूपेण सफल भी हुए। उन्होंने यह लिखते हुए कि ढाई-तीन सौ वर्ष कोई भी बवण्डर या दावानल अपना प्रभाव बनाए रखने में समर्थ नहीं हो सकता; इस पुस्तक में स्पष्टतः बताया है कि मराठों द्वारा की गई क्रान्ति पूर्व नियोजित थी जिसकी पृष्टभूमि अनेक वर्षों से तैयार हो रही थी।

इस सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा। अंग्रेजी इतिहासकार ग्रान्ट डफ ने 'हिस्ट्री आव द मराठाज' में शिवाजी पर यह आरोप लगाया है कि उसने बीजापुर के सुल्तान द्वारा शान्तिवार्ता के लिए प्रेषित सरदार अफजल खाँ को छल और विश्वासघात करके मार डाला। यदुनाथ सरदार प्रभृति कुछ अन्य भारतीय इतिहासकारों ने भी ग्रान्ट डफ के स्वर में स्वर मिला रक्खा था, परन्तु रानाडे ने निर्भीकतापूर्वक, स्पष्ट रूप से लिख दिया था कि पहले अफजल खाँ ने ही शिवाजी पर आक्रमण किया था; उक्त सरदार द्वारा पहला वार किए जाने पर शिवाजी उसे मृत्यु का मार्ग दिखाने के लिए विवश हो गए। अब तो अनेक देशी-विदेशी इतिहासकार भी रानाडे के मत का समर्थन करने लगे हैं।

सम्पादकीय

इतिहास क्यों ? आज के युग में मानव की व्यस्तता सीमा पर पहुँच चुकी है, जो उसकी अत्यधिक बढ़ी हुई आवश्यकताओं की देन है। फिर भी मानव पढ़ता है, क्योंकि पढ़ना भी आवश्यकता है, मनस की भूख की तुष्टि का साधन है। इतिहास भी ज्ञान की एक शाखा है, महत्वपूर्ण शाखा। महत्वपूर्ण इसलिए कि साक्रेटीज के अनुसार 'ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है, अपना ज्ञान' अर्थात् स्वयं अपने को जानना। इतिहास एक साधन है अपने को ही जानने का। कहा गया है कि यह जानने के लिये कि हम क्या हैं हमें यह जानना चाहिये कि हम क्या रह चुके हैं। 'हम क्या रह चुके हैं' का ज्ञान देने का कार्य करता है 'इतिहास'। यही इतिहास की सार्थकता है।

बहुत से विद्वानों का विचार है कि मानव को समझने का मुख्य साधन यही है कि स्वयं अपने ही मनस पर अपने ही मनोवैज्ञानिक क्रिया कलापों पर विचार किया जाय। साक्रेटीज भी ऐसे ही विचारकों में था और इस पद्धति पर जीवन भर विचार करके वह केवल इतना ही जान पाया कि उसने कुछ नहीं जाना। इसका केवल एक ही कारण था कि साक्रेटीज की मूल विचार धारा ही त्रुटि पूर्ण थी। उसका प्रयास पुराकालीन उन विचारकों जैसा ही था जो पृथ्वी को अकेली करके देखते थे अर्थात् वे उसे सौर परिवार के एक सदस्य के रूप में मानकर उसका अध्ययन नहीं करते थे। आगे चलकर जब उन लोगों ने पृथ्वी को भी सौर मंडल के एक सदस्य के रूप में देखना शुरू किया तो अनेक गुत्थियां अपने आप ही सुलझ गयीं। वैसे ही मानव को अकेला मानकर जो प्राणी उसका अध्ययन करेगा, उसका निष्कर्ष सदैव ही भ्रान्तिपूर्ण होगा। मानव एक वर्ग का, एक जाति का सदस्य है। उसका अध्ययन करने के लिए उसे उस वर्ग, समाज, जाति के अंग के रूप में ही देखना पड़ेगा। संसार के इतिहास के अध्ययन ने या यों कहना अधिक ठीक होगा कि मानव जाति के इतिहास के अध्ययन ने एक भिन्न विचार प्रणाली को ही जन्म दे डाला है। जिन्हें पहले हम असभ्य बर्बर मानते थे। वहां हमारे बन्धु दिखायी देने लगे हैं। अपने तमाम गन्दे और घिनौने पृष्ठों के बावजूद भी इतिहास हमारे लिये उतनी ही पवित्र पुस्तक है जितनी पवित्र हम प्रकृति की पोथी को मानते हैं। हम मानते हैं कि न तो प्रकृति में और न ही इतिहास में विवेक हीनता है।

आप अपने ही द्वारा अपनी युवावस्था में लिखित प्रेमपत्र को प्रौढ़ावस्था में देखिये तो सहसा आप को विश्वास नहीं होगा कि आपने वास्तव में कभी पत्र में लिखित वेदनाओं को सहा है, उसमें भरी है। पढ़ते ही पढ़ते आप की युवावस्था धीरे-धीरे साकार हो उठती है और आप का अतीत ही वर्तमान बन जाता है। ठीक यही बात इतिहास के साथ भी घटित होती है, होनी ही चाहिए। हम जितना ही दत्तचित्त होकर पढ़ते हैं त्यों-त्यों हमारी भावनाएँ बदलती जाती हैं और इतिहास के चरित्रों की सफलताएँ, नाकामयाबियां, उनकी भूलें सब हमारी ही हो जाती हैं। बिना इस प्रकार की सहानुभूति के इतिहास मृत पत्रों का संग्रह मात्र हैं जिसे जला देना ही ठीक है। यदि ऐसी सहानुभूति जागृत हो जाय तो इतिहास केवल विद्वानों के लिये ही नहीं वरन् जन सामान्य के लिये भी रुचि-पूर्ण एवं उपदेश-प्रद बन जायगा। अस्तु।

हमारा देश प्राचीन है, हमारी जाति भी उतनी ही प्राचीन है। संसार हमारी जाति की बुराई करे, उसे मृत भी कहे, परन्तु हम जानते हैं कि जिस वृक्ष में नित नयी कोपलें फूटती हों उसे मुर्दा कहना अपने ही अज्ञान का ढिंढोरा पीटना है। जब तक यह जाति राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, पुरुषों को जन्म देती रहेगी वह जीवित है, किं बहुना युवा है।

मुसलमानों के लम्बे शासनकाल में भी शिवाजी को जन्म देकर एक बार भारत ने अपने को धन्य माना था। जेम्स ग्रान्ट डफ के मराठा इतिहास का अनुवाद करते समय मुझे अनेक बार ऐसा मालूम पड़ा कि यदि इसी विषय पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार न किया गया तो न मराठा लोगों के साथ न्याय होगा न शिवाजी के साथ और न ही भारत के साथ। डफ के मराठा इतिहास के मुद्रण के पूर्व ही श्रीयुत केलकर लिखित 'मराठे और अंग्रेज' इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद से छप चुकी थी जिसमें उत्तरकालीन मराठों एवं मराठा शासकों के प्रति पूर्ण न्याय हो चुका था। शेष रह गया था मराठों के उत्थान एवं विकास काल का विश्लेषण। इसके लिए मेरी इच्छा हुई कि जस्टिस रानाडे लिखित 'राइज ऐन्ड डेवलपमेंट आव मराठा पावर' यदि मिल सके तो उसका हिंदी संस्करण निकाला जाय। हिन्दी संस्करण केवल इसी लिये कि हमारे देश-वासियों को अब जितनी भी अधिक सामग्री अपनी भाषा में मिल सके उतना ही श्रेयस्कर है। पुस्तक भी मिली, अनुवाद भी हो गया; पर छापे कौन? अनुवाद प्रायः साल भर तक योंही पड़ा रहा। हारकर इस कार्य के लिए हमें एक स्वतंत्र प्रकाशन की ही व्यवस्था करनी पड़ी। परमादरणीय श्री गिरधर शुक्ल,

संस्थापक 'इतिहास प्रकाशन संस्थान' ने न केवल अपना आशीर्वाद ही दिया वरन् अपना नाम और अपनी साख भी। फलस्वरूप 'इतिहास प्रकाशन संस्थान वाराणसी की स्थापना हुई, जिसका शुभारम्भ हुआ। रानाडे की ही पुस्तक से। और अब पुस्तक आपके हाथ में ही है। यह क्या है। आप ही समझें।

जस्टिस रानाडे ने भी इस पुस्तक को प्रबन्ध रूप में उसी प्रकार की इच्छा से प्रेरित होकर लिखा था, जो डफ का अनुवाद करते समय मेरे मन में उठी थी। शायद इसीलिए इसके प्रकाशनार्थ इतनी व्याकुलता थी। प्रसन्नता है कि व्याकुलता फलीभूत हुई।

सम्पादन अनुभव के अभाव में त्रुटियां तो होनी ही थीं। सहृदय पाठक न केवल क्षमा करेंगे वरन् अपने सुझाओं से हमें दिशा भी प्रदान करेंगे, ऐसी ही आस्था के साथ यह पुस्तक प्रकाशित है। सहायकों को धन्यवाद मैं हृदय से ही दे रहा हूं तो कागज पर लिख कर उसका मूल्य कम क्यों करूँ?

ज्ञानार्थियों का चिरकृतज्ञ,
कमलाकर तिवारी
१२-१-६५

अनुक्रमणिका

मराठों का उत्कर्ष

प्रथम अध्याय

मराठा इतिहास के अध्ययन का महत्व

इस पुस्तक के मूल विषय का विवरण प्रस्तुत करने के पूर्व, संक्षिप्त रूप में, उस कथा के नैतिक महत्व का उल्लेख कर देना भी मेरी दृष्टि से अत्यन्त ही लाभदायक होगा, जिसका वर्णन करना इस पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य है। भारतवर्ष में ऐसे अनेक राजवंश हो चुके हैं, जिन्होंने काफी समय तक अपनी कीर्ति एवं प्रभाव को स्थायी रक्खा तथा जिनके उत्थान-पतन की कथा भी अत्यन्त ही रोचक है, परन्तु फिर भी उनकी तुलना में मराठा-संघ के उत्कर्ष की कथा को अधिक महत्व क्यों दिया जाना चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर भी आगे दिए जानेवाले वर्णन से प्राप्त हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। अनेक व्यक्ति इस मत के भी हो सकते हैं कि एक लुटेरी शक्ति के उत्थान-पतन की कथा में किसी विशेष नैतिक महत्व की खोज-बीन करना व्यर्थ है। उनके विचार से एक ऐसी शक्ति के इतिहासमें कोई नैतिक आदर्श मिल ही नहीं सकता, जिसके विकास की आधारशिला की लूट-मार एवं दुस्साहसिकता थी; और जो केवल इसलिए ही प्रभावशाली हो सकी, क्योंकि यह ऐसी शक्तियों में सर्वाधिक धूर्त थी और दुस्साहसी थी, जो औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् विशाल मुगल-सम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए कटिबद्ध हो गई थीं। उपरोक्त धारणा, समान्यतः पाठकों के अन्तस्थल में दृढ़तापूर्वक बैठ चुकी है; क्योंकि इस सम्बन्ध में उनके ज्ञान का एकमात्र स्रोत वे ही पुस्तके हैं, जो अंग्रेजी इतिहासकारों द्वारा लिखी गई हैं, जिनका दृष्टिकोण लगभग एकांगी है। यहाँ तक कि मराठा-इतिहास के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक माने जानेवाले मिस्टर ग्रान्ट डफ ने भी इसी विचारधारा का पक्ष ग्रहण किया है कि "महाराष्ट्र के हिन्दुओं की लूट-पाट की स्वाभाविक प्रवृत्ति, जो यद्यपि कुछ समय के लिए दब-सी गइ था —अपने भीतर की प्रकृति-

दत्त विशेषताओं को छिपाए हुए थी, जो मुसलमान विजेताओं की गर्वजनित असावधानी के कारण उसी प्रकार ज्वाला के रूप में तप्त हो उठी, जिस प्रकार कि सह्याद्रि की श्रेणियों में पायी जाने वाली घास प्रदाहित हो कर दावानल का रूप धारण कर लेती है; उस ज्वाला की चमक से दूर के क्षेत्रों के निवासी भी आश्चर्य-चकित हो उठे !" यदि पाठक इसी विचारधारा के इतिहासकारों की बातों को अधिक विश्वसनीय समझ लेते हैं, तो निःसंकोच रूप से यह कहा जा सकता है कि मराठों के उत्कर्ष की कथा में इस प्रकार के कोई भी आदर्श नहीं हैं, जिनमें सभी कालों के लिए उपयोगी, नैतिकता के उच्चस्तर की खोज की जा सके। परन्तु आगे के पृष्ठों में दिये जाने विवरण से, आशा की जाती है कि ऐसे आधार प्राप्त हो सकेंगे, जिनकी सहायता से आधुनिक इतिहास के भारतीय विद्यार्थियों को यह निष्कर्ष निकालने में सफलता मिल सकेगी कि इस प्रकार के दृष्टिकोण की संगति वास्तविक तथ्यों के साथ नहीं बैठती, और साथ ही यह जानकारी भी मिल सकेगी कि दृष्टि-कोण इतना भ्रमपूर्ण है कि सारी कथा ही अबुद्धिगम्य हो जाती है। ऐसे व्यक्ति, जो मराठा-संघ के निर्माण-कार्य में सहयोग देने वाले महान् मराठा नेताओं तथा मैसूर के हैदर अली तथा टीपू के उत्कर्ष या हैदराबाद के निजामुल मुल्क, अवध के शुजाउद्दौला, बंगाल के अलीवर्दी खाँ, पंजाब के सिक्ख राजा रणजीत सिंह अथवा भरत-पुर के जाट राजा सूरजमल के बीच कोई भी अन्तर नहीं ढूँढ़ पाते, कभी भी उस मापदण्ड या उच्च स्तर को ग्रहण कर सकने में सफल न होंगे, जिसके अनुसार इस इतिहास का अध्ययन किया जाना चाहिए; साथ ही वे उसी प्रकार मराठा-शक्ति के विकास की वास्त-विक प्रेरणाओं का ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहेंगे, जिस प्रकार कि वे विद्यार्थी, जो भारत में ब्रिटिश-राज्य की स्थापना का पूर्ण श्रेय देते हैं राबर्ट क्लाइव की साहसिक प्रवृत्ति को, या हेस्टिंगज की कूटनीति को, और यह भूल जाते हैं कि उन की साहसिकता एवं कूटनीति केवल इसलिए सफलता प्राप्त कर सकी कि उन की पीठ पर महान् ब्रिटिश साम्राज्य के दृढ़ निश्चय, धैर्य तथा संसाधनों का प्रेरणादायी हाथ रक्खा हुआ था। लुटेरे और दुस्साहसी कभी भी किसी साम्राज्य की स्थापना कर सकने में कभी सफल हुए हों,

ऐसा उदाहरण सम्भवतः किसी भी देश के इतिहास में न मिल सकेगा; और साम्राज्य भी ऐसा, जो कई पीढ़ियों तक स्थायी रहा तथा जिस में भारतीय प्रायद्वीप का राजनैतिक मानचित्र इच्छानुसार परिवर्तित कर सकने की सामर्थ्य थी। मराठा-संघ के नेताओं की तुलना मुगल-साम्राज्य के उन सूबेदारों से नहीं की जानी चाहिए, जो औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् स्वयं को स्वतंत्र घोषित करके अलग-अलग रियासतों के स्वामी बन बैठे थे। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि मराठा-राज्य के संस्थापक तथा उस के उत्तराधिकारियों को लगातार दो पीढ़ियों तक मुगलों के प्रबल एवं प्रत्यक्ष आक्रमणों का सामना केवल अपनी ही शक्ति के सहारे करना पड़ा था, और वह भी उस समय जबकि मुग़ल-साम्राज्य अपने उत्कर्ष की चरम-सीमा पर था।

ऊपर जिन साहसी सैनिकों—हैदर, टीपू, निज़ाम, शुजा-उद्दौला, अलीवर्दी खाँ, सूरजमल, रणजीत सिंह, आदि का उल्लेख किया गया है, वे किसी राष्ट्रीय चेतना के नेता के रूप में आगे नहीं बढ़े थे और न सामान्य जनता ने उन्हें अपना नेता ही चुना था; यह तो केवल उनके व्यक्तिगत कौशल तथा पुरुषार्थ का ही परिणाम था, जो वे सैनिक से सुलतान बन बैठे थे, और यही कारण था कि उन के द्वारा स्थापित राज्य भी उन की मृत्यु के पश्चात् विघटित हो गये। परन्तु जहाँ तक मराठा-इतिहास का प्रश्न है, समस्त तथ्य उपरोक्त विवरण के विपरीत जाते हैं। जैसे-जैसे एक पीढ़ी के वीर नेता संघर्षों में वीर गति प्राप्त करते रहे, नई पीढ़ी के प्रतिभाशाली युवक उन का स्थान लेने के लिए आगे आते रहे, और महान् नेताओं की यह शृंखला, एक दो नहीं, बल्कि पूरे दस पीढ़ियों तक भंग नहीं हुई। मराठा-संघ ने अपने समस्त विरोधियों को पीछे छोड़ कर केवल मराठा-राज्य को स्थायी ही नहीं बनाया, बल्कि समय-समय पर मराठा-राज्य के विनाश के लिये जो प्रयत्न किए गए, उनसे मराठों की शक्ति में वृद्धि ही हुई। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता था कि अब मराठा-सम्राज्य के विनाश में अधिक देर नहीं है; परन्तु इसी बीच कोई न कोई ऐसा महान् व्यक्तित्व अवश्य उभर आता था, जो बुझते हुए दीपक की लौ को

पुनः पूर्वाधिक तेजवान कर देता था। इस प्रकार मराठा-राज्य की तुलना ग्रीक माइथालोजी की फोनिक्स (Phonix) से की जा सकती है, जो अपनी राख से ही नया शरीर धारण कर लेती थी। मराठा-शक्ति के इस स्थायित्व से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस के उत्कर्ष की नींव में जो महान् और स्थायी महत्व के सिद्धान्त निहित थे, उनकी व्याख्या न तो लूटपाट, डकैती और साहसिकता के माप-दण्ड से की जा सकती है, और न ग्राण्ट डफ के आकस्मिक उत्कर्ष के सिद्धान्त से। इस अध्याय में, मराठा-शक्ति क उत्कर्ष का श्रेय किन बातों को दिया जा सकता है, हम इसी का अध्ययन करेंगे तथा देखेंगे कि किस प्रकार इस कथा में नैतिक आदर्शों का समावेश हुआ, जोकि इतिहास के विद्यार्थी के लिए स्थायी रुचि का विषय हैं।

१. सर्वप्रथम, इस तथ्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भारत के ब्रिटिश शासकों के पूर्व इस देश का शासन-भार पूर्ण रूप से मुसलमानों के हाथ में नहीं था, जैसाकि अधिकांश पाठकों की धारणा है। बल्कि अंग्रेजों से पूर्व इस विशाल देश के अधिकांश भागों में अनेक छोटी-बड़ी रियासतें बन चुकी थीं और उन में देशी नरेश राज्य कर रहे थे, जिन्होंने सफलतापूर्वक मुसलमानी शासन के जुए को उतार फेंका था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रान्ट डफ़ ने इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि मराठे "हमारी (अंग्रेजों की) भारत विजय के समय हमारे (अंग्रेजों के) प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे, जिन की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी, जब तक कि विख्यात साहसिक शिवाजी भोंसले का नेतृत्व उन्हें प्राप्त न हो गया", जिसके पश्चात उनके विकास की गति अत्यन्त तीव्र हो गयी। बंगाल और कारोमण्डल तट के शासकों को छोड़ कर, अन्य जिन शासकों से अंग्रेजों ने विभिन्न राज्यों को हस्तगत किया था, वे सब के सब हिन्दू थे, जिन्होंने अपने प्रयत्नों से मुस्लिम दासता की शृंखला को तोड़कर, स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की थी, केवक बंगाल में और कारोमण्डल तट पर मुसलमान सूबेदारों की सत्ता थी। उस समय के इन देशी शासकों की सूची में सर्वप्रथम स्थान मराठा-संघ के सदस्यों को दिया जाना चाहिए। मराठा-शक्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम पश्चिमी महाराष्ट्र से प्रारम्भ हुआ, परन्तु अत्यल्प काल में ही

दक्षिण का मध्य भाग, कर्नाटक और दक्षिणी भारत में स्थित तंजौर और मैसूर तक का समस्त भूभाग उनके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया। केवल दक्षिण में ही नहीं, मराठों ने शीघ्र ही उत्तर में भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया, और उन का राज्य-क्षेत्र गुजरात, काठियावाड़, बरार, मध्य-प्रदेश के कटक तक के क्षेत्र, मध्य भारत में मालवा, बुन्देलखण्ड, राजपूताना दिल्ली के साथ लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत, आगरा, दोआब और रूहेलखण्ड तक विस्तृत हो गया। मराठों ने बंगाल व अवध को भी अपने राज्य में मिलाने के लिए कई बार प्रयत्न किया, परन्तु ब्रिटिश सेनाओं के हस्तक्षेप के कारण वे सफल न हो सके। दिल्ली के मुगल सम्राट् की सत्ता नाममात्र को ही रह गई थी और लगभग पचास वर्षों तक उन का अस्तित्व मराठा-संघ के सदस्यों की कृपा पर ही आधारित रहा।

ऊपर दी हुई मराठा-साम्राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत स्थित सम्पूर्ण क्षेत्र विभिन्न हिन्दू सरदारों द्वारा शासित था, जो या तो प्रभावशाली मराठा-संघ के सदस्य थे, या पुराने राजा थे, जिन्होंने मराठा-संघ की अधीनता को स्वीकार कर लिया था और उन्हें कर देते थे। इस समय मुसलमानों की प्रबलता केवल दो ही केन्द्रों तक सीमित थी—हैदराबाद और मैसूर; परन्तु ये मुस्लिम रियासतें भी मराठों के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर नहीं थी। जिस संघ-शक्ति ने इतने विशाल क्षेत्र को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया और अपने अधिकार के अन्तर्गत स्थित समस्त क्षेत्रों को, एक शताब्दी से भी अधिक समय तक, अपनी असाधारण शक्ति से अपने अधिकार में बनाये रक्खा, उस की शक्ति के रहस्यों को जानकारी प्राप्त करना व भारत के वर्तमान ब्रिटिश शासकों के लिए अत्यन्त रोचक प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। मराठा-संघ का सर्वमान्य प्रधान था 'पेशवा'। वह सैनिक दृष्टि से केवल अपने ही राज्य-क्षेत्र का नेतृत्व ही नहीं करता था, बल्कि उस का प्रभाव, मुगल बादशाहों के सहकारी क रूप में सर्वत्र व्याप्त था; क्योंकि मुगल बादशाह प्रायः अपने ही महलों में बन्दी के रूप में रहते थे। मुगल सम्राट् अब केवल नाम का सम्राट् था, जो ताज वह अपने सिर पर रखता था, उसे पेशवा

के एक संकेत पर पैरों तले रौंदा जा सकता था, परन्तु ऐसा करना उन्होंने उचित नहीं समझा। इस प्रकार, प्रत्येक दृष्टि से, यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि जिस समय अंग्रेजों में साम्राज्य-स्थापना की लिप्सा जागृत हुई, उस समय बंगाल और मद्रास के तटों को छोड़कर, इस लम्बे-चौड़े देश के समग्र भू-भाग पर स्वतन्त्र देशीय शासकों का ही प्रभाव था, जो मराठा शक्ति-केन्द्र के द्वारा नियन्त्रित थे। मुसलमानों का प्रभाव समाप्त हो चला था तथा हिन्दुओं ने पुनः समस्त देश का शासन अपने स्वतन्त्र कन्धों में बाँट लिया था। वह देश के स्वतन्त्र शासक हो गये थे। इन्हीं स्थानीय शासकों से छलपूर्वक अंग्रेजों ने सत्ता छीन ली थी।

२. मराठों की इस विस्तृत सफलता का रहस्य क्या है? इसे जानने के लिये हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि मराठा-साम्राज्य के निर्माण का श्रेय किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। मराठा-साम्राज्य की सफलता पर किसी एक व्यक्ति का प्रभाव नहीं था। इस शक्ति का आधार महाराष्ट्र की जनता के हृदय में बहुत गहराई पर निर्मित किया गया था। प्रत्येक जन के हृदय में स्वाभिमान और राष्ट्रीयता का बीज बो दिया गया था। हम पहले ही कह चुके हैं कि मराठी सत्ता की तुलना बंगाल, कर्नाटक, अवध तथा हैदराबाद के सूबेदारों से नहीं की जा सकती; जिन्होंने अवसर पा, केन्द्रों को अक्षम समझ, स्वतन्त्रता ग्रहण कर ली तथा शासक बन बैठे। मराठा-साम्राज्य का निर्माण भावना के आधार पर अभियोजित-सा था। आरम्भ ही इसी भावना के साथ हुआ कि एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना हो। इस को हम राष्ट्रनिर्माण-विधि की संज्ञा बिना हिचक के दे सकते है। इस विशाल साम्राज्य को हम यह नहीं कह सकते कि यह किसी एक साहसिक योद्धा की सफलताओं का फल था। वास्तव में यह समस्त हिन्दू जनता के सम्मिलित प्रयास का फल था जो देश, जाति, धर्म तथा साहित्य के बन्धनों द्वारा एक-दूसरे से आबद्ध थी और जो अपने लिये अपनी राजनैतिक व्यवस्था का भी निर्माण करने को कृतसंकल्प थी। विदेशी मुसलमानों की विनाशक सफलताओं के पश्चात् भारत में—भारतीयों द्वारा प्रशासन या स्वराज्य का यह प्रथम प्रयास था। और प्रथम प्रयास होने के कारण ही इसमें कुछ

खामियाँ थीं अवश्य; परन्तु कुछ विशिष्टतायें भी थीं, जिन की तुलना में हम किसी भी पश्चिमी राष्ट्र को नहीं रख सकते। यह अवश्य है कि अपनी प्रशासनिक सुरक्षा के बारे में पश्चिमी राष्ट्र मराठों से आगे थे। परन्तु उन में तथा मराठों में एक अन्तर भी था। मराठा-साम्राज्य का निर्माण एक राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में था, उस आन्दोलन में समाज के किसी विशिष्ट अंग का हाथ नहीं था वरन् समाज के सभी वर्ग राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत, मुसलमान सत्ता को समाप्त कर हिन्दू सत्ता को स्थापित करने को कटिबद्ध थे। इस आन्दोलन को हम उच्चवर्गीय व्यक्तियों की क्षणिक योजना का परिणाम नहीं कह सकते, जैसाकि बहुधा साम्राज्यों के उत्थान-पतन के सम्बन्ध में होता है। इस आन्दोलन या देश-भक्ति को किसानों, गड़ेरियों, चरवाहों—यहाँ तक कि मुसलमानों ने भी अपना लिया था।

पश्चिमी लेखकों ने प्रायः ही भारतीयों की, उन की अचेतन राष्ट्रीयता के लिये, निन्दा की है। उन के मतानुसार भारतीयों को अपने राष्ट्र के लिये कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; परन्तु तब भी उन्होंने अपवाद-स्वरूप में ही, मराठों, क्षत्रिय राजपूतों तथा सिक्खों की राष्ट्रीय भावना को सत्य माना है; एवं उस का सम्मान किया है। परन्तु यहाँ हमें स्पष्टरूप से इन तीन जातियों की राष्ट्रीयता को परख लेना चाहिये। राजपूतों में राष्ट्रीयता व स्वधर्म व सम्मान की भावना कुछ प्रसिद्ध राजवंशीय परिवारों तक सीमित थी। सिक्खों की राष्ट्रीय भावना खालसा सैनिकों तक ही सीमित थी; परन्तु मराठों के सम्बन्ध में सत्य कुछ और ही है। यह सत्य है कि मराठों में भी जातियां की शृंखलायें थी तथा उन में भी नाना प्रकार के जातीय भेद व उपभेद थे। परन्तु यह विभाजन उनके सामाजिक जीवन व आपसी व्यवहार से ही सम्बन्धित था। जब उन के सामने कोई राजनैतिक समस्या आ जाती थी, तो वे अपने सामाजिक बन्धनों को शिथिल करके समस्या को सुलझाने को तत्पर हो जाते थे। मराठा-प्रदेश के अधिकांश जन प्रतिवर्ष छः महीने सेना में रहते तथा बाकी छः महीनों के लिए वे अपने गाँव लौट जाते, हल सम्भालते, खेती करते तथा अपने वतन का आनन्द उठाते।

अपने देश के साथ-साथ उन्हें अपने वतन या गाँव से भी उतना ही आत्मिक लगाव था। अपने गाँव के प्रति मराठा व्यक्ति की आसक्ति, मराठा चरित्र की एक अपनी विशिष्टता है। इस आसक्ति का प्रमाण यह है कि एक मराठा अपनी उपाधि या पदवी के रूप में 'पटेल' व 'देशमुख' को जागीरदार से अधिक अम्मानित समझता है। उन को अपने गाँव की साधारण-सी देशमुखी किसी दूरवाले स्थान की भारी जागीर की अपेक्षा अधिक प्रिय है। अगर हम उन की अपने वतन के प्रति इस आसक्ति को सही अर्थों में समझ सकें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि मराठों द्वारा राष्ट्र-निर्माण के प्रयास में उन को आशातीत सफलता क्यों प्राप्त हुई? उन की वतन के प्रति आसक्ति एक राष्ट्रीय धर्म के रूप में कैसे बदल गई? उन के वतन का दायरा इतना विस्तृत हो गया—परन्तु कैसे? इस सत्य को जानने के लिए मराठा-इतिहास को विशेष रूप से पढ़ना आवश्यक है। इसे हम मात्र मराठों का इतिहास कह कर विस्तृत नहीं कर सकते। इस से प्रत्येक भारतीय का सम्बन्ध है। वास्तव में यह भारतीयों द्वारा, मुसलमानों के अराजकतापूर्ण शासन को समाप्त कर, हिन्दू-साम्राज्य के निर्माण का प्रथम प्रयास था। उसी भावना ने हिन्दू सेनानियों के मस्तिष्क में यह बात रक्खी कि समस्त हिन्दू राजाओं को एक में मिला कर दिल्ली में एक पादशाही या साम्राज्य का निर्माण किया जाय। उन्होंने स्पष्टतः इस की सम्भावना को कल्पना की तथा उसके लिये उचित प्रयास भी किया। स्थानीय शक्तियों को एकसूत्र में पिरोने के प्रयास में वे सफल भी हुए। टीपू, हैदर अली तथा कर्नाटक, बंगाल, व अवध के शासकों ने इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना को कभी भी प्रोत्साहन नहीं दिया। उन की विजय को जनता ने अपनी विजय नहीं समझा। दूसरी तरफ शिवाजी महान् से सम्बधित इतिहास को सही रूप में समझने के लिये हम उसे मराठों का इतिहास कह कर पुकारते हैं। उनकी विजय व पराजय को हम सारी मराठा जाति की विजय व पराजय मानते हैं। दोनों विचारों की असमानता स्पष्ट है।

३. मराठा इतिहास का एक और रूप पश्चिमी लेखकों के सामने नहीं आ पाया है। कहना नहीं होगा कि यही रूप मराठा-इतिहास की नैतिकता को स्पष्ट करता है। महाराष्ट्र का यह राजनैतिक जागरण

विशुद्ध राजनैतिक ही नहीं था। सोलहवीं सदी के अन्त में तथा सतरहवीं सदी के प्रारम्भ में राजनैतिक जागरण की पृष्ठभूमि में सामाजिक क्रान्ति भी पनप रही थी। यह प्रसिद्ध विचार कि शिवाजी तथा उन के सहयोगियों को इस सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति से काफी सहायता मिली, पूर्णतः सत्य न होते हुए भी आंशिक रूप में सत्य था। इस विचार की पूर्ण सत्यता इसलिये प्रमाणित नहीं होती कि दक्षिणी मुसलमान शासकों में से एक भी धर्मान्ध नहीं था। ये मुसलमान शासक हिन्दुओं का सम्मान करते थे तथा उन्हें सम्मानित पदों पर नियुक्त करते थे; अतः इस परिस्थिति में हिन्दुओं की धार्मिक प्रतिक्रिया गम्भीर स्वरूप धारण ही कैसे कर सकती थी? औरंगजेब अवश्य कट्टर मुसलमान व धर्मान्ध प्रकृति का था, परन्तु उसकी धर्मान्धता को हम कभी भी इतना महत्व नहीं दे सकते कि उसने अपनी इसी धर्मान्धता के कारण मराठों जैसी शक्ति को पनपने का अवसर दिया, जो आजन्म उस की सेनाओं के सशक्त आक्रमणों को समान स्तर पर विफल करती रही और अन्त में विजयी भी हुई। सत्य तो यह है कि ठीक, जैसे पश्चिम में, सोलहवीं सदी में प्रटिस्टेन्टों द्वारा संचालित सुधार-अन्दोलन का सूत्रपात्र हुआ था—दक्षिणी भारत में भी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक जागरण हुआ। समाज के स्वरूप में क्रान्तिकारी सुधार किये गये। परन्तु ये सुधार प्रोटस्टेन्टों के पहले ही, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदी में, आरम्भ हो गये थे। इस काल के धार्मिक जागरण को हम कुछ मामलों में क्रान्तिकारी भी कह सकते हैं। यह धार्मिक जागरण अपनी प्रचलित लीक के विपरीत हुआ। उस जागरण में ब्राह्मण-वाद तथा अन्धविश्वास के लिये कोई स्थान नहीं था। हम इसे पूर्वप्रचलित धर्म का प्रबल विरोधक भी कह सकते हैं। जन्म से कोई किसी भी जाति का हो, उस को उस की प्रतिभा तथा योग्यता-नुसार सम्मान मिलना ही चाहिये, यह धीरे-धीरे सर्वमान्य सिद्धान्त-सा होता जा रहा था। उच्च-वर्गीय हिन्दुओं के मन में निम्न वर्गीय हिन्दुओं के लिए सद्भावना व प्रेम के भाव उदय हो रहे थे। इस धार्मिक सर्वोदय को कोई वर्ग विशेष नहीं संचालित कर रहा था। सारी जनता के समवेक प्रयास से ही धार्मिक अन्धविश्वासों को समाप्त किया जा रहा था। इस धार्मिक क्रान्ति के नेता के रूप में कई साधू, सन्त, उपदेशक, तथा दार्शनिक सामने आये। मजे की

बात तो यह है कि प्रायः ये सभी सम्मानित नायक समाज के निम्नवर्गीय परिवारों में पैदा हुए थे। इन ख्याति-प्राप्त महात्माओं में ब्राह्मणों से अधिक दर्जी, बढ़ई, माली, नाई यहाँ तक की कहार परिवार के व्यक्ति थे। इन क्रान्तिदूतों तथा धार्मिक नेताओं ने सन्त तुकाराम रामदास, वामन पण्डित तथा एकनाथ प्रमुख थे। इन की ख्याति आज भी लगभग ४ सौ वर्षों के बावजूद महाराष्ट्र के निवासियों में पूर्ववत् बनी हुई है। मराठा जनों के मस्तिष्क आज भी इन के उपदेशों से प्रभावित हैं। मराठा राजनैतिक नेताओं ने इन्हीं धार्मिक नेताओं के साथ अपनी प्रगति को सक्रिय रक्खा। शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु स्वामी रामदास थे, जिन्होंने अपने अनमोल उपदेशों से शिवाजी के अभियानों को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया। उन्हीं की सलाह से शिवाजी ने भगवे झण्डे को अपना राष्ट्रीय झण्डा निर्धारित कर अपनी राजनैतिक क्षमताओं को नया मोड़ दिया। इन्हीं उपदेशों के परिणामस्वरूप शिवाजी के रण-अभियान राष्ट्रीय अभियान के समान प्रतीत होने लगे थे। पेशवा बाजीराव प्रथम को अपने अभियानों की प्रेरणा द्वादसी के स्वामी से प्राप्त होती थी। विन्चरकर परिवार का अधिष्ठाता विट्ठल शिवदेव भी इसी प्रकार अपने गुरु से प्रेरणा पाता था। स्वयं शिवाजी को देवी भवानी से प्रेरणा प्राप्त होती थी। उन्होंने भारी से भारी विपत्तियों में अपनी इसी प्रेरणा का सहारा लिया। उन्हें देवी भवानी द्वारा प्रदत्त प्रेरणा से हमेशा लाभ हुआ। कर्नल मेडोस् टेलर ने अपने उपन्यास में शिवाजी का भवानी द्वारा प्रेरणा पाने का विवरण दिया है। अपने इस विवरण को पाठकों के सम्मुख रख कर उन्होंने उस सत्य का उद्घाटन कर दिया है, जिसे उनके देश के ही अन्य इतिहास-लेखक नहीं समझ सके। इन राजनैतिक नायकों के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तथ्यों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता इस लिये भी है कि इन सत्यों तथा प्रभावपूर्ण विश्वासों से मराठा जनजीवन आज भी प्रभावित है। प्रोटेस्टेन्टवाद ने सामाजिक व जन-स्वतन्त्रता के लिये जो सुविधायें पश्चिमी यूरोप के लिये प्राप्त की, उससे कुछ कम परिमाण में इस धार्मिक क्रान्ति ने भी पश्चिमी भारत में नव-जागरण का कार्य सम्पन्न किया। इस सर्वोदय का

प्रभाव निवासियों के धार्मिक बन्धनों में शिथिलता लाने में खूब सफल रहा। व्यक्ति अपनी जातिगत कमजोरियों को दूर करने में कृत-संकल्प होने लगा। उस की जातीय भावनायें तथा उस का साहित्य भी अप्रभावित न रहा। इसके सबसे महत्वपूर्ण परिणामों में से एक था—मराठों में आत्मविश्वास तथा सहनशीलता का अपूर्व उद्भव! ये परिणाम स्थानीय तथा विदेशी इतिहास के छात्रों के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।

४. मराठा-इतिहास का एक और तथ्य भी समान रूप से महत्व-पूर्ण है। इस तथ्य को हम मराठा-शक्ति की गहनतम निर्बलता तथा अधिकतम शक्ति के सोते रूप में पाठकों के सम्मुख रख सकते हैं। मराठों का इतिहास कई प्रभावशाली शक्तियों व राज्यों के इतिहास के रूप में है। इस संगठित मराठा-शक्ति का केन्द्र शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् हमेशा ही कमजोर रहा। यहाँ तक कि शिवाजी ने भी केन्द्रीय शक्ति को अत्यधिक शक्तिशाली नहीं होने दिया। वे स्वयं अपनी प्रशासन-व्यवस्था को किसी व्यक्तिविशेष के प्रभुत्व योग्य नहीं बना पाये। इस का प्रमुख कारण कदाचित यही था कि वे प्रशासन व्यवस्था के लिए अपने देश की पुरानी परम्पराओं से प्रभावित थे। इसी कारण उन्हों ने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था के लिए आठ मंत्रियों की एक मंत्रि-परिषद् की स्थापना की। इन्हें 'अष्टप्रधान' के नाम से पुकारा जाता था। इन मन्त्रियों की तुलना आधुनिक मंत्रियां से नहीं की जा सकती। इनका महत्व मात्र मंत्रि-परिषद् का सदस्य होने के नाते ही नहीं था। ये एक साथ प्रशासकीय तथा सैनिक नेतृत्व सम्भालते थे। इस शक्ति के विकेन्द्रीकरण के महत्व का परिचय हमें शिवाजी के युग से ही मिलता है। इसी विकेन्द्रित शासन-व्यवस्था का यह परिणाम था कि वे अपने दिल्ली के बन्दी-जीवन से मुक्ति पाते ही पुनः अपनी शक्ति को सुस्थिर करने में सफल हुए। इसके पश्चात् जब शिवाजी का पुत्र औरंगजेब के सेनापतियों के अधिकार में था, सभी मराठा सर्दार दक्षिण की ओर हट गये। परन्तु जैसे ही उन्हें उचित अवसर प्राप्त हुआ, आगे बढ़ कर उन्होंने औरंगजेब की समस्त योजनाओं को मिट्टी में मिला दिया। पेशवा के नेतृत्त्व में इसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न शक्ति के केन्द्रों की स्थापना हुई। इन शक्ति

के केन्द्रों पर प्रसिद्ध सर्दारों व अधिकारियों का अधिकार था। ये केन्द्र इन्दौर, ग्वालियर, धार, दिवास, व बड़ौदा में थे। मध्यभारत में बुन्देलखण्ड इन का केन्द्र हुआ। पटवर्धन बन्धुओं के अधीन उन का दक्षिणी क्षेत्र सशक्त हुआ। सतारा के जागीरदारों, भावे, रास्तोज, धौलप, आँग्रे, मांकर, महादिस, घोरपड़े परिवार तथा अनेकों अन्य सर्दारों द्वारा साम्राज्य की पूर्वी तथा दक्षिणी सीमा को सशक्त बनाया गया। यद्यपि साम्राज्य को शक्ति विकेन्द्रित थी, शक्ति व प्रशासन के अनेकों केन्द्र थे; परन्तु जब तक इन शक्ति के केन्द्रों को भावनात्मक तथा रचनात्मक एकता में बाँध रक्खा गया, इन की शक्ति अजेय रही। सफलता ने इनके कदम चूमे। इन केन्द्रों की एकसूत्रता तथा भावात्मक एकता प्रायः एक सदी तक बनी रही और इतिहास इस का प्रमाण है कि इस अवधि में भारी-से-भारी शक्तियों को मराठों के आगे झुकना पड़ा। यहाँ तक कि पूर्ण-नियोजित तथा अनुशासित ब्रिटिश सेनाओं को भी मराठों पर तभी जय मिली, जब उन का मराठों की एकसूत्रता को समाप्त करने में सफलता मिली। लगभग सौ वर्ष तक एक भी ऐसा अभियान नहीं हुआ, जिसमें मराठों ने मराठों का साथ छोड़ा हो। चाहे उन्हें उत्तर में लड़ना पड़ा या दक्षिण में; चाहे पूर्व में या पश्चिम में; चाहे उन्होंने राजपूतों से लोहा लिया हो, चाहे दिल्ली के बादशाह से या टीपू, हैदर, निज़ाम तथा रुहेलखण्ड, अवध व बंगाल के शासकों से, मराठों ने अपना एका नहीं समाप्त होने दिया। पुर्तगालियों व अंगरेजों से हुए अभियानों में भी मराठे अपनी इसी एकसूत्रता में सामने आये। पेशवा के अन्तर्गत इस प्रशासन-व्यवस्था को तुलना हम जर्मनी के प्रशियन शासन (Prussian) से कर सकते हैं। साम्राज्य का शीर्ष, शक्ति की अपेक्षा अपने विचारों से साम्राज्य के व्यक्तियों को प्रभावित करता था।

समय के व्यवधान के साथ पुरानी परम्पराओं की मान्यता भी कम हो गई। इस के परिणामस्वरूप रायगढ़, सतारा, विशालगढ़, जिंजी तथा पूना में मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों ने साम्राज्य की शक्तियों को प्रशासन की सुविधानुसार आदेश दिये। परिणामतः किसी एक शक्तिशाली नेता तथा शासक के अभाव में

भी मराठा-साम्राज्य पनपता रहा। हैदराबाद के दर्बार में नाना फड़नवीस की सरकार को 'बारह भाई का राज्य' के सम्बोधन से पुकारा गया था। इस कथन के अनुसार मराठा-साम्राज्य बारह मन्त्रियों या सर्दारों के समवेत प्रयत्न से प्रशासित होता था। यह उपमा एक दम सत्य है। जब तक बारह भाइयों की इस सरकार का सम्मान होता रहा, साम्राज्य की शक्ति अविचल रही। परन्तु जैसे ही उस का सम्मान कुछ कम हुआ, सामाज्य निर्बल होने लगा। उन की व्यक्तिगत शक्ति अविचलित होते भी उन का केन्द्र शक्तिहीन हो गया। अंगरेजों से यह कमजोरी छिपी न रह सकी। उन्होंने प्रत्येक शक्तिशाली सर्दारों को अलग-अलग अपने स्वार्थ परिपूर्ण आमन्त्रणों से आकर्षित किया। अंगरेजों के बहकावे में आ कर मराठों ने अपनी राष्ट्रीय एकता को खो दिया। भारतवर्ष में सहकारिता पर आधारित संयुक्त सरकार का प्रयोग इतने भारी परिणाम में इस से पहले कभी नहीं किया गया। न तो किसी हिन्दू नेता और न ही किसी मुसलमान विजेता ने इस प्रकार की संयुक्त सरकार बनाने का प्रयास किया था। संयुक्त-प्रशासन का यह प्रयोग असफल रहा। उस असफलता का मुख्य कारण यह था कि उस प्रकार की प्रशासकीय क्षमता शासन के प्रत्येक शीर्ष अधिकारियों में नहीं थी। अगर शीर्ष अधिकारी का पद उत्तराधिकार पर आधारित न हो कर योग्यता के आधार पर होता, तो यह प्रयोग अवश्य सफल होता। प्रशासकीय क्षमता के लिये आवश्यक गुण अनुवांशिक तो होते नहीं। जबकि पेशवा का पुत्र ही पेशवा नियुक्त किया जाय, यह आवश्यक था; फलतः परिणाम जो होना चाहिए, वही हुआ। जब तक आवश्यक प्रशासकीय क्षमता का अभाव नहीं हुआ, यह व्यवस्था फलती-फूलती रही। अभाव होते ही उसका पतन हो गया। इस प्रशासन के इतिहास में स्वयं इतना आकर्षण है कि हमें उस आकर्षण को ज्ञात करने के लिये मराठा-इहितास का अध्ययन करना ही पड़ता है। पाश्चात्य इतिहासकारों के आकर्षण का भी कारण यही तथ्य है।

५. मराठा इतिहास का नैतिक महत्व एक और कारण से बढ़ जाता है। अपने विकेन्द्रित प्रशासन के कारण ही मराठों को अपनी असफलताओं के बावजूद सफलता प्राप्त हुई। अपनी गम्भीर

राजनैतिक परिस्थितियों में उन्होंने अत्यन्त आसानी से अपनी स्थिति को स्थिर बनाय रक्खा। मराठा-साम्राज्य के इतिहास में चार बार कठिन राजनैतिक संकट उत्पन्न हुए :—

१. जब शिवाजी को दिल्ली में बन्दी बनाया गया।

२. जब सम्भाजी को मुगलों ने अपने अधिकार में कर लिया तथा राजाराम को दक्षिण की ओर भाग जाना पड़ा।

३. जब पानीपत के निर्णायक युद्ध ने मराठा-साम्राज्य के स्वप्नों को चूर-चूर कर दिया।

४. जब मन्त्रियों को नारायण राव पेशवा का हत्या के उपरान्त राघोबा को पेशवापद से अलग रख प्रशासन-कार्य सम्भालना पड़ा। उस अवसर पर स्वयं मन्त्रियों में दो गुट हो गये तथा इस के अतिरिक्त अंगरेज अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ मराठों के विरुद्ध थे।

इतिहास के छात्रों को उस देश के इतिहास का महत्व मानना ही पड़ेगा, जो अपने अल्पकाल के समय में ही चार-चार महानतम राष्ट्रीय संकटों पर विजय प्राप्त कर प्रत्येक बार पहले से अधिक सशक्त रूप में पुनः आ खड़ा हुआ। इस इतिहास को हम उस की आयु के आधार पर ही महत्वपूर्ण या महत्वहीन नहीं कह सकते, जैसा कि प्रायः ही साम्राज्यों के इतिहास के अध्ययन के महत्व निर्धारण के समय करते हैं।

६. अन्त में हम मराठों की वर्तमान स्थिति से अपने पाठकों को परिचित कराते हुए अपने तर्कों को प्रमाणित करने का प्रयास करेंगे। आज ब्रिटिश शक्ति प्रायः पेशवा के समान या दिल्ली के बादशाहों के समान है, जिसके अन्तर्गत सभी देशी राज्य अपनी सत्ता को बनाये हुए हैं। संयुक्त मराठा साम्राज्य के वंशज भी इन्हीं अंगरेजों के अधीन छोटे-छोटे राज्यों में बँटे हुए हैं। वे आज भी अंगरेजों के प्रशासकीय सहायकों के रूप में अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता बनाये हुए हैं। ये रजवाड़े ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, धार, दीवास तथा दक्षिणी मराठा सर्दारों के साथ ३० लाख मराठी जनता, जिसमें प्रेसीडेन्सी तथा मध्यभारत की भी मराठी जनता शामिल है, अंगरेजों के अन्तर्गत सर्वाधिक सशक्त और सहायक जाति के रूप में, अपनी

स्थिति को बनाये हुए हैं। ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत ये सभी मराठी राज्य तथा जनता अपनी एकता को अन्य देशीय रियासतों तथा राज्य की तुलना में कहीं अधिक सशक्त बनाये हुए हैं। इस वर्तमान का महत्व उन की समझ में अत्यन्त आसानी से आ सकता है, जिन्हों ने भारतवर्ष के भविष्य के रूप में एक स्वतन्त्र सशक्त राज्य की कल्पना की है, जिन्होंने यह सोचा है कि भारतवर्ष अपने विभिन्न राष्ट्रीयतावाले राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को पूर्ववत् बनाये हुए ब्रिटिश साम्राज्ञी की शक्ति की जगह अपना शक्ति केन्द्र-स्थापित करेगा।

मराठा-इतिहास के नैतिक महत्व को स्थायित्व प्रदान करनेवाले मुख्य तत्वों का वर्णन हमने कर दिया है। इन्हीं के सहारे हमें मराठा साम्राज्य के उत्थान तथा पतन की कहानी को लिखना है।

द्वितीय अध्याय

पृष्ठभूमि का निर्माण

मराठा-इतिहास के देशी व विदेशी लेखकों ने अपनी लेखनी से जिस महत्वपूर्ण विषय को महत्वहीन समझ कर भूल या गैर जिम्मेदाराना ढँग से लिख दिया है, वह है उनका यह भ्रामक विचार कि मराठों ने अचानक ही भाग्य से अवसर प्राप्त कर के अपने विशाल साम्राज्य का गठन कर लिया। मराठा-इतिहास के प्रति सर्वाधिक सहृदय कैप्टन ग्रान्टडफ ने भी मराठा-प्रसार की तुलना सह्याद्रि के जंगल में आग लगने से उत्पन्न भयानक रूप में फैलनेवाले अग्निकाण्ड से की है। हम उसे उन की अपरिक्वता से उत्पन्न भूल ही मानते हैं। कारण यदि मराठों ने प्राप्त अप्रत्याशित अवसर से अपना विस्तार किया होता, तो श्री डफ को अपने इतिहास के प्रथम तीन अध्यायों को मराठा इतिहास की पृष्ठिभूमि के रूप में लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। उन्होंने अपने इतिहास को शिवाजी के राजनैतिक काल से न शुरूकर उनके दादा परदादा से शुरू कर के स्वयं अपने कथन का उलंघन किया है। वास्तव में महान् शिवाजी के जन्म से सैकड़ों वर्षों भूत में घटित घटनाओं में श्री डफ ने मराठा साम्राज्य का आधार प्राप्त करने का प्रयास किया है; अतः यह विचार कि मराठों ने लगे हाथ बटेर मार लिया था, अत्यन्त निराधार है। वास्तव में भाग्य या अप्रत्याशित सहायक परिस्थितियों ने मराठों का साथ कभी नहीं दिया था। दिया भी तो नाम मात्र का। इस तथ्य को मान लेने के बाद हमें मराठा-विस्तार के कारणों को खोजने के लिये मुसलमानों की दक्षिण विजय से भी पूर्व के युग के इतिहास का अध्ययन करना चाहिये। महाराष्ट्र के प्राचीन इतिहास के लिये हमें ताम्र अभिलेखों तथा शिला-लेखों की सहायता लेनी पड़ेगी। इन अभिलेखों को भारतीय अन्वेषकों ने सर्वसाधारण के लिये उपलब्ध किया है, जिसे डा० भण्डारकर ने पाठकों के लिये संकलित किया है। अपने इतिहास के आधार की खोज के समय हमें दो प्रश्न हमेशा याद रखने हैं:—

१. मुसलमानी शासकों के जुये को अपने ऊपर से उतार फेंकने का प्रथम सफल प्रयास पश्चिमी भारत में ही क्यों हुआ ?

२. पश्चिमी भारत की प्रकृति, निवासियों की आदतों तथा उन की संस्थाओं ने किस परिस्थिति से प्रभावित हो मुसलमानी सत्ता को समाप्त करनेवाले नेताओं का स्वागत किया व अपने समवेत प्रयास के परिणाम-स्वरूप उनको सफलता प्रदान की ?

इस विषय में सबसे पहली बात यह है कि महाराष्ट्र को अपनी स्थिति, जलवायु तथा प्राकृतिक बनावट की विशिष्टता के कारण अनेकों वो सुविधायें प्राप्त हैं, जो गंगा, सिन्धु तथा हिन्द महासागर व अरब सागर में गिरनेवाली अन्य नदियों के किनारे रहनेवाले निवासियों को नहीं प्राप्त हैं। महाराष्ट्र प्रदेश की बनावट वहाँ की पहाड़ियों से विशेष प्रभावित है। इस प्रदेश को उत्तर से दक्षिण दिशा से सह्याद्रि की श्रेणियों ने घेर रक्खा है तथा पूर्व से पश्चिम दिशा का सतपुड़ा व विन्ध्य पहाड़ी-श्रेणियों ने आच्छादित कर रक्खा है। इन्हीं पहाड़ियों से संलग्न अन्य छिटपुट पहाड़ी श्रेणियाँ हैं, जिनके सोते छोटी-छोटी नदियों के रूप में बहते रहते हैं तथा अन्त में गोदावरी या कृष्णा में जा कर मिल जाते हैं। इन सब के कारण सारा प्रदेश एक उबड़-खाबड़, ऊँची-नीची पहाड़ियों से परिपूर्ण, आवागमन में कष्टकर, क्षेत्र के रूप में सामने आता है। इस की तुलना में हमारे देश का कोई अन्य प्रदेश नहीं खड़ा किया जा सकता। अगमनीयता इस प्रदेश की अपनी विशिष्टता है। भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र में कोंकण, घाट-माथा तथा देश आदि संलग्न है। कोंकण प्रदेश उत्तर से दक्षिण में फैली सह्याद्रि की श्रेणियों तथा समुद्र के बीच में फैले मैदान को कहते हैं। घाट-माथा इन पहाड़ी श्रेणियों के शिखरों पर फैले प्रदेश का नाम है। देश नदियों के किनारों की समतल भूमि को कहा जाता है। इस प्रदेश का राजनैतिक इतिहास घाट-माथा या पहाड़ी शिखरों पर निर्मित पहाड़ी किलों से प्रभावित होता रहा है। प्रकृति ने ही इन किलों को इतनी सुरक्षा प्रदान कर दी है, जिसके परिणाम-स्वरूप आक्रामकों को अत्यधिक परेशानियों का सामना करना पड़ा है। अपनी प्राकृतिक बनावट के साथ-साथ महाराष्ट्र को जलवायु भी उसी प्रकार की प्राप्त हुई है।

उन्हें न तो अत्यधिक गर्मी का सामना करना पड़ता है और न ही उत्तर भारतियों के समान कटु शीत का ही। भूमि स्वभाव से पहाड़ी होने के कारण उपजाऊ नहीं है, अतः स्वभावतः प्रदेश के वासियों को अपनी जीविका के लिये अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। इस विषय पर प्राचीन कहानियों की सत्यता भी प्रमाण है। वास्तव में प्रकृति ने सभी प्रदेशों को व निवासियों को समान रूप से सुविधायें प्रदान की है। यदि मैदानी इलाकों में अत्यधिक आसानी से जीविका के साधन जुटाये जा सकते हैं, तो नियमतः प्रकृति उन्हें उतनी सक्रियता व शक्ति नहीं देगी; जितनी पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों को स्वभावतः प्राप्त हैं। प्रकृति ने यदि किसी प्रदेश को किसी सुविधा से वंचित कर रक्खा है तो उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में उसे कुछ विशिष्टता भी प्रदान की है। महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति के उपयुक्त विवरण के पश्चात् पाठकों को इस प्रदेश के मानचित्र की रचना को समझने में सुविधा होगी। यह प्रदेश एक समकोण के समान है। इस त्रिभुज के आधार के रूप में हम दामन से ले कर करवार तक के समुद्री किनारे तथा सह्याद्रि की श्रेणियों की कल्पना कर सकते हैं। सतपुड़ा की पहाड़ियों में नागपुर के पूर्व, जहाँ गोदावरी अपनी सहायक नदियों के साथ बहती है, तक के हिस्से को हम इस त्रिभुज की लम्ब रेखा मान सकते हैं। लम्ब और आधार-रेखा को मिलानेवाले कर्ण के लिये हमें किसी पहाड़ी या किनारे की सुविधा प्राप्त नहीं है परन्तु कर्ण-रेखा को इस प्रदेश की बोली जाने वाली भाषा के माध्यम से हम सुविधापूर्वक खींच सकते हैं। अवश्य ही इसमें कुछ प्राकृतिक सुविधाएँ सम्मिलित हैं। उपर्युक्त पारिभाषित क्षेत्र का क्षेत्रफल एक लाख वर्गमील से अधिक है। इस की आबादी ३० लाख के समकक्ष है। उपयुक्त सुविधाओं से युक्त महाराष्ट्र प्रदेश की स्थिति उत्तर तथा दक्षिण के मार्ग में है, जिससे उसे अपने समकक्ष अन्य राज्यों मैसूर, मालवा, इत्यादि से अधिक प्रशासन की सुविधा प्राप्त है।

महाराष्ट्र की भौगोलिकता के पश्चात् इतिहास

इस प्रदेश का इतिहास भी प्रदेश की जनता से अत्यधिक प्रभावि होता रहा है। प्रदेश के निवासियों के चरित्र के आधार पर ही इस का गठन व विघटन होता रहा है। उत्तरी भारत पर आर्य तत्व सीमाधिक सफल रहा। आर्यों ने आते ही इस के

मूल निवासियों को पहाड़ियों की ओर भगा दिया और उस क्षेत्र पर अपना स्वत्व स्थापित कर लिया। परन्तु दक्षिण में आर्यों की एक न चली और द्रविड़ अपनी स्थिति को शक्तिशाली बनाये रखने में सफल रहे। परिणामतः उन पर आर्यों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। चूँकि महाराष्ट्र इन दोनों के बीच में पड़ता है, अतः इसके निवासियों में आर्य और द्रविड़ दोनों समान संख्या में हैं। उस प्रकार पास आने तथा निवास करने के कारण दोनों के विचारों, व्यवहारों तथा रहन सहन के ढँगों का भी आदान-प्रदान हुआ। परिणामस्वरूप उन्होंने एक-दूसरे के गुणों को सीखा; परन्तु बुराइयों को अपने प्रयोग में स्थान नहीं दिया। दो तत्वों का मिश्रण हमें इस प्रदेश की भाषा में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इन की भाषा का आधार है द्रविड़ भाषा; परन्तु उसका, विकास भाषा-प्रकाश का ढँग आर्यों का-सा है। उन की शारीरिक बनावट पर भी दोनों जातियों का समान असर पड़ा है। ये उत्तरी प्रदेश के निवासियों की अपेक्षा साँवले तथा दुबले-पतले हैं परन्तु द्रविड़ों के समान बेरुखे तथा काले नहीं हैं। दोनों जातियों के शारीरिक गुणों को उन्होंने अपना लिया है। आर्यों ने भी इस प्रदेश के पूर्ववर्त्ती निवासियों तथा सीथियन विजेताओं के वंशजों के गुणों को अर्जित किया तथा उनको अपने में मिलाने का भी प्रयास किया। इसी प्रकार द्रविड़ों में भी भील, कोली, रमोसी तथा अन्य निम्न वर्ग के लोग मिल गये। स्वयं इन निम्न वर्गवालों ने भी अपनी एक अलग स्थिति बनाये रक्खी है। ये न तो आर्यों में मिले हैं और न अन्य किसी के साथ।

जिस प्रकार सारे देश की मिश्रित जनता ने मिल कर इस प्रदेश में अपना निवास-स्थान बना लिया है, उसी प्रकार उन्होंने अपने अपने धार्मिक कृत्यों तथा समुदायों को भी सर्वग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। अन्य प्रदेशों की भाँति धार्मिक मतभेदों को महाराष्ट्र-वासियों ने प्रश्रय नहीं दिया है। इनके अन्य समुदायों की अपेक्षा इन के गाँव के संगठन का अध्ययन अधिक दिलचस्प तथा महत्व-पूर्ण है। इस की सुघड़ता तथा अस्तित्व-स्थिरता का इस से बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है! जिस विदेशी आक्रमण तथा प्रभाव में आ कर सारे देश की ग्रामीण प्रशासन-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त एवं नष्ट कर दिया, महाराष्ट्र की ग्रामीण प्रशासन संस्थाओं को वह कुछ भी प्रभावित न कर सका। आज भी ग्रामीण समाज अपने प्रशा-

सन के लिये अपनी पंचायतों के ऊपर निर्भर रह कर सरकार के प्रशासन-सम्बन्धी उच्चतम आदर्शों की रक्षा कर रहा है। वर्तमान शासन ने इन पंचायतों की प्रशासन-कुशलता से प्रभावित हो कर गुजरात तथा सिन्ध के गाँवों में भी कुछ परिमार्जन के साथ पंचायतों का निर्माण किया। इन प्रदेशों में मुसलमानों के आगमन के साथ ही पंचायतों का अस्तित्व समाप्त हो गया था। ग्रामीणों तथा पंचायतों के कुशल संगठन के अतिरिक्त यहाँ की रैयतवारी मीरासी-लगान-व्यवस्था ने भी गाँवों की स्थिरता को बनाये रखने में पर्याप्त सहायता की है। इस व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप छोटे-से-छोटा किसान भी अपनी अधिकृत जमीन लगान दे कर उसका स्वामित्व पा सकता है। वह अपनी जमीन के लिये सीधे राज्य के प्रति जिम्मेदार है। इस व्यवस्था के कारण यहाँ के किसानों के जीवन में काफी स्थिरता तथा स्वतन्त्रता का समावेश हो गया था, जिस का अभाव हमें सारे भारतवर्ष के किसानों के जीवन में देखने को मिलता है। लगान की उच्चस्तरीय व्यवस्था के लिये देशमुख व देश-पाण्डे नियुक्त थे। यह पद उत्तराधिकार के अधार पर था। देश के अन्य भागों में भी इस पद पर देशमुख तथा देशपाण्डे आदि नियुक्त थे (नाम उन का चाहे जो रहा हो); परन्तु महाराष्ट्र के देश-पाण्डे, देसाई तथा देशमुखों तथा अन्य प्रदेश के अधिकारियों में एक महान् अन्तर था। देश के अन्य भागों के इन अधिकारियों ने अवसर पाते ही अपने अधिकृत प्रदेश का विस्तार किया था। किसानों की राज्य के प्रति सीधे जिम्मेदारी को उन्होंने समाप्त कर दिया और राज्य के प्रति किसानों की ओर से वे स्वयं जिम्मे-दार हो गये। इस प्रकार वे स्वयं सारे गाँव या अपने अधिकृत क्षेत्र के मालिक बन बैठे। बंगाल के जमीन्दार व अवध के तालु-कदार इसी श्रेणी के अधिकारियों में से थे। इसके विपरीत महाराष्ट्र के देशमुखों ने, देसाइयों व देशपाण्डे लोगों ने अपने अधिकार को पूर्ववत् बनाये रक्खा।[1] न तो उन्होंने अपने अधिकार को विस्तृत

---

१. श्री डफ ने अपने इतिहास में लिखा है कि मराठे अपने पैतृक छोटे से देशमुखी या देशपाण्डे के पद के आगे दूर मिलनेवाली भारी जागीर को भी पसन्द नहीं करते; इससे उन की संतोष वृत्ति तथा देश-प्रियता का पता लगता है। —अनुवादक.

करने का प्रयास किया और न अपनी अधिकार-सीमा में किसी अन्य का हस्तक्षेप सहन किया । उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम भारत की ग्रामीण जातियों तथा महाराष्ट्र के निवासियों में भी समानता नहीं है। उत्तर व उत्तर-पश्चिम भारत के ग्रामीणों का अपनी सम्पत्ति पर सामूहिक रूप से अधिकार होता है; परन्तु महाराष्ट्र में व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वयं मालिक होता है। इसी कारण व्यक्ति-सम्पत्ति को वहाँ सामुहिक सम्पत्ति से अधिक प्रश्रय प्राप्त है। यहाँ भूमि के लगान-निर्धारण में सब को समान वरीयता दी गई है। लगान की समानता ने इसे प्रजातान्त्रिक गुण प्रदान कर दिया था। सारे देश में लगान की समानता का अभाव ही था; अतः हम समझ सकते हैं कि उन विशेषताओं से युक्त जाति ने एक-दूसरे के प्रति सहृदयता बनाये रक्खी और अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने का पूरा प्रयास जारी रक्खा, जिस की वजह से उन्हें हमेशा सम्मान और सफलता मिलती रही थी।

इस प्रदेश में रहनेवाले निवासियों ने अपने पूर्ववर्ती धर्म तक के रूप में परिवर्तन किया। उन्होंने शक्तितारिणी के अतिशयोक्तिपूर्ण आडम्बरों को त्याग दिया, जिनके कारण दक्षिणी द्रविड़ परित्राण थे। उत्तर-भारत की जाति व उपजाति के जटिल विभाजनों का रूप यहाँ वह नहीं था, जो तुंगभद्रा पार करते ही किसी यात्री को दिखाई पड़ने लगता है। उसे महाराष्ट्र तथा तुंगभद्रा पार के आचारों-व्यवहारों में जमीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उत्तरी आडम्बरों को महाराष्ट्र-निवासी कुछ भी महत्व नहीं देते। शैवों व वैष्णवों की धर्मान्धता का उदाहरण नहीं मिलता, जो उत्तरी प्रदेश में आम बात है। यद्यपि उन की स्थिति व सत्ता अवश्य ही एक में नहीं मिल गई थीं; परन्तु उन में एक दूसरी जाति के प्रति रहनेवाली कटुता का अभाव था। इस प्रकार सहन-शक्ति से युक्त वह प्रदेश शायद भारत का अकेला भाग था। ब्राह्मण, ब्राह्मणोत्तर तथा शुद्र जातियों ने अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कहीं अधिक समानता पर अपने संम्बन्धों को पुष्ट किया था। यहाँ पर गुरु, गोस्वामी महन्त, उपरोहित सभी को समान रूप से सम्मानित करके उनके प्रभावों

को समान रूप से ढोने की प्रवृत्ति का भी उन में स्पष्ट अभाव था। सच तो यह है कि वैष्णव सन्तों के प्रभाव में आ कर शुद्र कहे जानेवाले इन निवासियों ने पुराणों में वर्णित अपनी स्थिति से अपने को ऊपर उठा लिया है। शान्ति और युद्ध के कालों में उन्होंने अपने कार्यों के अनुसार क्षत्रिय व वश्यों के स्तर तक उठा लिया। शुद्र तो शूद्र, इनसे भी निम्न परिहारों तथा महारों तक के वंशजों मे से अनेक प्रदेश के सर्वमान्य सन्त हो गये हैं। इन शूद्र सन्तों का सम्मान सारी हिन्दू जाति, जिनमें ब्राह्मण भी सम्मिलित थे, समान रूप से करते थे। मजा तो यह है कि सारे विश्व में अपनी धर्मान्धता के लिए प्रसिद्ध मुसलमान भी इस प्रदेश में आते ही अपनी धर्मान्धता को भूल गये। स्वयं वे यहाँ के निवासियों से प्रभावित हो रहे। जहाँ से ही प्रदेश से उत्तर भारत का प्रभाव समाप्त होता है, उसी स्थल से हमें हिन्दुओं के त्यौहारों में मुसलमान समान रूप से दिखलाई पड़ने लगते हैं। मुसलमानों के उत्सवों में हिन्दुओं का अभाव नहीं खटकता प्रतीत होता। मुसलमान फकीरों में से अधिकांश को दोनों धर्मों की जनता समान मानती थी, उन की गणना अपने सन्तों की तुलना में करती। प्रतिरूप कई हिन्दू सन्तों को मुसलमान जनता अपने पीरों से अधिक सम्मान देती। पर धर्म-प्रियता तथा सुधार का यह भाव सदियों में पनपा। कहना नहीं होगा कि इन सुधारों तथा इस सहनशीलता के प्रभाव ही मनुष्य के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते हैं।

देश को वर्णित प्राकृतिक स्थिति तथा जनता के चरित्र ने प्रदेश के निवासियों को समाज के संगठन तथा आत्मस्वतन्त्रता के गुण में उस सीमा तक पारंगत बना दिया है, जहाँ पहुँचने के बाद कोई भी पराये शासन में अधिक काल तक रहने योग्य रह ही नहीं जाता। इसीलिये यहाँ कोई भी शासक, चाहे वह मुसलमान रहा हो चाहे हिन्दू, अपने प्रशासन को चिरायु न कर सका। हम उत्तर-भारत में, पूर्वांचल में तथा दक्षिणी प्रदेश में भी बड़े-बड़े सम्राटों के साम्राज्यों के इतिहास पढ़ते हैं, परन्तु महाराष्ट्र में इन का पूरा अभाव है। इस विषय पर यहाँ की जनता व्यक्तिवादी है। उन्हें व्यक्तिगत सत्ता, अधिकार तथा संपत्ति अधिक प्रिय है। अतः छोटे-छोटे राज्यों का

आधिक्य है। जब कभी उन्हें किसी केन्द्र के प्रशासन में विवशतावश रहना भी पड़ा है, तो उन्होंने उसे शीघ्र ही समाप्त कर देने का प्रयास किया है। व्यक्तिवादी भाव की प्रधानता होने पर भी उन्होंने बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध होनेवाले अभियानों में एक हो कर प्रदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा की है। ये आक्रमण प्रायः उत्तरी क्षेत्रों से हुए हैं। ईसाइयों की शताब्दी के आरम्भ काल के समय, शालिवाहन या शातवाहन नामक राजा को, किसी सीथियन आक्रामक को विफल कर देने के लिये यहाँ की जनता अब भी याद करती है। उसके प्रायः छः सौ वर्षों के पश्चात् प्रथम चालुक्य वंश के महान् स्थानीय शासक पुलकेशी ने किसी प्रकार के दूसरे प्रयास को विफल किया। इस प्रदेश के बारे में शिलालेखों तथा ताम्र-पत्रों से जिस इतिहास का पता चलता है, उससे प्रगट होता है कि यहाँ छोटे-छोटे सर्दारों तथा व्यक्तियों ने छोटे-छोटे रजवाड़े स्थापित कर रक्खे थे। शक्ति का संतुलन कभी नहीं सुधरा; शक्ति के नाम पर सत्ता एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र के आस-पास मँड़राती थी। तगारा, पैठन, बादामी, मालखेड़, गोआ, कोल्हापुर, सतारा, कल्याणी, देवगिरी तथा दौलताबाद, उत्तर तथा वर्तमान चालुक्य, राष्ट्र-कूट तथा यादव-वंश की राजधानियों के रूप में प्रसिद्धि पाती रही। चालुक्य, नालकड़ी, कादम्ब, मोरे, सिल्हर, अहीर तथा जाधवों के सर्दार प्रधानता के लिये आपस में प्रायः उलझे रहते, लड़ते रहते। प्रदेश की स्थिति चौदहवीं शताब्दी तक यही रही, जिसे मुसलमानों ने प्रभावित किया। उत्तर भारत पर पूरे दो सौ वर्ष शासन करने के पश्चात् मुसलमानों ने दक्षिण-विजय की। समतल मैदानों के हिन्दू शासकों को पूर्णतः पराजित करने में मुसलमानों को लगभग ३० वर्ष अनवरत श्रम करना पड़ा। जहाँ तक पश्चिमी महाराष्ट्र का प्रश्न है, मुसलमानों को मुँह फेर लेना पड़ा। कोंकण पर अधिकार करते-करते पन्द्रहवीं शताब्दी आधे से अधिक बीत गई। मावाल तथा घाटमाथा, मैदानी इलाकों पर मुसलमानों के प्रभुत्व की तुलना में, कभी भी विजित नहीं हुआ।

मुसलमानों के आगमन से प्रदेश का पहाड़ी भाग कुछ भी प्रभावित नहीं हुआ। उन के आने से इन पहाड़ियों में रहनेवाले

निवासियों के व्यवहार व आदतों में जो हल्का-सा परिवर्तन आया, वह इतना हल्का था कि उसको भाँपना आसान नहीं था। मुसलमानों की पहाड़ी स्थानों में निवास करनेवाली संख्या का भी यही हाल है। आज भी पहाड़ी स्थानों तथा पश्चिमी महाराष्ट्र में मुसलमानों की संख्या नगण्य ही है। इस ओर के निवासियों को पूर्णतः अपने अधिकार में लाने के प्रयास में मुसलमान असफल ही रहे। स्थानीय जनता को विवश कर देनेवाली शक्ति उन्हें कभी प्राप्त नहीं हो सकी। उत्तरी तथा पूर्वी भारत में भारी आबादीवाले नगरों में, जनप्रिय स्थानों पर ऊँची-ऊँची मीनारें, [मकबरों तथा मस्जिदों का ही दर्शन होता है। परन्तु हिन्दू मन्दिरों को किसी जनहीन स्थान पर बनवाने की अनुमति दी जाती थी, जहाँ वे चुपचाप, यूँ जैसे गुनाह कर रहे हों, अपनी पूजा-अर्चना करते। उत्तरी भारत में मुसलमानी भाषा तथा लिपि का निवासियों पर देशव्यापी प्रभाव पड़ा। घर-घर में उस का प्रचार हुआ। आधुनिक उर्दू का प्रचार इसी काल में हुआ। परन्तु महाराष्ट्र में मुसलमानी शासन के बावजूद उन के धार्मिक अनुष्ठानों तथा संस्कारों व उन की भाषा और धर्म में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

इस स्थल पर यह बताना असंगत नहीं होगा कि किन कारणा से धीरे धीरे दक्षिण के मुसलमान शासकों की शक्ति क्षीण होने लगी तथा उन्हीं के अधीन हिन्दू सर्दारों की शक्ति व प्रभाव बढ़ता गया। कुछ ही समय में दक्षिण के मुसलमान शासक स्वयं अपने हिन्दू सर्दारों के ऊपर आश्रित हो रहे। संक्षेप में वे कारण निम्न हैं :—

(१) प्रथम तो मुसलमान शासक अपने शक्ति-स्रोत, उत्तर-पश्चिमी सरहद से काफी दूर जा पड़े थे ; अतः उन को अपनी सेना में नये मुसलमानों की भर्ती की सुविधा नहीं थी। हम देखते हैं कि दिल्ली का शासन अफगानों, गिलचिशों, तुर्कों, उसबेगनों तथा मुगल विजेताओं द्वारा विजित होता रहा। इन सभी विजेताओं ने अपने धर्म इस्लाम के महत्व को पूर्ववत् बनाये रक्खा। परन्तु दक्षिण में इस प्रकार के नये विजेताओं का पूर्ण अभाव रहा, अतः वातावरण-इस्लामी प्रभाव में

पूर्णतः कभी नहीं आ सका। इसके अतिरिक्त दक्षिणी शासकों ने नियम-पूर्वक तुर्ग, पर्शियन तथा अबीसीनीयन साहसिकों को अपनी सेना में कभी भी भर्ती नहीं किया।

(२) बहमिनी वंश का संस्थापक वास्तव में दिल्ली-निवासी गंगू नामक एक ब्राह्मण का खरीदा हुआ गुलाम था। ब्राह्मण ने ही उसके द्वारा एक शासन-स्थापन की भविष्यवाणी की थी। हसन नाम के इस गुलाम ने पीछे अपना राज्य स्थापित किया। अपने ब्राह्मण मालिक के नाम पर उसने अपने राज्य को बहमनी राज्य की संज्ञा दी तथा स्वयं अपना नाम हसन गंगू बहमिनी रक्खा। इसी घटना से दक्षिणी मुसलमानों के उपर हिन्दुओं का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी मुसलमानों का अन्तर भी इसी से स्पष्ट हो उठता है। यही नहीं, हसन ने गंगू को दिल्ली से वापस बुला लिया तथा अपने साम्राज्य के अर्थ-विभाग के प्रधान-पद पर नियुक्त किया।

(३) अर्थ-विभाग के हिन्दू-प्रबन्ध के कारण ही सारा लगान-वसूली का कार्य दिल्ली-निवासी ब्राह्मण तथा खत्रियों के हाथ में आ गया। धीरे-धीरे दक्षिणी ब्राह्मणों तथा प्रभुओं को भी इन कार्यों के लिये नियुक्ति मिली।

(४) सिर्फ लगान-वसूली का कार्य ही हिन्दू प्रबन्ध में रहा हो, यह बात नहीं थी। बहमिनी-शासन के बाद निर्मित पाँचों राज्यों, बीजापुर बरार, अहमदनगर, बीदर तथा गोलकुण्डा की रियासतों या राज्यों में आय-व्यय का हिसाब-किताब वहाँ की स्थानीय भाषा तथा लिपी में रक्खा जाता था। फारसी या किसी अन्य विदेशी लिपि का यहाँ पूर्णतः बहिष्कार किया गया था।

(५) इस के अतिरिक्त भी दक्षिणी मुसलमानों पर हिन्दू-प्रभाव का एक कारण था। सन् १३४७ में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध दक्षिणी क्रान्ति की योजना यद्यपि मुसलमान नेताओं द्वारा बनाई गई थी; परन्तु सफलता का सारा श्रेय हिन्दू सरदारों तथा तेलंगाना व विजयनगर के हिन्दू शासकों के कारण ही उन्हें प्राप्त हुआ। तेलंगाना के हिन्दू शासन को बहमिनी शासकों ने समाप्त करने में सफलता प्राप्त

की थी; परन्तु विजयनगर का शासन काफी शक्तिशाली था; अतः अगली दो शताब्दियों तक वह अविजित रहा। सन् १५६४ में तालीकोट में उपर्युक्त पाँचों मुसलमान शासकों की सम्मिलित सेनाओं के आ जाने से उस का पतन हुआ। इसके पूर्व तो गोलकुण्डा तथा अहमदनगर की संयुक्त सेना को भी विजयनगरसे परास्त होना पड़ा था। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे शान्तिकालीन समय रहा हो या युद्धकालीन, इस हिन्दू राज्य ने मुसलमान शासकों की राज्यलक्ष्मी को प्रभावित किये रक्खा। उनके भाग्य से विजयनगर का प्रशासन अदलता-बदलाता रहता था। बहमिनी वंश के तीसरे शासक को विजयनगर ने अपने साथ सन्धि करने को विवश किया। इस सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गये थे कि भविष्य में होनेवाली लड़ाइयों के दौरान में उनकी सेनायें सिर्फ सेनाओं से लड़ेंगी तथा निरस्त्र जनता को परेशान नहीं करेंगी। दोनो पक्षों ने प्रायः सौ वर्षों तक इसी सन्धि के अनुसार आचरण किया।

(६) चूँकि दक्षिण में हिन्दू तथा मुसलमानों का संतुलन हमेशा समान रहा; इसलिये हमें दक्षिणी मुसलमान शासकों द्वारा किये गये किसी धर्मान्धतापूर्ण कार्यों की अतिशयोक्तिता के विवरण नहीं प्राप्त होते। उत्तरी शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जनता के कष्टों को यहाँ की जनता जानती भी नहीं थी। विदेशी विजेताओं के मान्य आचरणों से यहाँ की जनता अपरिचित ही रही। जब मुसलमानी सेनाएँ अपने अधिकारियों व शासकों से असन्तुष्ट हो जाती थीं, तो वह बिना किसी परेशानी के विजयनगर की सेनाओं में शामिल हो जाती थीं। इसके ठीक विपरीत मराठी सिलेदार तथा बरजीर सैनिक स्वतन्त्रता-पूर्वक मुसलमानी शासकों की सेना में भर्ती होते रहते थे। मुसलमान शासक उन का विश्वास भी करते थे। द्वितीय बहमिनी शासक ने अपने अंगरक्षक के रूप में २०० सिलेदार सैनिकों को नियुक्त। उन के संसर्ग में आ कर मराठों को सैनिक शिक्षा, अन्य प्रकार का ज्ञान तथा आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त हुई। इसी विकासात्मक परिस्थिति या वातावरण का परिणाम था कि सोलहवीं सदी में घटगे, घोड़पड़े, जाधव, माने, निम्बालकर, डफ्ले, शिन्दे, मोरे, इत्यादि वंशों में अनेकों प्रसिद्ध सेनापति हुए। इन सेनापतियों को दस हजार से बीस हजार तक के मन्सबों पर क्रान्नियु

किया गया था। अपने इन्हीं मन्सबों के अनुरूप उन्हें उनके सम्मान-जनक जागीरें प्राप्त थीं। शासक भी अपने ही धर्म के अन्य विदेशी सैनिकों,जैसे अबीसीनियन, तुर्क, पर्शियन तथा मुगल सैनिकों से मराठों का अधिक विश्वास करते थे। मराठे थे भी उन के सहायक। कारण, विदेशी सैनिक जितनी सहायता करते थे, उससे अधिक प्रशासनिक कार्यों में बाधक होते थे। उसी कारण अवधियों के व्यावधान में मुसलमान शासक मराठी सिलेदार सैनिकों के ऊपर अधिक निर्भर होते गये।

(७) मुसलमानी शासकों ने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी हिन्दुओं को स्थान दिया। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों को अपने हरम में स्थान दिया। सातवें बहमिनी शासक ने अपना सम्बन्ध विजयनगर के राजवंश से स्थापित किया था। इसी वंश के नवें शासक ने सिन्दखेड़ की राजकन्या के साथ अपना विवाह किया। बीजापुर के यूसुफ आदिल शाह ने भी मुकुन्दराव नामक ब्राह्मण की बहन से अपना विवाह किया था। यही ब्राह्मण-कन्या आगे चलकर उस की मुख्य बेगम बनी। उसे लोग बूब्बूजी खानम के नाम से पुकारते थे। उस के पुत्रों ने यूसुफ के बाद शासन-भार सम्भाला। बहमिनी प्रशासन के अन्तर्गत ख्याति-प्राप्त सर्दार सावजी की पुत्री से बोदरशाही के प्रथम शासक ने अपने पुत्र का विवाह किया।

(८) हिन्दुओं द्वारा हुए धार्मिक-परिवर्तन का भी प्रभाव इस हिन्दू-मुस्लिम एकता पर पड़ा। अहमदनगर का प्रथम शासक बरार के पत्री नामक स्थान के निवासी एक ब्राह्मण कुलकर्णी का पुत्र था,जो पीछे अपना धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान हो गया था। इस परिवार के लोग विजयनगर की सेवा में नियुक्त थे। इस वंश के शासकों ने अपने पूर्व धर्म के प्रति अपनी सहृदयता रक्खी। उन्होंने अपने प्रशासन को अपने पूर्व के जातिगत उपनाम 'भैरव' को आधार बना कर 'बहेरी' वंश की संज्ञा दी। उन्होंने अपने उद्भव को प्रत्येक पल याद रक्खा। प्रमाण के लिए उन्होंने बरारके शासकों से लड़कर तथा अपनी जन्मभूमि को उनसे छीनकर पत्री-निवासी ब्राह्मण कुलकर्णी लोगों को दानकर दिया। बरार का प्रथम इम्मदशाही प्रशासन का संस्थापक भी एक ब्राह्मण का पुत्र था। यह ब्राह्मण विजयनगर की सेवा में था। किसी युद्ध के दौरान

में उसे युद्ध-बन्दी बना कर मुसलमान बना लिया गया था। इसी प्रकार बरीदशाही वंश के बीदर शासक को उसके मराठे सैनिक इतना अधिक प्यार करते थे कि उस के एक इशारे पर वे समस्त मराठे मुसलमान बन गये और अन्त तक अपने प्रिय शासक के विश्वासपात्र बने रहे।

(९) इन्हीं अनेकों प्रभावों से हिन्दुओं के हाथ में एक ऐसी शक्ति आ गई, जिस के कारण दक्षिणी मुसलमानों ने वहाँ के हिन्दुओं पर अपनी पाशविक शक्ति के प्रदर्शन की न तो कोशिश की और न ही उन्हें उस का अवसर मिला। यद्यपि यदा-कदा मतभेद होते थे; जिससे मुसलमान शासकों की हिंसावृत्ति जाग पड़ती थी। परन्तु प्रत्येक ऐसे अवसर पर मुसलमान शासकों ने भारी सहनशीलता का परिचय दिया और धीरे-धीरे, क्रमशः प्रशासनिक तथा सैनिक महत्व के पद, हिन्दू सर्दारों के हाथ में आते गये, जिस से उन की शक्ति का विकास होता गया। परिणामस्वरूप हिन्दू सर्दारों को इनामी जागीरें, हिन्दू मन्दिरों तथा स्मृति-प्रतीकों के लिए जमीनें तथा ब्राह्मण समुदायों को अनुदान स्वीकृत किये गये थे। अनुदान अल्प-समयी तथा दीर्घकालीन हुआ करते थे। हिन्दू चिकित्सकों भी सरकारी हास्पिटलों या चिकित्सालय के प्रधान पद पर नियुक्त किये जाते थे। सोलहवीं सदी के मध्य के आस-पास मुरार राव नामक एक मराठा गोलकुण्डा राज्य का मुख्य-मंत्री था। मदन पण्डित नामक एक अन्य मराठा आखिरी गोलकुण्डा शासक के यहाँ मन्त्री था। उसने गोलकुण्डा के शासक तथा शिवाजी को मुगलों के विरुद्ध-सूत्रबद्ध कर दिया था। गोलकुण्डा प्रशासन में राजराय नामक वंश भी काफी ख्याति-प्राप्त समझा जाता था। ब्राह्मण देशपाण्डों तथा मराठा देशमुखों व देसाइयों को लगान-वसूली के महत्वपूर्ण अधिकार सौंपे गये थे। बीजापुर-प्रशासन के अन्तर्गत दादापन्त नरसू काली तथा यगू पण्डितने अपने लगान-सम्बन्धी सुधारों को लागू किया तथा ख्याति अर्जित की। अहमदनगरके शासकों ने गुजरात तथा मालवा में ब्राह्मण राजदूतों की नियुक्तियाँ की थी। इसी प्रकार पेशवा के एक ब्राह्मण मंत्री को अहमदनगर के बुरानशाह प्रथम के दरबार में सभी प्रकार की प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदान की गयी थीं। प्रायः इसी समय यगू पण्डित को बोजापुर शासक ने मुस्तफा का पद प्रदान किया था। इसी प्रकार गोलकुण्डा में अकन्ना तथा मकन्ना

नामक दो भाइयों को अपार शक्ति प्राप्त हुई। उन की शक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जब मुगलों ने बीजापुर को आक्रान्त करने का प्रयास किया,तो उसने इन्हीं दोनों भाइयों से सहायता की याचना की।

(१०) सैनिक प्रशासन में भी ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, हिन्दुओं का महत्व बढ़ता ही गया। 'फरिश्ता' के अनुसार बहमिनी-वंश के शासकों द्वारा नियुक्त हिन्दू मन्सबदारों में कामराज, घाटगे, एवं हर नायक को विशिष्ठ स्थान प्रदान किये गये थे। द्वितीय बहमिनी शासक ने अपने अंगरक्षकों के रूप में २०० मराठा सिलेदारों को नियुक्त किया था। सोलहवीं सदी के प्रथम चरण में बाघोजी जगदेवराव नायक ने गोलकुण्डा, बरार व विजयनगर दरबार में घटित घटनाओं में विशिष्ट योगदान दिया था। वह राजाओं को बनाता, बिगाड़ता था, कारण नायकवाड़ी की सम्पूर्ण हिन्दू सेना उसके अधिकार में थी। वह हर मामले में स्वतन्त्र नरेशोंका-सा आचरण करता था। हम यूँ भी कह सकते हैं कि वह राजा की उपाधि धारण किये बिना ही राजा था। सत्रहवीं सदी के प्रथम चरण में प्रसिद्ध मुरार राव जगदेव ने बीजापुर-प्रशासन में अपनी असाधारण स्थिति बना ली थी। उसने मुगलों के आक्रमणों को सफलतापूर्वक विफल भी किया था। मुरार राव तथा शाहजी भोंसले क्रमशः बीजापुर तथा अहमदनगर की शक्तियों के प्रमुख संचालक थे। मुरार राव के पश्चात् राज्य में घटित घटनाओं को तीन अन्य मराठा सर्दारों ने प्रभावित किया। इन सर्दारो के नाम क्रमशः राघोपन्त, भोंसले सर्दार तथा एक घाटगे सर्दार था। मुरार राव के निरीक्षण में ही चन्दरराव मोरे तथा राजाराव ने कोंकण में नियमित होनेवाले युद्धों में अत्यधिक विशिष्टता प्राप्त कर ली थी। माने, महास्वद वाड़ी के सावन्त, डफ्ले तथा घोड़पड़े वंश, इसी समय के आस-पास, अपनी विशिष्टताओं को स्थिर करने में कृतसंकल्प हुए। इन्होंने अपने प्रभाव से अधिक शक्ति को अर्जित किया।

मि० ग्रान्ट डफ ने शिवाजी के जन्म से पहले ही, उन के पिता व परदादा मालोजी भोंसले के पहले ही, आठ ख्यातिप्राप्त शक्ति-सम्पन्न

मराठा सर्दारों का विवरण दिया है। इन में सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त मराठा व वंशों में सिन्दखेड़ जाधव थे। ये अपने को देवगिरि के राजवंश से सम्बन्धित बताते थे, जिन्हें अलाउद्दीन खिलजी ने विनष्ट कर दिया था। लाखोजी जाधव की विशिष्टता उसी से स्पष्ट हो जाती है कि जब भी दिल्ली के सम्राटों ने दक्षिण-विजय करनी होती, वे उनसे सहायता प्राप्त करने का प्रयास अवश्य करते थे। फाल्टन (Falton) के निम्बालकर भी इसी प्रकार के विशिष्ट सर्दारों में से थे। मालवाड़ी के घाटगे जंजाराव का परिवार भी बीजापुर प्रशासन के अन्तर्गत अत्यन्त ख्याति-प्राप्त था। कोंकण तथा घाटमाथा क्षेत्र के सिरके, मोरे तथा महादिक एवं छोटे (निचले) मालवा-प्रदेश में गूजर तथा मोहिते-वंश में अनेकों महान् सेनापति थे, जिन्हें दस हजार से बीस हजार तक घोड़ों का मन्सब प्रदान किया गया था। भोंसले-परिवार की श्रीवृद्धि सत्रहवीं सदी के आरम्भ काल में जाधवों तथा निम्बालकर परिवार से सम्बन्धित होने के साथ-साथ बढ़ी। शाहजी की माँ जाधव-वंश की थी तथा शिवाजी की धर्मपत्नी निम्बालकर-वंश की कन्या थी। इस परिवार के प्रमुख संस्थापक मालोजी भोंसले थे तथा इस वंश को प्रथम स्तर तक उठाने का कार्य शाहजी भोंसले द्वारा सम्पादित हुआ। वास्तव में शाहजी के अन्दर शासनों व शासकों को बनाने-बिगाड़ने की क्षमता था। निजाम शाही नरेशों की राजधानी पर मुगलों की दोबारा विजय के पश्चात् भी उन्होंने निजामशाही की ओर से मुगलों का प्रतिरोध किया।

सत्रहवीं शताब्दी के पदार्पण के साथ ही राजनीति का चक्र जिस शीघ्रता के साथ प्रभावित हुआ, उसके परिणामस्वरूप गोलकुण्डा, बीजापुर तथा अहमदनगर के मुसलमान शासक नाममात्र के शासक रह गये। वास्तविक सत्ता–सैनिक तथा प्रशासकीय—दोनों ही हिन्दुओं के हाथों में आ गई। घाटमाथा, आदि पहाड़ी स्थानों के किले, प्रायः सब के सब, हिन्दू जागीरदारों के हाथों में थे, जो अपने को मुसलमान शासकों के अधीन नाममात्र को ही समझते थे तथा प्रायः ही स्वतन्त्र शासकोंका-सा आचरण करते थे।

जिस समय, इस प्रकार मराठों में, शनैः-शनैः राजनैतिक चेतना जागृत हो रही थी और वे कुछ सीमा तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता

की स्थापना के प्रयत्नों में व्यस्त थे, लगभग उसी समय, मुगल बादशाहों की लोलुप दृष्टि दक्षिण पर पड़ी, और अकबर से ले कर औरंगजेब तक, प्रत्येक मुगल बादशाह ने एक बार पुनः नर्मदा और ताप्ती नदियों के दक्षिण-स्थित क्षेत्रों को मुगल-साम्राज्य में मिला लेने की योजना बनाई, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने दक्षिण पर अनेक आक्रमण किए। अपनी प्रथम गौरव-पूर्ण विजय के पश्चात् ही हिन्दुओं में पर्याप्त उत्साह जाग्रत हो चुका और वे स्वयं को शीघ्र ही एक स्वतन्त्र सत्ता का स्वामी बना देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठे थे। ऐसी स्थिति में यदि मुगल बादशाहों को दक्षिण पर किये गये आक्रमणों में कहीं सफलता प्राप्त हो गई होती, तो हिन्दुओं का यह पुनर्जागरण पुनः दो-तीन शताब्दी पीछे रह जाता, और मराठों का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। अस्तु मुगल सम्राटों की, दक्षिण में अपना साम्राज्य-विस्तार करने की लालसा, एवं उन के तत्सम्बन्धित प्रयत्न अत्यन्त प्रबल थे, और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दिल्ली-साम्राज्य (दरबार) के समस्त ससांधनों एवं स्रोतों का प्रयोग किया गया था। मुगल सम्राटों की साम्राज्य-लिप्सा से केवल उभरते हुए मराठा सरदारों एवं सामन्तों को ही खतरा नहीं था, बल्कि दक्षिण के मुसलमान शासकों को भी प्रबल-शक्ति से लोहा लेने में अपना भविष्यगत पराभव ही दिखाई पड़ता था। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, मराठों के हाथों में धीरे-धीरे कुछ शक्ति एकत्रित हो रही थी, परन्तु उन में अभी इतना पारस्परिक संगठन नहीं था, और न ही उन के पास ऐसी संगठित सैन्य ही थी कि वे मुगल-साम्राज्य की विशाल वाहिनी से खुले मैदान में लोहा ले सकते, अतः मराठों के सैन्य-दलों ने लुका-छिपीवाली युद्ध-प्रणाली का आश्रय लिया, जिसे आधुनिक युद्ध-शास्त्र में गुरिल्ला-युद्ध-प्रणाली कहते हैं। दक्षिण की पठारी एवं प्राकृतिक भूरचना इस प्रकार की युद्ध-प्रणाली के लिए सर्वथा उपयुक्त भी थी। मुगल-सेना के प्रथम आक्रमण को बड़ी वीरता एवं तत्परता से विफल कर दिया गया था और मुगलों को मुँह की खा कर लौट जाने के लिए विवश होना पड़ा था। मुगल-साम्राज्य के पहले आक्रमण को विफल कर देने के पश्चात् दक्षिण के मुसलमान शासकों ने आगे के तीन सौ वर्षों में सैन्य-शक्ति की

दृष्टि से काफी उन्नति कर ली थी। अब जब मुगलों ने दक्षिण पर अपना अधिकार जमाने के लिए पुनः प्रयत्न आरम्भ किये तो दक्षिण में यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि इस प्रबल शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा की गई, और दक्षिण के शासक पूर्ववत् विलासिता में ही डूबे रहे, तो मुगल सम्राटों के खूनी पंजों से दक्षिण को सुरक्षित बनाये रखना लगभग असम्भव हो जायगा। इस नए खतरे का सामना करने के लिए युद्ध की नई चालों व प्रणालियों को ग्रहण करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा; परन्तु इस समय किसी भी प्रकार की युद्ध-नीति का आश्रय लेने से पूर्व एक नई भावना को ग्रहण करने की आवश्यकता कहीं अधिक प्रबल थी; और वह थी--उद्देश्यों की समानता की भावना, अर्थात् एक ऐसी देशभक्ति एवं राज्यभक्ति की भावना, जो तत्कालीन शासकों की उदारवादी धार्मिक नीति की छाया में भली-भाँति पनप एवं बढ़ सकती थी। मराठा सर्दारों एवं सामन्तों की शक्तियाँ बिखरी हुई थी, जिनमें हिन्दुत्व की जातिवादी भावना को भर कर उन्हें एक सूत्र में पिरोना आवश्यक था; मुगलों के हाथों से दक्षिण को बचाने के लिए एक सामान्य उद्देश्य, एवं अपने धर्म, जाति और देश के प्रति सामान्य भक्ति की भावना के साथ मराठा सर्दारों का संघबद्ध होना बहुत ही जरूरी था। शिवाजी की महानता और सफलता का एक मुख्य रहस्य यही था कि उसने मुगलों द्वारा सम्भावित इस खतरे का अनुभव किया, विभिन्नतावादी एवं मतभेद उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रक्खा और हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म के नाम पर अधिकांश मराठा सरदारों के सैन्य-दलों को सूत्रबद्ध किया। इस प्रकार शिवाजी ने केवल स्वयं को शक्ति-साधना के प्रतिनिधि के रूप में प्रदर्शित ही नहीं किया बल्कि मराठों को संगठित करने की जिस आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, उसकी पूर्ति के लिए उसने मुगलों के हाथ से हिन्दू धर्म का उद्धार करने का एक ऐसा लक्ष्य मराठों के सामने प्रस्तुत किया, जो उन्हें एक ध्वजा के नीचे ला कर खड़ा कर देने के लिए अत्यन्त ही प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। वास्तव में यह कहना उचित नहीं है कि शिवाजी द्वारा ही मराठा-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ; मराठा-शक्ति का निर्माण एवं विकास तो उसके

पहले ही हो चुका था; अभाव था तो यही कि शक्ति, विभिन्न मराठा सरदारों के हाथों में विकेन्द्रित थी और छोटे-छोटे केन्द्रों के रूप में पूरे दक्षिण में बिखरी हुई थी। शिवाजी को श्रेय दिया ही जाना चाहिए, परन्तु इसलिए नहीं कि उसने मराठा-शक्ति की नींव डाली; बल्कि इसलिए कि उसने विभिन्न केन्द्रों में बिखरी हुई शक्तियों का नेतृत्व किया, एक उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें संगठित किया और हिन्दू जाति के उत्थान एवं धर्म के महान् विरोधी, मुगल सम्राट् के विरोध करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। यही था शिवाजी का महान् कार्य, और यही थी उस की अप्रतिम देश-सेवा, जिस के बल पर शिवाजी का नाम आज भी दक्षिण क्या, पूरे देश में सम्मान एवं कृतज्ञता के साथ स्मरण किया जाता है। शिवाजी में इसके अतिरिक्त अन्य अनेक गुण भी थे, जिनके कारण सम्पूर्ण हिन्दू-जाति उसे अपना नेता मानती थी और हिन्दू जाति के उद्धारकर्ता के रूप में उस के प्रति श्रद्धा रखती थी। शिवाजी स्वयं अपने में एक उत्तेजक प्रेरणा का अनुभव करता था, और अपने साथियों, सहायकों एवं अनुगामियों को प्रेरित करता था। यह प्रेरणा केवल उसकी पीढ़ी तक सीमित नहीं रह गई, उसके बाद आनेवाली अन्य अनेक पीढ़ियां ने भी इस स्वतन्त्रवादी प्रेरणा को ग्रहण किया। यहाँ तक कि देश के विभिन्न भागों में विकेन्द्रित मराठा सरदारों के कैम्पों में यह भावना गुंजरित हो उठी कि अब एक हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना अत्यावश्यक है और ये सरदार शीघ्रातिशीघ्र अपनी शक्ति की पुनर्स्थापना के स्वप्न को साकार देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठे। इस प्रकार हिन्दू-शक्ति के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि तैयार करने में अनेक तत्वों ने सहयोग प्रदान किया, जिनमें से मुख्य हैं—प्रकृतिदत्त सुविधाएँ, देश की गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास की स्वतन्त्रतावादी प्रेरणा और धार्मिक पुनर्जागरण परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व था, अनुशासनयुक्त लम्बी शस्त्रशिक्षा, जिसका श्रेय दिया जा सकता है, दक्षिण के मुस्लिम प्रशासन को, जो कि लगभग तीन सौ वर्षों से मराठों को प्रभावित करता रहा था, और उन में युद्धप्रियता को भरता रहा था।
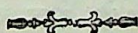
तृतीय अध्याय

हिन्दू राज्य का बीज

सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश एक ऐसा काल था, जबकि दक्षिण के निवासी शीघ्र ही किसी क्रान्तिकारी राजनैतिक परिवर्तन की आशा लगाए बैठे थे; उनके मस्तिष्क इस सम्भावित क्रान्ति से सम्बन्धित कल्पनाओं के ताने-बाने में उलझे हुए थे और वे इस क्रांति के त्वरित आगमन के लिए व्यग्र थे। इसी काल में वह शक्तिशाली बीज बोया गया, जिस के लिए पिछले तीन सौ वर्षों से भूमि तैयार की जा रही थी। इस महान् क्रान्ति की पृष्ठभूमि किस प्रकार तैयार की गई, इसका विवरण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इसी समय इस सम्बन्ध में भी संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करना पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा कि जिस समय मराठा-संघ के संस्थापक शिवाजी शिवनेर में पैदा हुआ, उस समय दक्षिण की राजनैतिक स्थिति क्या थी? शिवाजी के जन्म-काल तक निजामशाही राजवंश के अहमदनगर राज्य का अस्तित्व समाप्त हो चुका था। अहमदनगर के किले पर मुगल सेना ने प्रथम घेरा १५९६ ई० में डाला था, परन्तु चाँद बीबी ने किले की रक्षा में अप्रतिम वीरता का प्रदर्शन किया और मुगलों के दाँत खट्टे कर दिए, जिसके फलस्वरूप मुगलों को घेरा उठाकर पीछे लौट जाने के लिए विवश होना पड़ा। परन्तु इस विजय के पश्चात् ही अहमदनगर में आन्तरिक विवाद उठ खड़े हुए और चाँद बीबी के विरुद्ध षड्यंत्र किए जाने लगे; और अन्त में षड्यंत्रकारी १५९९ ई० में चाँदबीबी की हत्या करने में सफल हो गए। चाँदबीबी की वीरता एवं उसके अतुलनीय साहस के कारण ही पिछली बार मुगलों को मुँह की खानी पड़ी थी; अब उसकी हत्या से उत्साहित होकर वे पुनः अहमदनगर पर चढ़ आए, और बिना किसी विशेष प्रयास के किला उन के हाथ में आ गया। अहमदनगर के राजा को कैद करके बुरहानपुर भेज दिया गया। परन्तु उस पराजय के पश्चात् भी निजाम के वंशजों ने

अपनी सत्ता को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न जारी रक्खे और संघर्ष करते रहे। अब निजामशाही शासन का केन्द्र बना भरन्दा में, और कुछ समय पश्चात् इस केन्द्र को परिवर्तित करके जुन्नर ले जाया गया। इस समय तक मलिक अम्बर नाम का एक सरदार काफी प्रभावशाली हो गया था। उसने निजाम खानदान के निर्बल वंशज को सिंहासन पर बैठा दिया, और इस नट शासक के नाम पर उसने स्वतंत्र निजामशाही राज्य का शासन भार सम्भाला। मलिक अम्बर ने दक्षिण की सेनाओं का पुर्नसंगठन किया और उन की सहायता से अहमदनगर को पुनः अपने अधिकार में कर लिया। मुगल-सेना तथा उसके सहयोगी बीजापुर के आदिलशाही राजा को अहमदनगर से खदेड़ दिया गया; और लगभग बीस वर्षों तक वे अहमदनगर पर मलिक अम्बर की सतर्कता एवं सक्रियता के कारण पुनः अधिकार करने में सफल न हो सके।

मलिक अम्बर को मुगल-सेनाओं से काफी लम्बे समय तक युद्ध करना पड़ा और इस संघर्ष की अवधि में शिवाजी के पिता शाहजी, फाल्टन के निम्बालकर नायकों तथा महान् योद्धा लाखोजी जाधवराव आदि सरदारों ने अहमदनगर के सुल्तान का पक्ष ग्रहण किया और मुगलों के प्रयत्नों को विफल करते रहे। अन्त में १६२० ई० में मुगल-सेना अहमदनगर और उक्त मराठा सरदारों को परास्त करने में सफल हुई, परन्तु इस निर्णायक युद्ध में भी, मराठा सैनिकों और सरदारों ने अपरिमित शौर्य एवं पराक्रम का प्रदर्शन किया। यदि उसी अनुपात में निजाम दरबार के मुसलमान सरदारों ने भी सहयोग दिया होता, तो सम्भवतः इस युद्ध का परिणाम उन के अनुकूल ही होता। एक अन्य प्रमुख सरदार भी विश्वासघात कर के मुगलों से जा मिला और वह था लाखोजी जाधवराव, जिसे १६२१ ई० में मुगल दरबार में उसके इस कृत्य के लिए सम्मानित किया गया और १५००० अश्वारोहियों तथा दो हजार पैदल सैनिकों का सरदार बना दिया गया। इस पराजय के पश्चात् मलिक अम्बर को, अहमदनगर का किला, और निजामशाही सुल्तान को विवश हो कर मुगलों के हाथ सौंप देना पड़ा जिनकी रक्षा वह पिछले बीस वर्षों से करता आ रहा था। इसके बाद भी मलिक अम्बर का धैर्य एवं उत्साह क्षीण नहीं हुआ और मुगलों

को अहमदनगर से निकाल बाहर करने के लिए उसने पुनः सैन्य-संगठन का कार्य आरम्भ कर दिया। परन्तु कुछ वर्ष बाद ही १६२६ ई० में अचानक उस की मृत्यु हो जाने के कारण यह अनुभव किया जाने लगा कि अब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं रह गया है जो कि देश की सेनाओं को पुनः संगठित कर के तथा उन का उचित नेतृत्व कर के अहमदनगर को मुगलों से मुक्त कर सके। मलिक अम्बर की मृत्यु के पश्चात् निजामशाही के अन्य सहायक भी बिखर गये। स्वयं शाहजी भोंसले ने भी इस समय निजाम का साथ छोड़ कर मुगलों का पक्ष ग्रहण कर लिया और मुगल दरबार द्वारा पाँच हजार अश्वारोहियों के सरदार का सम्मान प्राप्त किया। अब निजाम की स्थिति अत्यन्त सोचनीय हो गई और अन्त में १६३१ ई० में उसके वजीर मलिक अम्बर के लड़के ने उसकी हत्या कर दी। इसी समय, जबकि निजाम राजवंश लगभग सम्पूर्ण रूप से असहाय हो गया था, अचानक शाह जी भोंसले, मुगल सम्राट् द्वारा प्रदत्त पाँच हजारी मन्सबदारी को लात मार कर, पुनः अपने पुराने आश्रयदाता वंश की सहायता के लिए आ खड़ा हुआ और एक नये उत्तराधिकारी को निजाम के रिक्त सिंहासन पर बैठा दिया। उसने अपने प्रयत्नों से कोंकण और नीरा नदी से ले कर चन्दौर की पहाड़ियों तक के क्षेत्र को निजामशाही राज्य में मिला लिया। उस के इस कृत्यों से अप्रसन्न हो कर मुगल सम्राट् ने उस का दमन करने के लिए २५,००० सैनिकों की एक सेना को दक्षिण भेजा। अतः शाहजी को आत्मरक्षा के लिए दर-दर भटकना पड़ा और मुगल सेना उस का पीछा करती रही। मुगल सेना तथा शाहजी के बीच चार वर्ष (१६३२-१६३६) तक संघर्ष चलता रहा, परन्तु इस समय परिस्थितियाँ शाहजी के प्रतिकूल थीं और लगातार संघर्षरत रहने के कारण उस की शक्ति भी अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी, जबकि शाहजहाँ अपनी सेना को नित्यप्रति सहायता पहुँचाता था। अन्त में मुगल सम्राट् शाहजहाँ की अपेक्षाकृत शक्तिशाली सैन्य के समक्ष शाहजी भोंसले को घुटने टेकने के लिए विवश होना पड़ा और शाहजहाँ की अनुमति से उसने मुगलों के मित्र बीजापुर के सुल्तान के यहाँ सन् १६३७ ई० में आश्रय प्राप्त किया।

मुगलों द्वारा विजित अहमदनगर एवं इसके० अधीनस्थ क्षेत्रों को

मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत एक सूबा बना दिया गया। जिस का नाम रक्खा गया औरंगाबाद। इस सूबे में अहमदनगर के अतिरिक्त नासिक और खानदेश का कुछ भाग, सम्पूर्ण बरार और उत्तरी कोंकण का एक अंश भी सम्मिलित किया गया। निजामशाही राज्य का शेष भाग-विशेषकर भीमा और नीरा नदियों के बीच में स्थित समस्त क्षेत्र बीजापुर के सुल्तान के हिस्से लगा, जिसने निजामशाही के विनाश में मुगल सेना के साथ पर्याप्त सहयोग किया था। परन्तु मुगलों का लक्ष्य तो पूरे दक्षिण को अपने साम्राज्य में मिलाना था; अतः अहमदनगर के पराभव के पश्चात् मुगल सम्राट् की दृष्टि अपने मित्र एवं सहायक बीजापुर के सुल्तान पर पड़ी। अब मुगल सेना का अगला कदम निर्धारित किया गया—बीजापुर से आदिलशाही का विनाश। मुगल-दरबार और बीजापुर के सुल्तान के मध्य प्रथम औपचारिक सन्धि सन् १६०१ में हुई थी और कुछ समय पश्चात् एक वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा इस मित्रता की डोर को और दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया। बीजापुर के सबसे प्रभावशाली सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह की मृत्यु १६२६ ई० में हुई और उस के पश्चात् उस का उत्तराधिकारी हुआ मुहम्मद आदिलशाह। उसे अभी बीजापुरा के सिंहासन पर बैठे पाँच वर्ष भी नहीं बीते थे कि सन्धि तथा पुरानी मित्रता की अपेक्षा करते हुए मुगल सेना ने १६३१ में बीजापुर को घेर लिया; परन्तु कुछ कारण-वश यह घेरा शीघ्र ही उठा लिया गया। पाँच वर्ष बाद ही शाहजहां की वक्र-दृष्टि पुनः बीजापुर पर पड़ी और १६३६ ई० में पुनः घेरा डाला गया। इस बार मुहम्मद आदिलशाह को मुगल सेना के सामने अस्त्र रख देने पड़े और विवश होकर उसने मुगलों से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ की। उसने मुगल सम्राट् को खिराज के रूप में बीस लाख रुपये देने के अतिरिक्त यह वादा भी किया कि वह शाहजी भोंसले को अपने दरबार में प्रश्रय नहीं देगा; क्योंकि अभी भी शाहजी, विनष्ट-प्राय निजाम शाही की ओर से, मुगलों के विरुद्ध संघर्षरत था। एक वर्ष बाद ही सन् १६३७ में शाहजी ने भी शाहजहाँ के सामने घुटने टेक दिये और उस की अनुमति से बीजापुर के आदिलशाह की सेवा में नियुक्ति प्राप्त की। मुहम्मद आदिलशाह ने शाहजी को कर्नाटक की ओर भेज दिया, जहां उसने अपने बाहुबल से अनेक महत्वपूर्ण विजयों

के साथ अपने एक पुत्र के लिए भी एक छोटे से राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की, जोकि कावेरी नदी की घाटी में स्थित था। बरार और बीदर की मुसलिम रियासतों का खात्मा पहले ही हो चुका था और उनके क्षेत्रों को अहमदनगर और बीजापुर राज्यों में मिला लिया गया था। निजामशाही के विनाश और बीजापुर के आदिलशाह द्वारा अधीनता स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् अब एक ही राज्य दक्षिण में और रह गया, जिसने अभी तक दिल्ली सम्राट् की अधीनता स्वीकार नहीं की थी और वह था गोलकुण्डा। अब जब मुगल सेना ने गोलकुण्डा की ओर कूच किया, तो पहली बार तो वहां के सुल्तान ने मुगल सम्राट् को प्रतिवर्ष खिराज देना स्वीकार करके किसी प्रकार अपनी जान बचा ली; परन्तु मुगल इतने सस्ते में छोड़ देने के लिए तैयार नहीं थे। मुगलों ने युद्धकालीन कर के रूप में इतनी अधिक रकम की मांग की कि जिसे अदा कर सकना गोलकुण्डा के सुल्तान की सामर्थ्य के परे था। उस के द्वारा इतनी बड़ी रकम देने में असमर्थता प्रगट किये जाने पर शाहजहां के लड़के औरंगजेब ने, उसकी राजधानी हैदराबाद पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया और सुल्तान गोलकुण्डा के किले में एक कैदी के रूप में बन्द रह गया। अन्त में अपने को हर प्रकार से असहाय देख कर उसने मुगल सम्राट् की अधीनता पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली।

१६ वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने भी दक्षिण में अपना प्रभाव जमाने के प्रयत्न किये थे, और कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त की थी; परन्तु इस समय तक दक्षिण से उन का प्रभाव भी समाप्त हो चला था और वे कोंकण के तट के आस पास ही के कुछ क्षेत्र में अपना कदम जमाने की चेष्टा में लगे हुए थे। इसी बीच अंग्रेज भी मुगल सम्राट् के कृपापात्र बन चुके थे, और उस की अनुमति से उन्होंने सूरत में एक कम्पनी की स्थापना करली थी; परन्तु वे अभी तक एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में ही सीमित थे, और राजनैतिक दृष्टिकोण से उन का प्रभाव या महत्व शून्य था।

इस प्रकार जिस समय शाहजी भोंसले के पुत्र शिवाजी का शिवनेर में जन्म हुआ, और उनका बाल्यकाल बीता; उस समय, दक्षिण की

राजनैतिक परिस्थिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यही था कि मुगल सेना दक्षिण की विभिन्न रियासतों को, एक के बाद एक, पराजित करती जा रही थी, और दक्षिण में मुगल साम्राज्य दिन-ब-दिन विस्तृत होता जा रहा था। मुगल सम्राटों में, बाबर से लेकर शाहजहाँ तक ने, प्रत्येक ने अपनी इन्हीं शक्तिशाली सेनाओं के बल पर अपने साम्राज्य का विस्तार किया, जोकि इस समय तक पश्चिम में काबुल से ले कर बंगाल की खाड़ी तक, और उत्तर में कुमायूँ की पहाड़ियों से ले कर दक्षिण के लगभग मध्य तक फैला हुआ था। इस विशाल साम्राज्य की महान् प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करती हुई जब विशाल मुगल-वाहिनी दक्षिण की रियासतों की ओर बढ़ी, तो इन छोटी-छोटी रियासतों के सुल्तानों की हिम्मत प्रारम्भ में ही उन का साथ छोड़ गई और वे मुगल सेना का प्रतिरोध करने में पूर्णतः असमर्थ रहे। लगभग तीन सौ वर्ष पहले सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने १२१६ई० में दक्षिण में अपने पैर पसारे थे, और अब मुगल सेना, अपने सतत् प्रयत्नों द्वारा पुनः उसी घटना की पुनरावृत्ति करती और अपनी विजय-पताका फहराती हुई दक्षिण की रियासतों की स्वतंत्रता का अपहरण कर रही थी; और इतनी प्रबलता के साथ कि उस का मार्ग अवरुद्ध कर सकना असम्भव माना जाने लगा था। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय तो हिन्दुओं ने उस निरंकुश सेनानी के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया था; परन्तु तीन सौ वर्ष से लम्बे काल तक लगातार तुर्कों और अफगानों के अधीन रहते-रहते, और निरन्तर अनुशासित एवं नियंत्रित जीवन व्यतीत करते-करते उन की बुद्धि अब विस्तृत हो चली थी तथा स्वतंत्रता का मूल्य उन्हें ज्ञात हो चला था। अब तक किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण का सफल प्रतिरोध कर सकने की सामर्थ्य एवम् योग्यता उन्हें प्राप्त हो चुकी थी, और उनका प्रभाव भी इतना बढ़ चुका था कि उनके मुस्लिम शासक भी निरंकुश एवं अत्याचारी होने का साहस नहीं कर पाते थे। सैनिक दृष्टि से ही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने काफी प्रगति कर ली थी, और इस समय तक उन की मातृभाषा, इन राज्यों की राजभाषा एवं दरबार की भाषा होने का सम्मान प्राप्त कर चुकी थी।

इस समय तक दक्षिण की रियासतों का राजस्व-विभाग—अर्थात् माल-गुज़ारी वसूल करनेवाले विभाग का समस्त प्रबन्ध मराठों एवं हिन्दुओं

के हाथ में आ चुका था। मराठा सरदारों एवं सेनानायकों ने विभिन्न स्थलों पर अप्रतिम शौर्य एवं साहस का परिचय दे कर सेना पर अपना सिक्का जमा लिया था, और मुस्लिम रियासतों के अनेक मराठा मंत्री अपनी बुद्धिमत्ता एवं नीति-कुशलता के लिए सुप्रसिद्ध हो चुके थे, उदाहरण के लिए मुरारराव और शाहजी भोंसले बीजापुर के आदिल-शाही राज्य के दो आधारमूल स्तम्भ माने जाते थे, और उन्हीं की बलबुद्धि पर बीजापुर का सुल्तान निर्भर था। इसी प्रकार गोलकुण्डा राज्य का प्रमुख स्तम्भ बना हुआ था मदन पण्डित। पश्चिमी घाट के क्षेत्र, पहाड़ी किले तथा युद्धप्रिय मावल, मराठा सरदारों के ही अधीन थे। कृष्ण नदी के उद्गम-स्थल से ले कर वार्ना तक, घाटमाथा का सम्पूर्ण क्षेत्र चन्द्रराव मोरे नामक एक शक्तिशाली मराठा सरदार के हाथ में था। सावन्तों ने दक्षिणी कोंकण के समस्त क्षेत्र की रक्षा का भार सम्भाल रक्खा था; फाल्टनक में निम्बालकर-परिवार की धाक जमी हुई थी और पूर्वी सतार क्षेत्र में माने और डफ्ले परिवारों की प्रधानता थी। पूना और पूना के मावलों का नायकत्व भोंसले परिवार के हाथ में था, और उन की जागीरें पूर्व में बारामती और इन्दापुर तक फैली हुई थीं। इन के अतिरिक्त कुछ अन्य मराठा सरदार भी प्रभाव जमाए हुए थे, जिनके अधीन दक्षिण की अधिकांश अश्वारोही एवं पदाति (पैदल) सेनाएँ थीं। ऐसे सरदारों में प्रमुख थे—घोड़पड़े, घटगे, महादिक, मोहिते और मामुलकर इत्यादि। गोलकुण्ड़ा, बीजापुर और अहमदनगर की सेनाओं में सबसे अधिक विश्वास मराठा सैनिकों को ही प्राप्त था जिन्होंने उत्तर हिन्दुस्तान की शक्तिशाली सेनाओं को अपने पराक्रम से चकित किया था, और उन्हें अपनी तलवार का पानी दिखाया था; तथा अपनी शक्ति, अपनी विशेषताओं, अपने गुणों एवं कमियों का भी अनुभव कर लिया था। ऐसी विकासोन्मुख परिस्थितियों में जब दक्षिणास्थ रियासतों पर मुगलों के सम्भावित आक्रमण के समाचार आने लगे, तो यह स्वाभाविक ही था कि इन मराठा सरदारों एवं सैनिकों के हृदय में कुछ ऐसे नए विचार उठते, जैसे कि पिछले तीन सौ वर्षों में उनके पूर्वजों के हृदय में नहीं उठे थे। पिछली तीन शताब्दियाँ उत्पीड़न एवं अन्याय की अनन्त और चिरस्मरणीय दुःखद घटनाओं का एक इतिहास छोड़ गई थीं, जिस के आधार पर मराठों के लिए यह अनुमान लगा लेना अत्यन्त उचित, स्वाभाविक एवं न्याय-

पूर्ण ही था कि ये नए आक्रमणकारी भी सफलता प्राप्त कर लेने पर उसी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता एवं क्रूरता का प्रदर्शन करेंगे, जैसा कि पिछले मुस्लिम विजेताओं ने सामान्य जनता के साथ अपने दैनिक व्यवहार में प्रदर्शित किया था। इन बीती हुई तीन शताब्दियों ने दक्षिण की हिन्दू जनता का धार्मिक पुनर्जागरण होते भी देखा था, जिसके परिणाम-स्वरूप मुस्लिम शासन के अधीन रहते हुए भी हिन्दुओं ने अपने बल पर अपने अनुकूल सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं और मुसलमान शासक भी इन्हीं की बलबुद्धि पर निर्भर हो चले थे। अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव मैसूर' में कर्नल विल्क्स ने मैकेन्जी संग्रह में प्राप्त, १६४६ई० में लिखित एक मराठा पाण्डुलिपि में दी हुई एक भविष्यवाणी का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार, भविष्यवक्ता ने यह कहने के बाद, कि 'धर्म और सद्गुणों का लोप हो जायगा और देश के सर्वाधिक सम्मानित और सभ्य पुरुष अपमानित होंगे, और कष्ट सहन करेंगे,' यह भविष्यवाणी करता है कि "अन्त में इस पराधीनता एवं अन्याय से मुक्ति का समय आएगा, कुमारियाँ उन्मुक्त गीतों से इस मुक्ति के आगमन का उद्घोष करेंगी, और आकाश फूल बरसा कर अपनी प्रसन्नता प्रकट करेगा!" इस पाण्डुलिपि के अनुसार की गई यह भविष्यवाणी जब दक्षिण में लिखी गई थी, उस समय तक शिवाजी का नाम केवल पूना स्थित उस की जागीर तक ही सीमित था और दक्षिणवासी शिवाजी का नाम भी नहीं जानते थे, परन्तु कर्नल विल्क्स सिद्ध करता है कि इस भविष्यवाणी को शतशः शिवाजी पर लागू किया जा सकता है, जो अपने बुद्धि-चातुर्य तथा अपनी तलवार के बल पर इस पूर्वघोषित मुक्ति का एक प्रमुख साधन बना और गौ-ब्राह्मण तथा धर्म की रक्षा का महान् लक्ष्य अपने सामने रख कर सच्चे अर्थों में हिन्दू जनता का मुक्तिदाता एवं उद्धारकर्ता बना।

तत्कालीन मुसलमान वृत्तान्त-लेखकों ने शिवाजी को बटमार और लुटेरा आदि उपाधियाँ देकर उसकी निन्दा की है; परन्तु मराठा पाण्डुलिपियों में शिवाजी को अवतार ही मान लिया गया है। उस काल के विभिन्न 'बखरों' या देशी ऐतिहासिक वृत्तान्तों के लेखकों ने शिवाजी के जन्म एवं उद्देश्य का वर्णन एक दम पौराणिक ढंग पर किया है, और इन सभी वर्णनों का सारांश यही है कि म्लेच्छों के अत्याचार

से पृथ्वी के पीड़ित हो उठने पर गौ माता ने, आकाश की ओर दृष्टि उठा कर, जगद्पिता से धर्म और गौ की रक्षा के लिए अति प्रार्थना की। गौमाता की अति प्रार्थना से द्रवित हो कर देवाधिदेव ने आश्वासन दिया कि अपने पीड़ित भक्तों की रक्षा हेतु के स्वयं अवतार लेंगे और म्लेच्छों के अत्याचारों से अपनी प्रिय हिन्दूजाति का उद्धार करेंगे। इस कथा में निहित अन्धविश्वास की भावना के वशीभूत होकर ही अनेक तत्कालीन देशी इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शिवाजी उदयपुर के राजवंश से सम्बन्धित थे। परन्तु इन दोनों परस्पर विरोधी धारणाओं के विपरीत वास्तविक तथ्य यह है कि शिवाजी न तो डाकू या बटमार ही था, न ईश्वर के अवतार ही; और न ही उसमें यह अतुलनीय नेतृत्व-शक्ति राजपूत-वंश में जन्म लेने के कारण आई थी। शिवाजी एक सामन्त घराने में पैदा हुआ था, उसके पिता का नाम शाहजी भोंसले, तथा उसकी माता का नाम जीजाबाई था। उसकी माँ भी एक उच्च घराने की महिला-लाखोजी जादवराव की पुत्री थी—जीजाबाई की माता प्रसिद्ध मराठा सरदार जगदेवराव नायक निम्बालकर की पुत्री थी। शिवाजी की महानता की पृष्ठिभूमि देशी इतिहासकारों ने जिन कपोल-कल्पित धारणाओं के अनुसार तैयार की है, शिवाजी के चारित्रिक विकास के लिए इन धारणाओं की अपेक्षा उस परिवार की पारिवारिक प्रवृत्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण थीं, जिसमें वह पैदा हुआ था। ऐसे माता-पिता की सन्तान होना ही शिवाजी की महानता का बहुत बड़ा आधार था। वह एक ऐसा व्यक्ति था, जिसकी समस्त शक्ति और महानता उन अनुभवों में निहित थी, जिन्हें उसने अपने काल की उच्चतम आकांक्षाओं, और अपनी जातिगत परम्परा के रूप में प्राप्त किया था। शिवाजी की श्रेणी के लोकनायक समय द्वारा तैयार की गई लम्बी चौड़ी पृष्ठिभूमि के बिना पैदा नहीं होते और न ऐसे व्यक्ति समय से पूर्व ही जन्म लेते हैं और न ऐसे देश में जन्म लेते हैं, जहाँ की सामान्य जनता को ऐसे लोकनायकों की प्रशंसा करने, उन का सम्मान करने की शिक्षा नहीं मिली रहती।

जिस भावना से प्रेरित हो कर हिन्दुओं के मस्तिष्क में वर्तमान परिस्थितियों से मुक्त होने की आशा संचारित हुई; वह केवल अनुमान,

सामान्य जागृति या ज्योतिष-शास्त्र की गणना पर ही आधारित नहीं थी। इस मुक्तिदायी भावना का मूर्तिमान स्वरूप उपस्थित हुआ था उस महान् एवं वयोवृद्ध गुरु के रूप में, जिसे शिवाजी की शिक्षा-दीक्षा का भार दिया गया था। इस विद्वान् एवं अनुभवी गुरु के आदर्शों एवं प्रेरणाओं का स्रोत था—गौरवमय अतीत, जबकि उस के इस होनहार शिष्य का बाल-हृदय एक उज्ज्वल और स्वतंत्र भविष्य की कल्पनाओं से उद्वेलित हो रहा था! तत्कालीन कूटनीति की साकार मूर्ति थे शिवाजी के नाना लाखोजी जादवराव और उसके पिता शाह जी भोंसले, जो सदा ही डूबते हुए सूर्य को अन्तिम प्रणाम करके, उगते हुए सूर्य की आगवानी के लिए, अपना मुख विपरीत दिशा में घुमा लेते थे और क्षितिज में विलीन सूर्य की चिन्ता से मुक्त हो जाते थे। शिवाजी के बाल्यजीवन के विषय में जितने भी वृतान्त और ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे सभी एक मत हो कर स्वीकार करते हैं कि शिवाजी अपनी किशोरावस्था में रामायण और महाभारत की ओजमयी एवं आदर्शपूर्ण कथाओं में बहुत रुचि लेता था। जब किसी विशेष कथा-वाचक द्वारा इन महाकाव्यों के पाठ या कथा के आयोजन का समाचार मिलता, तो बालक शिवाजी इन कथाओं या पाठों को सुनने के लिए कई-कई कोस पैदल ही चला जाता था। शिवाजी का मस्तिष्क आदर्श धर्म के साँचे में पूरी तरह ढला हुआ था, और धर्म के प्रति उस की यह प्रवृत्ति उसके अस्त-व्यस्त एवं संकटमय जीवनकाल में रंचमात्र भी कम न हुई। उसके विद्वान् गुरु तथा हितचिन्तक सम्बन्धियों ने उस के भावी जीवन के लिए जिस प्रकार के प्रशिक्षण का आयोजन किया, उस प्राशिक्षण से कहीं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई शिवाजी की प्रवृत्ति, जिसके कारण विभिन्न अन्य क्षेत्रों में भी, उसके आत्म-विश्वास को पर्याप्त शक्ति मिली। इसी समय से शिवाजी के हृदय में जिस प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होने लगी थीं; कि उस का जन्म एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है, और इसी कारण वह निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत प्रगति के विषय में बहुत कम विचार करता था। परन्तु उसके सैनिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में एक विशेष लक्ष्यपूर्ति की भावना उतनी बलवती नहीं थी, और न इस काल में उस में उत्साह का उतना उद्वेग ही था। उसके प्रारम्भिक आक्रमणों और धावों में

बहुत बचकनापन था; परन्तु फिर भी ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती गई, उसके हृदय में यह धारणा भी बलवती होती गई कि ईश्वर ने किसी विशेष कार्यवश उसे पृथ्वी पर भेजा है। अनेक वृतान्त में ऐसे वर्णन मिलते हैं, जिनके अनुसार तीन स्मरणीय अवसरों पर शिवाजी ने, सारी सांसारिक मोहमाया एवं धन-सम्पदा को त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए संन्यासी हो जाने का दृढ़ संकल्प किया, और इन सभी अवसरों पर उसके गुरुओं एवं मन्त्रियों ने, बड़ी-बड़ी कठिनाई से उसको यह समझा कर संसार से विरक्त होने से रोका कि उसके मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग ही दूसरा है, और उसे इस जीवन में अपने कर्तव्यों के विषय में अधिक उचित धारणा बनानी चाहिए। उसके सम्पूर्ण जीवनवृत्त का सूक्ष्म अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म या दैवी शक्ति द्वारा उसे कितनी प्रेरणा मिलती थी! जब कभी वह परीक्षा की ऐसी कठिन और संकटपूर्ण घड़ी में पड़ जाता था, और जब कि स्थिति इतनी नाजुक हो जाती थी कि केवल एक कदम के गलत ढँग से पड़ जाने पर उसकी आशाओं के मटियामेट हो जाने का भय मुँह फाड़े खड़ा हो जाता था, तो शिवाजी प्रार्थना करने की मुद्रा में ध्यानावस्थित हो जाता था, और इस अवस्था में उसे आशा रहती थी कि दैवी शक्ति का गम्भीर स्वर स्वयं उसी के माध्यम से उसे प्रस्तुत विपत्ति से मुक्त होने का मार्ग बताएगा, ऐसी ध्यानावस्था में वह अपनी सुध-बुध भूल जाता था और उसकी आत्मा जैसे उसके शरीर से बाहर चली जाती थी। उसने अपने मंत्रियों को आदेश दे रक्खा था कि जब वह इस प्रकार ध्यानमग्न हो कर दैवी शक्ति का आह्वान करता रहे, तो दैवी प्रेरणा से जो कुछ भी उस के मुँह से निकले, उसे तुरन्त लिख लिया जाय। शिवाजी बाद में इन्हीं लिखित आदेशों के अनुसार अपनी नीति निर्धारित करता था और विश्वास रखता था कि यही सर्वोत्तम मार्ग है—चाहे यह आवाज उसे औरंगजेब के साथ सन्धि करने और दिल्ली जा कर अपने शत्रुओं के हाथ कैद हो जाने का आदेश देती थी या एक प्राणघाती युद्ध में अफजल खाँ से निःशस्त्र भेंट करने का निर्देश करती। अपने दैवी रक्षक एवम् सहायक के प्रति उस की इस आस्था, आत्मसमर्पण की भावना और आत्मनियंत्रण से सम्बन्धित अनेक प्रचलित कथाओं से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उसकी नीतियों एवं गतिविधियों

का निर्धारण केवल जातिवाद, धार्मिक प्रवृत्ति अथवा गहरी कूटनीति पर ही आधारित नहीं रहता था, वास्तव में उसे अपने कार्यों के लिए प्रेरणा मिलती थी, सामान्य या असामान्य मानव प्रकृति के मानवेतर अंश से, जिस का अधिकारी एक साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता।

भारतीय इतिहास के विदेशी लेखक शिवाजी के चरित्र में निहित इस विशेष गुण का अनुभव कर पाने में असमर्थ रहे; यद्यपि उसके कठोर वातावरण में हुए पालन-पोषण एवं उस की साहसिकता से भी अधिक महत्वपूर्ण था, उसका मानसिक प्रेरणा-स्रोत, जिसके कारण वह अपने युग का प्रतिनिधि एवं युग-प्रवर्तक बना। वास्तव में इस देश के निवासियों के हृदय में किसी विशेष उद्देश्य के लिए सहानुभूति जागृत करने एवं उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए एक ही प्रेरणा अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है, और वह है धार्मिक प्रेरणा जिसके बल पर उन्हें किसी भी मार्ग का अनुगामी बनाया जा सकता है। अतीत के गर्भ में विलीन पिछले तीन सौ वर्षों में समस्त भारतवर्ष मुसलमानों के तलवार की नोंक पर आधारित धर्म के नवीन सम्पर्क से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ था, और इस विचित्र सम्पर्क के फलस्वरूप अनेक उल्लेखनीय प्रतिक्रियाएँ भी सामने आ चुकी थीं। रामानुज, रामानन्द तथा उन की विचारधारा के अन्य धार्मिक-प्रचारकों के प्रभाव से हिन्दुओं का वैष्णव वर्ग विकास के पथ पर था; और इन प्रचारकों के उपदेशों एवं प्रवचनों से जनसाधारण के हृदय में यह धारणा जोर पकड़ती जा रही थी कि मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार सभी वर्गों को है, और जगद्पिता बिष्णु के सिंहासन की छत्र-छाया के नीचे उच्च और निम्न-वंश में उत्पन्न हुए लोगों के बीच कोई भी अन्तर नहीं हैं। उत्तरी और पूर्वी भारत के विभिन्न भागों में उत्पन्न अनेक महान् सन्तों, और धर्माचार्यों जैसे रामानन्द, कबीर, रामदास, रोहीदास, सूरदास, नानक और चैतन्य आदि की रचनाओं में एवं उन की धार्मिक विचार-धाराओं में मानव मात्र की समानता का यह भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इन धर्म-गुरुओं एवम् भक्त कवियों के मस्तिष्क पर मुसलमानों के एकेश्वर वाद

या अद्वैतवाद की स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रतिपादन उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता के साथ किया है। दत्तात्रेय, अर्थात् ब्रह्मा विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति के उपासक, प्रायः अपने इस ईश्वर को मुसलमानों के मजहबी 'फकीर' के बाने में प्रस्तुत करते थे। महाराष्ट्र के जन-साधारण पर यह विचारधारा उत्तर-वासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सक्रियता से अपना प्रभाव डाल रही थी। इस समय महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही प्रकार के धार्मिक प्रचारक, हिन्दुओं को, राम और रहीम का समन्वय कहने का उपदेश देते फिर रहे थे; उनके अनुसार ईश्वर को प्राप्त करने के लिए, या उसकी उपासना के लिए धार्मिक कर्मकाण्ड आदि एक दम अनावश्यक थे, वे जाति-भेद को ईश्वर विरोधी मानते थे और उनका मत था कि एक ईश्वर भक्त को मानवमात्र से प्रेम करना चाहिए, और एक ही ईश्वर में विश्वास करना चाहिए। राजनैतिक नेताओं के साथ नव-जागरण में सहयोग प्रदान करने के साथ तुकाराम, रामदास, एकनाथ और जयरामस्वामी आदि धर्म-प्रचारक, इस नवीन धार्मिक आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार थे, उनका यह मानवमात्र की समानता पर आधारित आन्दोलन केवल उच्च जाति के लोगों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इस आन्दोलन में, उच्च एवं निम्न-दोनों ही वर्गों के प्रतिनिधि समान रूप से सम्मिलित थे। विठोबा के उपासकों, एवं पढंरपुर की परम्पराओं ने धरती पर ही स्वर्ग की कल्पना कर ली थी, और इस मनोहारी विचारधारा से प्रतिवर्ष हजारों मनुष्य आकर्षित होते थे, जिस किसी भी गाँव या नगर में इस मार्ग के मतानुयायी कथाओं का आयोजन करते थे, वहाँ श्रद्धालु नर-नारी हजारों की संख्या में एकत्रित होते थे, और उनके धार्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर उन्हीं के मतावलम्बी हो जाते थे। उनके इन प्रवचनों के प्रभाव का सर्वोत्तम उदाहरण है, वह परामर्श जो राजा सवाई जयसिंह ने औरंगजेब को १६७८ में दिया था। इतिहास-प्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि अकबर ने अपने शासनकाल में, हिन्दु-मुस्लिम एकता की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए जजिया को उठा लिया था जोकि केवल हिन्दुओं से कर के रूप में वसूल किया जाता था। औरंगजेब ने जो मुसलमान पहले था और बादशाह बाद

में—जजिया को पुनः लागू करने का इरादा किया। औरंगजेब के इस अन्यायपूर्ण, और धर्मान्धतापूर्ण निश्चय का विरोध करते हुए राजा सवाई जयसिंह ने उससे कहा था कि 'खुदा सिर्फ मुसलमानों का खुदा ही नहीं है, बल्कि वह इस दुनिया के तमाम इन्सानों का खुदा हैं, उसकी नजर में मुसलमान और बुतपरस्त (मूर्ति-पूजक) दोनों ही बराबर हैं, और इस तरह हिन्दुओं की धार्मिक रीतियों एवं परम्पराओं में इस तरह दखल देना उस नेक खुदाबन्द करीम की मर्जी के खिलाफ है।" जयसिंह द्वारा दिया गया यह परामर्श तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन एवं नव-जागरण का प्रतिनिधित्व करता है, तथा उस काल के जनसाधारण की धार्मिक विचारधारा का प्रतीक है। केवल हिन्दू ही नहीं, मुसलमानों ने भी इस मत में निहित उच्च-धार्मिक भावनाओं की तार्किकता एवं उसके प्रभाव का अनुभव किया था। इसी भावना से प्रेरित होकर अबुल फजल और फैजी ने हिन्दुओं के महान् धार्मिक महाकाव्यों-'रामायण' एवं 'महाभारत' का अनुवाद करने में हाथ लगाया था; अकबर इस मत का बहुत बड़ा अनुयायी था, और हिन्दू व इस्लाम धर्म का समन्वय करने का संकल्प उसके हृदय में इतना गम्भीर स्थान ग्रहण कर चुका था कि उसने एक नए ही धर्म की नींव डाल दी जिसका उद्देश्य था-हिन्दू-मुसलमानों के बीच मतभेद की गहरी धार्मिक खाई को भरकर उनमें एकता और बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करना। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र, शाहजादा दारा शिकोह ने इसी भावना से प्रेरित हो कर उपनिषदों एवं 'गीता' का अनुवाद किया था और धार्मिक मतभेद से परे, धर्म-सहिष्णु मुसलमान वर्ग का प्रतिनिधित्व किया, परन्तु शाहजादा औरंगजेब प्रारम्भ से ही एक कट्टर मुसलमान था और उसकी कट्टरता धर्मान्धता की चरम सीमा तक पहुंची हुई थी; जितनी ही उसमें तख्तो ताज हासिल करने की हविश थी, उसके हृदय में उतनी ही ईर्ष्या दारा शिकोह की उदारवादी धार्मिक विचारधारा के प्रति थी, और यही दो प्रधान कारण थे जिनके वशीभूत होकर उसने दारा शिकोह के विरुद्ध विद्रोह किया, और अत्यन्त निर्ममता से उसकी हत्या की; एक भाई द्वारा, अपने ही भाई की इतनी क्रूर और अपमानजनक हत्या के उदाहरण इतिहास के पृष्ठों में इने-गिने ही प्राप्त हो सकते हैं। अस्तु, अनेक महान् मुस्लिम सन्तों, जैसे उत्तर में

कबीर और महाराष्ट्र में शेख मुहम्मदने हिन्दू और मुसलमानों को एक ही पिता की सन्तान मानकर, उनके समक्ष इसी उच्च-धार्मिक भावना का प्रचार किया, और यद्यपि उनको मृत्यु के पश्चात् इन दोनों सन्तों को हिन्दू व मुसलमान, दोनों धर्म के मतावलम्बियों की श्रद्धा एवं भक्ति प्राप्त हुई, परन्तु उनके जीवनकाल में न तो हिन्दुओं ने उनके धार्मिक उपदेशों पर ध्यान दिया, और न मुसलमानों ने उनकी बातों में कोई सार देखा, ये दोनों महान् सुधारक अपने जीवन-काल में दोनों ही धर्मानुयायियों की आँखों में खटकते रहे।

यही थी उस समय की धार्मिक परिस्थिति, जिस समय कि महान् नायक शिवा का हृदय क्रान्ति की भावना से उद्वेलित हो रहा था। धार्मिक पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार उस समय की प्रमुख प्रवृत्तियाँ थी जो जनमानस को उद्वेलित किए हुए थीं, और उनके समक्ष यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि अब प्राचीन धार्मिक रूढ़वादिता को तिलांजलि देने का समय आ गया है। किसी बर्बर-शक्ति के समक्ष घुटने न टेकने की भावना को प्रेरित करने का प्रमुख स्रोत था यही धार्मिक नव प्रकाश, जिससे प्रभावित होकर लोगों ने अपने हृदय में दृढ़ संकल्प कर लिया कि अब वे अपनी भूमि पर मुसलमानों की कट्टरता, धर्मान्धता और असहिष्णुता को पुनः नहीं फैलने देगें। इस दृढ़ संकल्पमयी भावना का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित हुआ उन उपासकों पर, जो तुलजापुर और कोल्हापुर के मन्दिरों में आदिशाही की अधिष्ठात्री देवी भवानी की उपासना करते थे। सर्व प्रथम उन्हीं के हृदय में यह ज्वाला प्रज्वलित हुई, जिसकी तीव्र आँच गोठिलों एवं माहों के प्रेरणा-दायक गीतों से देश के कोने कोने में पहुंची।

शिवाजी के हृदय में तुकाराम, रामदास एवं अन्यान्य तत्कालीन धर्म-गुरुओं के प्रति समान श्रद्धा थी; उसने स्वयं अपने भीतर धार्मिक प्रेरणा की इस प्रबल ज्वाला के प्रभाव का अनुभव किया, और अपने युग की समस्त, नवीन उच्च आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया। यही प्रेरणा उसकी वास्तविक शक्ति थी, और इन्हीं उच्चाकांक्षाओं को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाने के कारण जनता की सहभावना भी उसे प्राप्त हुई। इस प्रकार इस समय शिवाजी के हाथ में जितनी

शक्ति एकत्रित हो गई थी, उतनी शक्ति अन्य किन्हीं भी संयोगों एवं घटनाओं के सम्मिलन से एक ध्वजा के नीचे केन्द्रीभत नहीं हो सकती थी।

इस प्रेरणा एवं अकांक्षा के अतिरिक्त एक अन्य विचार भी शिवाजी के मस्तिष्क पर गम्भीर प्रभाव डाल रहा था जिसका ज्ञान न तो उसके गुरु को था, न उसके पिता को और वह प्रभावशाली विचार यह था कि शिवाजी के हृदय में यह बात निरन्तर गूँज रही थी कि इस मुगलों के सम्भावित आक्रमण का सफल प्रतिरोध कर सकना तभी सम्भव हो सकता है जबकि उसका सामना दक्षिण के सभी सरदार संगठित हो कर न करें। शिवाजी के गुरु रामदास ने अपनी काव्यात्मक रचनाओं में शिवाजी उद्देश्यों, विचारों एवं उसकी नीति का वर्णन किया, और बाद में शिवाजी के अभागे पुत्र शम्भाजी को इस सम्बन्ध में उपदेश देते हुए कहा कि वह सभी मराठा सरदारों, एवं मराठा जनता का संगठन करे, और एक बड़े संगठित राष्ट्र का निर्माण करके, उसमें धर्म का प्रचार करे। शिवाजी की नीति, एवं उसके उद्देश्य का सम्पूर्ण आधार यही था कि समूची मराठा-शक्ति एक संगठन के अन्तर्गत आ जाय, और यदि केवल इसी बात पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो शिवाजी के अनेक उलझे एवं विवादास्पद कार्यों की व्याख्या अत्यन्त सरलतापूर्वक की जा सकती है। शिवाजी का विश्वास था कि अवसर मिलने पर मुगल भी उसी प्रकार दक्षिण में पाँव पसारने का प्रयास करेंगे जिस प्रकार कि तीन शताब्दी पूर्व अफगानों ने दक्षिण में अपना प्रसार किया था और यह कार्य ऐसी स्थिति में अत्यन्त सरल हो जायगा यदि दक्षिण भर में बिखरे हुए मराठा सरदार पूर्ववत् परस्पर संघर्षरत रहेंगे, और अपने सम्बन्धों को कटु बनाए रहेंगे। इन छोटे-बड़े सरदारों का उद्देश्य-क्षेत्र जितना सीमित था, उसका ज्ञान शिवाजी को था; ये केवल अपनी जागीर या अपने वतन को सुरक्षित रखने, और अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में वृद्धि करने में ही प्रयत्नशील रहते थे, भले ही इसके लिए उन्हें अपने पड़ोसी जागीरदारों से झगड़ा करना पड़े, या संघर्ष ही करना पड़े। तत्कालीन परिस्थि-

क्तियों में एक समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पारस्परिक संगठन और विश्वास ही एक ऐसी नीति थी जो हिन्दू-स्वातन्त्र के मार्ग को प्रशस्त कर सकती थी। उस समय आवश्यकता तो इस बात की थी कि कोई भी व्यक्ति, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, यदि इस नीति एवं भावना का समर्थन करे, तो उसे अपना सहायक माना जाय, परन्तु यदि कोई व्यक्ति इस महान् उद्देश्य के मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयत्न करे तो उसे दण्ड का भागी समझा जाय, चाहे वह अन्य दृष्टियों से मित्र हो, या शत्रु, सम्बन्धी एवं परिचित हो अथवा अजनबी।

भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग में आन्तरिक विरोधों एवं उसके कारण उत्पन्न राजनैतिक, निर्बलता एवं समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न स्थानीय शक्तियों में अनैक्य का अस्तित्व रहा है जिससे देश को समय-समय पर जितनी हानि उठानी पड़ी है, उसका ज्ञान इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को है। विभिन्न इतिहास लेखकों ने भारतीयों की इस संगठनहीनता, अनुशासन-हीनता, दासता एवं अपने ही स्वार्थों में लिप्त रहने की भावनाओं को इस देश की स्थायी प्रवृत्ति माना हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार की असंगठित एवं विकेन्द्रित शक्ति किसी ऐसी विरोधी शक्ति का सामना नहीं कर सकती जो इसके विपरीत पूर्ण-रूपेण संगठित एवं सुसज्जित हो चाहे ऐसे विरोध का निपटारा युद्ध-क्षेत्र में करना हो अथवा विधान-सभा में। शिवाजी ने इस तथ्य को सदैव अपना मार्ग प्रदर्शक माना और अपने प्रत्येक अभियान में चाहे वह छोटा रहा हो अथवा बड़ा—उसने अपने विभिन्न सहयोगियों की आकांक्षाओं एवं उनके स्वार्थों को एक समान उद्देश्य की डोर में इस प्रकार सूत्रबद्ध कर दिया कि वे सामूहिक सफलता में गर्व एवं सामूहिक पराजय की स्थिति में लज्जा एवं अपमान का अनुभव कर सकें। घाटगे, मोरे और घोड़पड़े परिवारों में उस पृथकतावादी नीति को पूर्ण प्रश्रय एवं प्रतिनिधित्व प्राप्त था, और इसके पूर्व कि देश के प्रमुख मराठा-परिवार 'शिवाजी' था विश्वास-पात्र बनकर उसके दल में सम्मिलित होते, इन तीन पृथकतावदी परिवारों को एक कुशल और संगठित शक्ति द्वारा दमन

किया जाना आवश्यक था शिवाजी के विचार से, अपने उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दक्षिण के विभिन्न मुसलमान शासकों में भी परस्पर विरोध पैदा कर देना भी उतना ही आवश्यक था। यद्यपि शिवाजी को अनेक अवसरों पर मुगलों की शक्ति-शाली सेना के समक्ष घुटने टेकने पड़े, परन्तु फिर भी, अपने सम्पूर्ण साहसिक-कृत्यों से परिपूर्ण जीवन काल में एक विदेशी शक्ति का विरोध करने के लिए देशी-शक्तियों का संगठन करने की इच्छा उसके मस्तिष्क से एक क्षण के लिए भी तिरोहित नहीं हुई। यह सत्य है कि शिवाजी को भी समय-समय पर असफलता का मुँह देखना पड़ा और यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कालान्तर में उसके समस्त प्रयत्न प्रभावहीन सिद्ध हुए और हिन्दुओं को बाँधने वाली दासता की श्रृंखला का अस्तित्व पूर्ववत् बना रहा, परन्तु उसकी असफलता एक उच्च कोटि की असफलता थी; क्योंकि अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए उसने जिस प्रकार की तैयारियाँ की और जैसी योजनाओं का निर्माण किया, वे किसी भी ऐसी प्रभावशाली शक्ति को सहन करने के लिए पर्याप्त थी, जो उसकी अपेक्षा उच्च स्तर पर और अधिक उच्च महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बनी योजना को ध्वस्त कर सकने में समर्थ सिद्ध हुआ था।

अनेक शताब्दियों की अवधि में कड़े अनुशासन द्वारा तैयार की गई पृष्ठ-भूमि में हिन्दू-शक्ति के नव-जीवन का बीज जिस प्रकार से बोया गया, इसका वर्णन समाप्त करने से पूर्व हम अपने पाठकों का ध्यान इस महान् लोकनायक के चरित्र की एक विशेषता की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जिसने उसकी कार्यसिद्धि के मार्ग में उसे अत्यधिक सहयोग दिलाने का श्रेय प्राप्त किया। शिवाजी के महान् व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय-शक्ति निहित थी, जो केवल जनता के वास्तविक पथ-प्रदर्शकों एवं नेताओं में ही देखने को मिल सकती है। यह चुम्बकीय-शक्ति न तो डाकुओं और बटमारों में होती है, और न उच्च आकांक्षा से, प्रेरित क्षुद्र शक्ति वाले सनकियों एवं पागलों में। शिवाजी में निहित इसी महान् शक्ति के प्रभाव के कारण देश के समस्त महत्वाकांक्षी, स्वातंत्रप्रिय और आशावादी व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित हुए, चाहे वे किसी भी जाति,

वर्ग, वर्ण या धर्म के रहे हों। यहीं नहीं, उसके परामर्शदाता एवं मंत्री भी उन सभी बड़ी जातियों एवं वर्गों में से चुन कर नियुक्त किए गए थे जिनके सम्मिलित शक्ति से देश शक्तिशाली एवं समृद्ध बना हुआ था। शिवाजी एक ऐसा व्यक्ति था जो पारस पत्थर की भाँति अपने सम्पर्क में आनेवाले कायरों एवं मूर्खों को भी वीर एवं कुशल सैनिक बना देता था उसके स्पर्श मात्र से सर्वाधिक महत्वहीन व्यक्ति भी अपने अंतस्थल में देशभक्ति, वीरता एवं क्रान्ति की ज्वाला का अनुभव करने लगता था, और देश, धर्म, तथा शिवाजी के नाम पर अपना अन्तिम बलिदान करने तक के लिए तैयार हो जाता था। मावलियों एवं हेटकरियों के दल केवल इसलिए शिवाजी के अभियानों में सम्मिलित नहीं होते थे कि उन्हें लूट-पाट करने की खुली छूट मिलती थी, बल्कि शिवाजी के व्यक्तित्व एवं उनकी वाणी में ऐसी मोहिनी थी जो बरबस इन लुटेरों को उसका अनुशरण करने के लिए विवश करती थी। यही, नहीं, जब कभी शिवाजी लम्बे अभियानों के लिए निकलता था और मावलियों आदि की सहायता को अपर्याप्त समझता था, तो वह मुसलमानों को भी अपनी सेना में सम्मिलित कर लेता था, तथा उनकी सहायता से जल या थल पर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होता था। उसकी सेवा में विभिन्न जाति एवं वर्गों के अनेक सरदार विश्वस्त पदों पर कार्य करते थे, उदाहरणार्थ तानाजी भालूसरे और उसका भाई सूर्याजी, बाजीफसलकर और नेताजी पालकर, बाजी प्रभु देश पाण्डे और बालाजी आवजी; अनेक ब्राह्मण जैसे मोरोपन्त, आबाजी सोनदेव, रग्घुनाथ नारायण, अण्णा जी दत्तो, जनार्दन पन्त हनमन्ते, अनेक वर्गों के मराठे जैसे प्रतापराव गूजर और हम्बीर राव मोहिते, शान्ताजी घोरपड़े और धनाजी जाधव, परसोजी भोंसले के पूर्वज और उदाजी पवार एवं खण्डे राव दभाडे; परन्तु इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि शिवाजी के इन सैन्याधिकरियों ने कभी भी अपने गम्भीर उत्तरदायित्व से मुख नहीं मोड़ा, न तो उन में से किसी ने उस के साथ विश्वासघात ही किया; बल्कि समय-समय पर उनमें से एकाधिक नायकों ने शिवाजी के विश्वास का मूल्य अपना जीवन देकर भी चुकाया। यह था कि शिवाजी का मोहक व्यक्तित्व एवं ऐसी थी, उनकी चयन-

कुशलता, जो उनकी महानता चुम्बकीय शक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। जिस समय शिवाजी जयसिंह के अनुरोध पर औरंगजेब से मुलाकात करने के लिए दिल्ली गये और छलपूर्वक बन्दी बना लिए गए, उस समय भी उस के ऊपर इन सरदारों की आस्था बनी रही और वे पूर्ण कुशलता एवं क्षमता के साथ अपने-अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते रहे। यही कारण था कि जब शिवाजी अपनी अतुलनीय कूटनीति के बल पर मुगल सम्राट् को कड़ी कैद में से भाग निकलने में सफल हो गया और अपने देश वापस आया, तो अपनी शक्ति को पुनः संगठित करने के लिए उसे कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा; क्योंकि यहाँ सारा कार्य पूर्ववत् चल रहा था। कालान्तर में, जब इस महान् लोकनायक की मृत्यु हो गई; उसका पुत्र शम्भू जी अपने दुर्व्यवहार एवं निन्दनीय आचरण के कारण मार डाला गया, और शाहू को एक कैदी के रूप में रायगढ़ से हटा दिया गया, उस समय इन्हीं सरदारों एवं उनके उत्तराअधिकारियों ने उमड़ते हुए विजयी मुगलों से डट कर लोहा लिया; यद्यपि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उनको दक्षिण की ओर भागने के लिए विवश होना पड़ा, परन्तु इससे उनका साहस एवं धैर्य रंचमात्र भी कम न हुआ, वे पुनः अपनी शक्ति को संगठित करके उत्तर की ओर बढ़े और दक्षिण पर छाए हुए मुगलों को पुनः हिन्दुस्तान की ओर खदेड़ दिया; अपनी इस असफलता पर औरंगजेब के हौसले पस्त हो गए; क्यों कि मराठों ने उस की सभी महत्वाकांक्षी अभिलाषाओं को पूर्णतः धूलिसात कर दिया था।

शिवाजी के चारित्रिक गुणों की सूची के अन्त में आती है, उसकी आत्मनियन्त्रण एवं आत्मानुशासन शक्ति, जो उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी कि उसकी नेतृत्व शक्ति और साहसिकता की भावना। उसके चरित्र का यह महान् गुण, तत्कालीन शासकों में व्याप्त लापरवाही, उदासीनता, क्रूरता और सनकीपन के विपरीत, उसे एक ऐसी, ऊँचाई पर ला खड़ा कर देता है, जिसके समक्ष उसके समकालीन शासक बौनों के समान प्रतीत होते हैं। यद्यपि उसके सैनिक भी जब तब अनाचार करते थे, और द्रव्यभाव के कारण कभी-कभी स्वयं शिवाजी को भी लूटपाट करनी पड़ती थी परन्तु उसके क्रूरतम अभि-

यानों तक में गायों, स्त्रियों या किसानों पर किए गए किसी भी प्रकार के अत्याचारों या ज्यादतियों का कोई प्रमाण या विवरण नहीं मिलता; विशेषकर स्त्रियों के साथ तो वह ऐसा वीरोचित व्यवहार करता था, जिसकी प्रशंसा उसके अत्याचारी शत्रु भी करते थे। जब कभी युद्धकालीन अवसरों पर शत्रु-पक्ष की स्त्रियाँ संयोगवश उस की सेना के हाथ में पड़ जाती थीं, तो वह पूर्ण सम्मान एवं प्रतिष्ठा के साथ उन्हें उनके पतियों के पास भिजवा दिया करता था। शिवाजी ने अपनी दूरदर्शिता से प्रारम्भ में ही समझ लिया था कि जीते हुए क्षेत्रों को जागीरों के रूप में अधीनस्थ सरदारों को सौंप देना अत्यन्त खतरनाक हो सकता है, अतः उसने इस सम्बन्ध में सदैव सतर्कता बरती, और विजित भागों का शासन-प्रबन्ध सदैव अपने ही हाथ में रक्खा। वह अपने अधीनस्थ क्षेत्रों की समस्त शक्ति; एवं आर्थिक स्रोतों को प्रत्यक्ष रूप से अपने नियत्रंण में रखने का पक्षपाती था; परन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने उस की इस सतर्कता से कुछ भी शिक्षा नहीं ली, और उस विस्तृत साम्राज्य की संगठित शक्ति को जागीरों के रूप में विकेन्द्रित करना प्रारम्भ कर दिया, जिसकी नींव शिवाजी ने इतनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से डाली थी।

संक्षेप में, शिवाजी को महान् लोकनायक बनाने में जिन संयोगों एवं वैयक्तिक विशेषताओं ने सहयोग दिया, उनमें से प्रमुख है—पूर्णतः उद्वेलित धार्मिक पुनर्जागरण, जो हिन्दुओं में सर्वस्व अर्पित कर देने की भावना तक पहुँच चुका था; शिवाजी की चरित्रगत धैर्य, वीरता और साहस की भावना, जो उसके इस विश्वास के कारण और भी दृढ़ हो गई थी कि एक मानवेतर शक्ति उस को तथा उसके कार्यो को संरक्षण प्रदान कर रही है; उस के व्यक्तित्व में निहित चुम्बकीय शक्ति जिसके प्रभाव से हिन्दू जनता उस के नेतृत्व में संगठित हुई और विजय पर विजय प्राप्त करती चली गई; शिवाजी की अन्तर्दृष्टि एवं दूरदृष्टि, जिसके कारण उसने समय के आह्वान को आत्मसात किया और तदनुकूल प्रयत्न किया; अपने पूर्व-निश्चित महान् लक्ष्य को पूर्ण करने की दृढ़ता, जो समय अथवा दुर्भाग्य के थपेड़ों के समक्ष अपराजय थी; प्रत्येक स्थिति का सामने करने की दृढ़ भावना और साधन-सम्पन्नता जिसका कोई अन्य उदाहरण न-तो भारतीय और

न तो यूरोपीय इतिहास में ही मिल सकेगा; सच्ची देशभक्ति की भावना तथा दयामिश्रित न्यायप्रियता। इन्हीं संसाधनों के सहयोग से शिवाजी को मराठा-राज्य का बीज बोने में सफलता प्राप्त हुई; बाद में उसके उत्तराधिकारियों के प्रयास से इस बीज से उत्पन्न विशाल वृक्ष की शाखाएँ दूर-दूर तक फैली और मराठा-जाति को भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ने का गौरव प्राप्त हो सका। अब तक हमने मराठा-साम्राज्य के संस्थापक के चरित्र के सम्बन्ध में पर्याप्त निरीक्षण कर लिया है, जिसकी सहायता से हम उस की भूल-भुलैया के समान जीवन-गाथा को अच्छी तरह से समझने में समर्थ हो सकेंगे, और उसके गौरवपूर्ण जीवन-काल की उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण घटनाओं पर न्यायपूर्वक विचार कर सकेंगे।

चतुर्थ अध्याय

बीज का विकास-क्रम

शिवाजी के सहकारी

पिछले अध्याय में हमने जिस प्रकार शिवाजी की प्रमुख चरित्रगत विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, उससे पाठकों के मस्तिष्क में उस महान् नेता का एक रेखाचित्र अवश्य बन गया होगा, जिसने अपने बुद्धिबल एवं नीति-नैपुण्य से देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई मराठा-शक्ति को संगठित कर के एक महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हें प्रेरित किया और पश्चिमी भारत के अजेय पर्वतीय गढ़ों की आश्रयदायिनी छत्रछाया में इन बिखरी शक्तियां को एक सूत्र में बाँध कर एक महान् स्वतंत्र राज्य की स्थापना की, जिसके भीतर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण गुप्त शक्तियाँ प्रगट होने के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रही थीं। यह बात निर्विवाद एवं स्पष्ट है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा--जोकि शिवाजी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य था—को पूर्ण करने के लिए शिवाजी को सहयोग की आवश्यकता थी। यद्यपि स्वतंत्रता का बीज तो उसने पहले ही तैयार की गयी भूमि में डाल दिया था; परन्तु इस बीज के अंकुरित एवं विकसित होने के लिए अनुकूल मिट्टी एवं अन्य आवश्यक परिस्थितियों का सहयोग अनिवार्य था। यदि उस समय की जन-भावना, एक लम्बी और कष्टपूर्ण अनुशासन की अवधि से उद्वेलित होकर शिवाजी की सहायता के लिए आगे न आती, तो उच्चस्तरीय मानसिक शक्ति एवं नीति-कुशलता के बावजूद भी शिवाजी अपने महान् लक्ष्य की पूर्ति में सम्भवतः सफल नहीं हो पाते। शिवाजी की उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत करते समय भारतीय एवं यूरोपीय इतिहास कार उस की महानता के भार के नीचे कुछ इस प्रकार दब गये हैं कि उनमें से प्रायः सभी ने इस तथ्य को अपने दृष्टिपथ से परे रख देने का प्रयास किया है कि वह अपने काल के जनसाधारण की उच्च

आकांक्षाओं और उन के उच्चतर शारीरिक एवं मानसिक स्तर का एक प्रतिनिधि मात्र था; वे इस तथ्य को भी नजर-अन्दाज कर गये हैं कि वास्तव में उसे केवल इसी कारण सफलता प्राप्त हो सकी कि उसने स्वतंत्रा का जो बीज बोया, उसे ऐसे योग्य लोगों ने सिंचित किया, एवं सँवारा जो अलग जाति-वर्ग के होते हुए भी हृदय से एक थे तथा जो शिवाजी को अपना सच्चा नायक एवं नेता मानते थे। शिवाजी अपने इन वीर सहगामियों एवं अनुगामियों का प्रतिनिधि मात्र ही था, और उसने कभी भी स्वयं को इस से अधिक नहीं समझा। इस अध्याय में हमारा विषयक्षेत्र होगा शिवाजी के सहगामियों, वीर सैनिकों एवं राजनीतिज्ञों तथा उन धर्मोपदेशकों एवं धर्माचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना, जो इस समय तक पर्याप्त ख्याति एवं सम्मान प्राप्त कर चुके थे। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार का विवरण प्रस्तुत करने का विचार करता है, तो सबसे बड़ी बाधा–जो उसका मार्ग अवरुद्ध करती है, वह है तत्सम्बन्धित आवश्यक-ज्ञान-स्रोतों का अभाव; परन्तु फिर भी जिस कथा का वर्णन करना इस पुस्तक का मुख्य विषय है, उसमें निहित नैतिकता को समझ सकना दुष्कर हो जायेगा, जब तक कि इतिहास के चित्रफलक (कैनवस) पर धुँधले रंगों से ही सही–उन महान् और महत्वपूर्ण पुरुषों के छायाचित्रों को अभिव्यक्त न कर दिया जाय, जिन्होंने शिवाजी की जीवन-कथा को उचित रूप एवं आकार दिया, और उत्तराधिकार में प्राप्त जिन महापुरुषों की स्मृतियाँ हमें अब भी प्रेरणा प्रदान करती हैं।

भूतकाल की ऐतिहासिक चित्रावली में प्रथम स्थान निश्चित रूप से जीजाबाई को दिया जाना चाहिए, जिसकी कोख से वीर शिवाजी पैदा हुआ था। जैसाकि हम पिछले अध्याय में ही देख चुके हैं, वह महाराष्ट्र के प्राचीन गौरवशाली यादव राजाओं के वंश से सम्बन्धित थी तथा उस समय के सब से पहले शक्तिशाली और गर्वीले मराठा जागीरदार की पुत्री थी। जिस ढँग से शाहजी के साथ बचपन में ही उस का विवाह हुआ था, वह कथा भी अत्यन्त रोचक तथा अपने ढँग की अनोखी है। बात उस समय की है, जबकि शाहजी और जीजाबाई दोनों ही की आयु बहुत कम थी। शाहजी के रूपरंग एवं किसी कार्य-विशेष से प्रसन्न होकर जीजाबाई के पिता

के मुँह से अचानक निकल गया कि जीजाबाई का व्याह इसी लड़के से करना उचित है। शाहजी का पिता मालोजी राजे भी जीजाबाई के पिता के साथ ही था। उसके मुँह से यह बात निकलते ही मालोजी ने जीजाबाई को शाहजी की वाग्दत्ता मान लिया और उस के पिता की इच्छा के विरुद्ध उन दोनों को विवाह के पवित्र बन्धन में बाँध कर छोड़ा। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि मालोजी भी अपनी धुन का पक्का था और अपनी टेक पर अतिबलशाली समझे जानेवाले जाधव राव के विरुद्ध भी डटा रह सकता था, जोकि बीस हजार अश्वारोहियों का सरदार था। यदि जाधव राव स्वयं को देवगिरि के यादव राजाओं का वंशज मान कर गर्व करता था, तो शाहजी भी अपने को उदयपुर के राजपूत राजाओं का वंशज मानता था, और स्वयं को जादवराव से रंचमात्र भी कम नहीं समझता था। इस तरह जीजाबाई उच्च कुल में पैदा हुई थी और उच्च कुल में ही उसका विवाह हुआ था। इसके अतिरिक्त उस के हृदय में वह शक्तिमयी प्रेरणा एवं महानता वर्तमान थी, जोकि साधारण कोटि के मनुष्यों को भी महानता की चोटी तक पहुँचा देती है। शाहजी के साथ जीजाबाई के विवाह को जावध राव अपने गौरव पर एक कलंक समझता था; क्योंकि वह मालोजी के वंश को अपने से हीन मानना था, अतः उसके हृदय में अपमान का यह काँटा निरन्तर खटकता रहा; जब घटनाक्रम ने नया मोड़ लिया और शाहजी को अहमदनगर और दौलताबाद में राजाओं को बनाने-बिगाड़ने तक की शक्ति प्राप्त हो गई, तो जाधव राव और शाहजी के बीच विरोध की खाई और भी चौड़ी हो गई। इस विरोध तथा द्वेषभाव से प्रेरित हो कर जादधराव ने मुगल आक्रामकों का पक्ष ग्रहण कर लिया और अन्त में शाहजी को अहमदनगर के राजाओं के साथ किले को भी मुगलों के हाथो सौंप देने के लिए विवश होना पड़ा। जब शाहजी लगभग शक्तिहीन हो कर अहमदनगर से बीजापुर की ओर रवाना हुआ, तो उसके श्वसुर ने बुरी तरह से उस का पीछा किया; उसे अपनी पत्नी को बीच ही में छोड़ देना पड़ा, जिसे स्वयं अपने पिता के हाथ बन्दी बनना पड़ा इन प्रतिकूल परिस्थितियों में जीजाबाई का जीवन एक दम एकाकी हो गया; लगभग इसी समय उसने

शिवाजी महान् को शिवनेर के किले में जन्म दिया। शाहजी तथा जाधवराव के बीच सदैव नंगी तलवार की आड़ रहने के कारण जीजाबाई पति और पिता, दोनों ही द्वारा परित्यक्त थी; अपने पिता के कठोर नियंत्रण में रहते-रहते उसके हृदय में दासता के के विरुद्ध घृणा की भावनाएँ विकसित होने लगीं और धीरे-धीरे वह मुसलमानों की गुलामी के प्रति अपार घृणा का अनुभव करने लगी। इस समय वह एकाकिनी का जीवन व्यतीत कर रही थी, और ऐसी अवस्था के बालक शिवा ही उस का एक मात्र अवलम्ब था। अपने पुत्र को देवताओं, विशेषकर देवी भवानी के संरक्षण में अर्पित करते हुए जीजाबाई ने उस का पालन-पोषण करती; देवी भवानी प्रेरणानुसार ही उसके अपने पुत्र का नाम शिवाजी रक्खा था, और उसका विश्वास था कि भवानी की कृपा से ही वह इतनी विपत्तियों में फँसने पर भी पुत्र सहित जीवित बची हुई थी। शिवनेर के किले में कई वर्ष बिताने के पश्चात् शाहजी की अनुमति लेकर जीजाबाई शिवाजी के साथ पूना स्थित पारिवारिक जागीर में चली गई, जिस का प्रबन्ध इस समय शाहजी के एक विश्वस्त मंत्री दादोजी कोंडदेव के हाथ था। पूना के चारों ओर बिखरे हुए छोटे बड़े परन्तु दृढ़ पर्वतीय गढ़ों को ही शिवाजी अपने लिए एक मात्र सुरक्षा का स्थान मानता था; और उस का सारा समय इन किलों का परिभ्रमण करने में ही व्यतीत होता था। ऐसी धीर वीर माता के साथ, तथा ऐसे सुरक्षित पर्वतीय क्षेत्र में रहने के कारण यदि उसमें कष्ठ-सहिष्णुता एवं साहसिकता के गुणों का विकास नैसर्गिक ढँग पर ही हुआ हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? बालक शिवा अपनी माँ को अत्यधिक प्यार करता था; इतना, कि जिस की कोई सीमा ही नहीं थी। उसे अपने पिता का सम्पर्क या प्यार प्राप्त नहीं था, परन्तु उसकी माँ हर घड़ी उसके साथ रहती थी। उसके सम्पूर्ण जीवन काल में उसकी माँ ही उसका प्रमुख पथप्रदर्शक एवं संरक्षिका देवी रही, जिस के द्वारा प्राप्त प्रशंसा के थोड़े से शब्दों से ही वह अपने किए गए परिश्रम को सफल समझता था और अपराजेय साहस से भर उठता था। शिवाजी अपनी धार्मिक प्रवृत्ति और अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्था के

लिए अपनी माँ का ही ऋणी था जिसने ओज एवं वीरता पूर्ण कार्यों से भरी हुई पौराणिक कथाओं के माध्यम से शिवाजी के बाल हृदय को साहसिक भावना से ओत-प्रोत कर दिया था। जब शाहजी की मृत्यु हो गई। तो जीजाबाई ने प्रारम्भ में सती होकर अपने पति की अनुगामिनी होने का निश्चय किया परन्तु शिवाजी के समझाने बुझाने से उसके हृदय मे जीवित रहने की इच्छा पुनः बलवती हो उठी, और शिवाजी के मोह ने उसे अपने निश्चय से विरत कर दिया। जब शिवाजी दिल्ली के लिए रवाना हुआ तो उसने राज्य का समस्त कार्यभार अपनी माँ के हाथ में सौंप दिया था। अपने जीवन काल की भयंकर से भयंकर आपत्ति के समय शिवाजी ने अपनी माँ के आशीर्वाद को ही अपना एकमात्र अवलम्ब माना, जीजाबाई ने भी देवी भवानी संरक्षण का भरोसा रखकर उसे कठिन से कठिन कार्य को पूरा करने का भार सौंप कर समय-समय पर उसका साहस बढ़ाया। यदि इस तथ्य को सत्य मान लिया जाय कि अनेक महापुरुषों एवं जननायकों ने अपनी माताओं से प्रेरणा प्राप्त करके महान कार्य किए हैं तो हमें यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि शिवाजी को महान बनाने में मुख्य स्रोत था जीजा-बाई का प्रभाव; वही शिवाजी की शक्ति एवं प्रेरणा का एकमात्र स्रोत थी। शिवाजी को महान बनाने में जीजाबाई के अतिरिक्त, प्रभाव डालने वाला दूसरा व्यक्ति था दादोजी कोडदेव जो शिवाजी का गुरु था। शाहजी ने पिता होकर भी शिवाजी के प्रति संरक्षक का भाव कभी भी नहीं रक्खा; उसके स्थान पर दादोजी कोडदेव ने शिवाजी के मानसिक एवं शारीरिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, साथ ही उसकी जागीर का प्रबन्ध भी पूर्ण योग्यता के साथ किया। दादोजी पूना जिले में स्थित मालथान नामक स्थान में पैदा हुआ, था और विभिन्न स्थानों पर रहकर पर्याप्त राजनैतिक अनुभव प्राप्त कर चुका था। शाहजी स्वंय शिवाजी के संरक्षण का भार ग्रहण करके उसके बाल्याकाल में उसे जितना भी स्नेह या शिक्षा प्रदान करते उससे कहीं अधिक स्नेह एवं शिक्षा प्रदान की दादोजी कोडदेव ने, जिसने शिवाजी को उच्चतम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए समर्थ बनाने में अपनी सामर्थ्य भर कोई कसर नहीं रक्खी। दादोजी कोडदेव शिवाजी की सुरक्षित के लिए अत्यन्त चिन्तित तथा सतर्क रहते

थे उसकी सतर्कता की मात्रा इतनी अधिक थी कि प्रायः शिवाजी के निर्द्वन्द्व भ्रमण करने की आदत को छुड़ाने के लिए प्रयत्न शील रहता था। पहाड़ों पर अकेले, खाली हाथ घूमना शिवाजी को बहुत पसन्द था परन्तु इसकी सुरक्षा की दृष्टि से दादोजी कोंडदेव उसे कभी भी इस प्रकार घूमने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता था। उसके हृदय में शिवाजी के लिए स्नेह का सागर उमड़ता था और धीरे-धीरे उसे इस बात पर विश्वास करने के लिए विवश होना पड़ा कि शिवाजी को सामान्य मनुष्यों के स्तर से नहीं मापा जा सकता क्योंकि जिस प्रकार के विचारों को शिवाजी अपने मस्तिष्क में प्रश्रय देना था, जिस प्रकार योजनाएँ वह बनाता था, वे इतने उच्च स्तर की थी कि उनमें असफल हो जाना भी गौरवपूर्ण ही था। शिवाजी की प्रकृतिगत उच्श्रृंखलाता को सही मोड़ देना और एक अनुशासित मार्ग पर उसका पथ-प्रदर्शक किया जाना उसे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ और उस वृद्ध एवं अनुभवी गुरु ने ऐसा करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ा तथा संरक्षक एवं गुरु के सम्मिलित कार्यभार को प्रशंसनीय ढंग से निवाहा। उसने किशोर शिवाजी को प्रारम्भ से ही शान्ति कालीन व्यवस्था, प्रशासन तथा युद्ध सम्बन्धी समस्त आवश्यक अंगो में कुशल प्रशिक्षण दिया; उसने इनके अतिरिक्त एक और विषय में, अपने इस महान शिष्य को विशेष प्रशिक्षण दिया, जो भविष्य में शिवाजी के सैन्य-संगठन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, और वह था—अनुशासनहीन सैन्यदलों को संगठन एवं नियंत्रण का ढंग। राज्य की आन्तरिक व्यस्था की कला में दादाजी कोंडदेव पूर्व रूप से पारंगत था जिस समय उसने शाहजी की पूजा-स्थित जागीर का कार्यभार ग्रहण किया, उस समय तक निरन्तर अकाल पड़ने के कारण जागीर की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी; बीजापुर रियासत एवं मुगलों के बीच हुए युद्धों ने भी इस प्रकार की दीन-हीन परिस्थिति उत्पन्न करने में यथेष्ट सहयोग दिया था। पूना नगर लगभग वीरान हो चुका था। भेड़ियों के झुण्ड दिन दहाड़े बस्तियों में चक्कर लगाया करते थे, और डाकुओं के दलों ने हर तरफ अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसके कारण न तो खेती-बारी हो पाती थी और न पशु-पालन। परन्तु कार्यभार ग्रहण

करने के पश्चात्, कुछ वर्षों में ही, दादोजी ने पारितोषिक देने की घोषणा करा के भेड़ियों को मारने और भगा देने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया, और अन्त में भेड़ियों का अपने क्षेत्र में सर्वनाश करके ही दम लिया। दूसरा संकट था डाकुओं का जिन्हें उसने सैन्य दल से शीघ्र ही कुचल डाला। अब प्रश्न आया इस वीरान इलाके को फिर से बसाने का; इसके लिए दादोजी ने लम्बी और सुविधाजनक किस्तों पर उन लोगों के नाम जमीन का पट्टा कर दिया जो पुनः कृषिकार्य करने के लिए तैयार हुए, और दस वर्ष बीतते-बीतते दादोजी अपने स्वामी को यह दिखाने में सफल हुआ कि जागीर अब समृद्ध दशा में है। जागीर की सुधरी हुई आर्थिक दशा से उत्साहित होकर दादोजी ने एक पर्याप्त बड़ी संख्या में पैदल सैनिकों का संगठन किया और अपने क्षेत्र के समस्त पहाड़ी किलों की मरम्मत कराकर उनकी सुरक्षा के लिए कुशल प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार पूना और सूपा, इन्दापुर और बारामती तथा क्षेत्र के मावलियों ने एक बार पुनः शान्ति और सुव्यस्थित नियंत्रण से परिपूर्ण शासन व्यवस्था में समृद्ध जीवन बिताना प्रारम्भ किया। विभिन्न प्रकार के फलों-फूलों के वृक्ष धरती के आँचल में फलों-फूलों की वृष्ठि करने लगे और सारे क्षेत्रों में हरी भरी फसलें लहलहाने लगी। इस महान ब्राह्मण मंत्री की बुद्धि के प्रतीक रूप में शिवापुर अब भी भ्रमणार्थियों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। दादोजी कोंडदेव का अनुशासन एवं नियंत्रण इतना दृढ़ था कि एक बार जब बिना अनुमति के अपने स्वामी के उद्यान के एक वृक्ष में से पका आम तोड़ लेने की इच्छा उसके हृदय में उत्पन्न हुई, तो उसने इतने अधिक पश्चाताप का अनुभव किया कि अपने साथ के सैनिकों से उसने अपना दाहिना हाथ काट डालने को कहा जिसने उसकी अनुचित इच्छा को पूर्ण करने में उसे सहयोग दिया था—ऐसी थी उसकी न्याय भावना। उसके इस आदेश पर उसके साथी तथा सैनिक हिचके और तरह तरह से समझा कर उन्होंने उसे अपना यह फैसला बदल देने के लिए विवश किया और उसका हाथ बचा रह गया परन्तु अचेतन मन द्वारा किए गए इस अपराध को सदैव स्मरण रखने की दृष्टि से उसने अपने दाहिने हाथ की आस्तीन को कटवा डाला

और उसकी दाहिनी बाँह सदैव नंगी ही रही जब तक कि स्वयम् शाहजी ने उसे ऐसा न करने का आदेश नहीं दे दिया। वास्तव में दादोजी की महत्वाकांक्षा पुरातन विचार धारा पर आधारित थी और वह शिवाजी को उसके पिता एवं पितामह की भाँति से एक युद्धक दल का नायक बनाना चाहता था। अपने अन्तिम क्षणों में ही, दादोजी विचारों एवं महत्वाकांक्षा की उस ऊँचाई तक पहुंच सका जिस पर शिवाजी का हृदय मँडरा रहा था–शिवाजी विभिन्न छोटे-छोटे लड़ाकू सरदारों की बिखरी शक्ति को संगठित करके सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा देश को मुसलमानों के दासतारूपी जुए से मुक्ति दिलाना चाहता था। अस्तु, जब दादोजी को पूर्ण विश्वास एवं संतोष हो गया कि अपने में महानता का बीज छिपाए उसका योग्य शिष्य अपने महान स्वप्न को साकार बनाने के लिए पूर्ण समर्थ हो चुका है तो उसने उसकी सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना की और मरने के पूर्व उसे सफल एवं विजयी होने का आशीर्वाद देकर वह उसे प्रेरित करता गया। अपने महान गुरु के दिवगंत होने के उपरान्त शिवाजी न अपनी राजस्व व्यवस्था एवं आन्तरिक प्रशासन को दादोजी की व्यवस्था के अनुसार ही नियोजित किया।

यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यदि उसकी उच्चश्रृंखलता को मोड़कर उचित मार्ग प्रदान करने वाला वह महान पथ-प्रदर्शक शिवाजी को न मिला होता तो शिवाजी अपने उद्देश्य में जो सफलता प्राप्त की, वह सम्भवतः उतनी निश्चित एवं स्थायी न रह जाती, जितनी कि अन्त में हुई।

जिस समय दादो जी की मृत्यु हुई उस समय तोरण पर अधिकार करके तथा रायगढ़ की किले बन्दी करके शिवाजी ने अपने साहसिक और संकट पूर्ण जीवन का श्रीगणेश किया ही था। अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में, अर्थात शिवाजी की परिवारिक जागीर के प्रशासन काल में दादोजी ने अनेक ब्राह्मण कारकूतों को प्रशासन एवं राजनीति में प्रशिक्षित कर डाला था, ताकि उसकी मृत्यु के पश्चात शिवाजी को दूरदर्शी और कुशल परामर्शदाताओं का अभाव न रह जाय; इन सभी ब्राह्मण युवकों को शिवाजी की विस्तृत एवं महत्वा-

काक्षांपूर्ण योजना को दृष्टि में रख कर ही प्रशिक्षित किया था। दादाजी सोनदेव, रघुनाथ बल्लाल, शामराज पन्त, ज्येष्ठ पिंगले, मोरोपन्त का पिता, और नारोपन्त हनमन्ते, इन सभी लोगों को इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया गया था कि वे यथावसर, सेनानायकों का कार्यभार भी ग्रहण कर सकते थे, देश के प्रशासन में भी शिवाजी का हाथ बँटा सकते थे। ये सभी युवक-सहयोगी अपने युवा स्वामी की साहसिक प्रवृत्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे; वे, तथा अनेकों अन्य व्यक्ति शिवाजी की महत्वाकांक्षापूर्ण योजनाओं को पूरा करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए, इस श्रेणी के अन्य प्रमुख व्यक्ति थे मोरोपन्त पिंगले, प्रएणाजी दत्तो, नीराजी पण्डित, रावजी सोमनाथ, दत्ताजी गोपीनाथ, रघुनाथ पन्त, और गंगाजी मंसा जो। इन सभी युवक-सहगामियों ने नये स्वातत्र्यंवादी आन्दोलन का प्रतिनिधित्व किया। शिवाजी के उद्देश्य की सफलता को पूर्णरूप से निश्चित बनाने के लिए लौह हस्तों और फौलादी हृदयों की आवश्यकता को पूर्ण किया मावली सरदारों ने जिनसे शिवाजी ने अपने बाल्यकाल से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रक्खा था। इन सरदारों में से अनेकों का उल्लेख विभिन्न इतिहासों में दिखाई पड़ता है—जैसे पेसाजी कङ्क, तानाजी मालूसरे और बाजी फसलकर, जो अपने-अपने पहाड़ी किलों के कठिन और साहसिक वातावरण में ही खेल खाकर बड़े हुए थे; फिरगो जी नरसाले, सम्भाजी कावजी, मणकोजी दहातोण्दे, गोमाजी नायक, नेता जी पालकर, सूर्याजी मालूसरे, हीरो जी फर्जन्द और देवजीगढ़ेव आदि भी इसी मावली जाति के सरदार थे। कुछ ही समय पश्चात् कुछ अन्य वीर मावली सरदार भी शिवाजी से आ मिले जिनमें से मुख्य थे बाजी सरदारगण-महाद का मुरार बाजी प्रभु, हिरदस मावल का बाजीप्रभु और हब्शियों के क्षेत्र का बालाजी आवजी चिटनिस। ये दोनों बाजी सरदार प्रारम्भ में शिवाजी के प्रतिपक्षियों की सेना में थे जिन्हें उनकी वीरता और उनके साहस से प्रभावित होकर शिवाजी ने अपनी सेना में नियुक्त कर लिया था। शिवाजी के व्यक्तित्व में एक ऐसी आकर्षक मोहकता थी कि उसके शत्रु भी (जिन्हें कि वह युद्ध क्षेत्र में पराजित कर चुका होता था।) उसका विश्वस्त अनुगामी बनने में गौरव का अनुभव करते थे। अपने साहसिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ब्राह्मण, प्रभु, और मावली

सरदार ही उसकी शक्ति के प्रमुख स्रोत थे। जब शिवाजी ने छोटे पैमाने पर अपने स्वातंत्र्य आन्दोलन का शुभारम्भ किया तो बीजापुर एवं अहमदनगर के मुसलमान शासकों की सेवा में नियुक्त अनेक प्रभावशाली मराठा परिवारों के प्रतिनिधि द्वारा कोई सहयोग मिलना तो दूर रहा, उल्टे वे इस आन्दोलन के प्रबल शत्रु बन बैठे। सूपा में स्थित शाहजी के एक सम्बन्धी के ऊपर इन्हीं शत्रुओं में से किसी ने एक बार, द्वेषवश ही, आक्रमण करके उसे कैद कर लिया था और कर्नाटक भेज दिया था।

इसी प्रकार मुधोल के बाजी घोरपड़े ने अत्यन्त क्षुद्र प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हुए, बीजापुर के सुल्तान के कहने में आकर शाहजी को कैद कर लिया था; उसके इस दुष्टतापूर्ण कार्य के लिए शिवाजी ने उससे भयानक बदला लेते हुए उसका सिर सदैव के लिए कुचल दिया। जावली के मोरे परिवार ने शिवाजी की हत्या कराने के उद्देश्य से बीजापुर के एक ब्राह्मण हत्यारे को अपने यहाँ छिपा रक्खा था; जब मोरे परिवार की इस दुरभिसन्धि का पता शिवाजी को लगा तो उन्होने इतने छल से इस परिवार को शक्तिहीन बना दिया की वे भविष्य में पुनः सिर उठाने के योग्य न रह गए। इसी तरह वादी के सावन्त, कोंकण के दालवी तथा शृंगारपुर के शिरके और सर्वे आदि ने भी शिवाजी के मार्ग के रोड़ा अटकाने का प्रयास किया और इस नए आन्दोलन में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया, अन्त में शिवाजी ने उनका सशक्त दमन किया और सावन्तों को तो पूर्णतः अपनी सत्ता के आधीन ही कर लिया। फल्टन के निम्बलकर, म्हासबड़ के माने, और जन्जार राव घडगे (जिनमें से सभी बीजापुर रियासत की सेवा में थे) इस राष्ट्रीय आन्दोलन के विरूद्ध संघर्ष करते रहे जिसे शिवाजी ने संगठित किया था, और अपने पुराने मालिक की खिजमत करने में ही स्वयम् को गौरवान्वित समझते रहे। इस प्रकार यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इस स्वातंत्र्य-आन्दोलन की शक्ति का आधार उच्चवर्ग नहीं, बल्कि जनता का मध्यवर्ग था, तथा पुराने मराठा जागीरदारों के परिवारों से प्रारम्भ में इस आन्दोलन को बहुत साधारण या बिलकुल नगण्य सहयोग प्राप्त हुआ था। अस्तु, जब शिवाजी ने विरोधी सरदारों के प्रयासों का दमन करके अपनी प्रारम्भिक

कठिनाइयों को हल करन में कुछ सफलता प्राप्त कर ली, तो उच्चतम परिवारों एवं वर्गों में उत्पन्न उष्ण रक्त से ओत प्रोत युवकों की नई पीढ़ी ने बिना किसी भेद भाव के शिवाजी की सेना में प्रवेश किया, एवं उसका विश्वास पात्र बन कर विभिन्न उत्तरदायित्व पूर्ण पदों का कार्यभार सम्भाला। प्रतापराव गूजर, हम्बीरराव मोहिते, शिदोजी निम्बलकर, सम्भाजी मोरे सूर्यराव काकड़े, सान्ताजी घोरपड़े, धनाजी जादव, खण्डेराव डाभाड़े, परसोजी और रूपा जी भोंसले तथा नेमाजी शिन्दे—ये नाम ऐसे वीर सरदारों के हैं जो शिवाजी के साहसिक जीवन के उत्तरार्ध में उसके सम्पर्क में आए, और अपने उत्साहपूर्ण प्रयत्नों से, न केवल मध्य तथा निम्न वर्ग, बल्कि देश के सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक कुलीन तथा सामन्तवादी परिवारों की भी सहानुभूति इस आन्दोलन को प्राप्त हुई जिसके कारण शिवाजी का कार्य द्विगुणीत वेग से आगे बढ़ने लगा। यह एक अत्यन्त ही उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण तत्थय है, क्योंकि इससे यह बात स्पष्ट हो जाती हैं कि यह आन्दोलन साधारण जनता के बल पर उन लोगों द्वारा प्रारम्भ किया गया था, जो अपने सद्गुणों द्वारा जनता की सद्भावना प्राप्त करके जन-नायक बने थे, इन नेताओं ने उसी समय इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया जब उन्हें विश्वास हो गया कि अब जनता में जाग्रति आ गई है और सफलता निश्चित है।

शिवाजी द्वारा संचालित इस महान आन्दोलन का प्रभाव केवल हिन्दूओं पर ही पड़ा हो ऐसी बात नहीं है; अनेक मुसलमानों ने भी उसके उद्देश्य को महानता का अनुभव किया एवं उसकी सेना में सम्मिलित होकर उसे सक्रिय सहयोग दिया। शिवाजी की जल सेना का मुख्य सेनापति दरिया सुरंग नामक एक मुसलमान ही था जिसने मुगलों के सहायक सीढ़ी जल सैनिकों से वीरता पूर्वक युद्ध किया था, इसी प्रकार उसकी स्थल सेना का एक प्रमुख नायक था, पठान सरदार इब्राहीम खाँ। बीजापुर एवं गोलकुण्डा की सेनाओं से विघटित मुसलमान सैनिकों में से अधिकांश ने शिवाजी की सेना में नियुक्ति प्राप्त कर ली थी और अलग अलग टुकड़ियों के रूप में उन्होंने शिवाजी की समय-समय पर पर्याप्त सहायता की थी।

शिवाजी की सेना में एक तरफ ब्राह्मण और प्रभु सरदारों तथा दूसरी ओर मावली एवं मराठा सरदारों के पारस्परिक अनुपात का सही-सही ज्ञान केवल इसी बात से प्राप्त किया जा सकता है कि मिस्टर ग्रान्ट डफ ने अपने विशाल ग्रंथ 'हिस्ट्री आव द मराठाज' में बीस ब्राह्मण और चार प्रभु सरदारों के नाम का उल्लेख किया है जब कि मावली और मराठा सरदारों की संख्या बीस दी गई है। जब कि शिवाजी की सेना में मावली और मराठों की संख्या बीस थी, बीजापुर एवं मुगलों की सेना में चौदह मावली और मराठा सरदार नियुक्त थे। शिवाजी के शासन प्रबन्ध के अनुसार केवल दो मंत्रियों–पंडितराव और न्यायाधीश को छोड़कर शेष मंत्रियों को दुहरा उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था; वे सैन्य संचालन का कार्यभार सम्भालने के साथ राज्य आंतरिक प्रशासन में भी पूर्ण सहयोग देते थे; और विशेषता यह कि वे उन दोनों कार्यभारों का निर्वाह समान कुशलता के साथ करते थे। देशी बखरों (ऐतिहासिक वृत्तान्तों) में ऊपर दी गई सरदारों की संख्या को दो गुना अधिक बताया गया है परन्तु उनके वर्णनों से भी विभिन्न वर्गों एवं जातियों के सरदारों के पारस्परिक अनुपात में कोई उल्लेखनीय अन्तर परिलक्षित नहीं होता। चिटनिस के उल्लेखनीय बखर में पचास ब्राह्मण और प्रभु सरदारों के साथ चालीस मावली एवं मराठा सरदारों के नाम का उल्लेख किया गया है, यद्यपि इस वृतान्त की अन्तिम सूची में (जो कि ग्रंथ के अन्त में में दी गई है) में ७५ मावली और मराठा सरदारों के साथ केवल पैंतालीस ब्राह्मण सरदारों के नाम का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार मोटे तौर पर शिवाजी के कुशल संचालन में विभिन्न वर्गों एवं जातियों के लगभग सौ व्यक्तियों ने बीर सरदारों के रूप में ख्याति प्राप्त की और उस हिन्दू राज्य के प्रमुख स्तम्भवित जिसकी स्थापना शिवाजी द्वारा की गई और जिसका केन्द्र बना रायगढ़ का सुदृढ़ पर्वतीय गढ़ तथा जिसकी स्थापना का एक मात्र उद्देश्य था मुसलमानों का बिरोध करके दासता के जुए को उतार फेंकना। इस छोटी सी पुस्तिका में हम इन अनेक सरदारों में से केवल कुछ का ही विवरण देने में समर्थ हो सकेंगे जिनके बीरता पूर्ण कार्यों की स्मृति चारणों के प्रेरक गीतों द्वारा अमरत्व प्राप्त कर चुकी है। जिनका नाम इतिहास के पन्नों में अंकित हो चुका है परन्तु जिन इने गिने

नामों का उल्लेख करने का प्रयास हम आगे के पृष्ठों में करेंगे वे उन लोगों के प्रतिनिधि मात्र ही थे जिन्होंने अपने छोटे पद पर ही रहकर अपने शौर्य साहस एवं अपनी देश भक्ति एवं स्वामिभक्ति का अप्रतिभ प्रदर्शन किया था; और शिवाजी को प्राप्त सफलता का आधाश्रेय वास्तव में इन्हीं वीर और स्वामिभक्त सैनिकों को दिया जाना चाहिए।

सर्व प्रथम हम प्रमुख ब्राह्मण सरदारों का उल्लेख करेंगे जिनमें सर्व प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए हनमन्ते परिवार को। इस परिवार के स्वामी नारोपन्त हनमन्ते को शाह जी का पूर्ण विश्वास प्राप्त था और जिस प्रकार दादों जी कोंडदेव पूना की जागीर का कार्य भार सम्भाले हुए था उसी प्रकार कर्नाटक की जागीर का प्रबन्ध भार नारोपन्त हनमन्ते के हाथ में छोड़कर शाह जी इन झन्झटों से पूर्णतः मुक्ति पा गए थे। उसके दो पुत्र थे रघुनाथ नारायण एवं जनार्दन पन्त ये दोनों भी अपने पिता की भांति स्वामिभक्ति की भावना से ओत-प्रोत थे। रघुनाथ पन्त ने शाहजी के दूसरे पुत्र वेणको जी के लिये तंजौर में एक राज्य का निर्माण करने में शाह जी को पर्याप्त सहायता पहुँचाई और जब उसके तथा शाह जी के बीच भ्रमवश कुछ मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया तो वह गिंगी के पर्वतीय गढ़ में शान्तिपूर्वक अपने दिन बिताने लगा, और धीरे-धीरे अवसर पाकर गिंगी के साथ साथ अरकन्ट के एक भाग और वेल्लोर को भी अपने अधिकार में कर लिया तथा मैसूर की सामरिक महत्व की अनेक चौकियों पर भी उसका अधिकार हो गया। अब उसने शिवाजी से कर्नाटक की ओर राज्य विस्तार करने का अनुरोध किया; उसके अनुरोध से प्रेरित होकर ही शिवाजी ने कर्नाटक एवं द्रविड़ क्षेत्रों की ओर अपना अन्तिम अभियान प्रारम्भ किया था। दक्षिण में विभिन्न स्थानों पर अधिकार कर लेने का महत्व उस समय अनुभव किया गया था जब कि औरंगजेब ने सम्भा जी को कैद कर लिया और एक के बाद एक अनेक पर्वतीय गढ़ों पर अधिकार जमा लिया था अन्त में विवश होकर मराठा सरदारों को दक्षिण की ओर वापस लौटना, पड़ा और उन्होंने गिंगी में शरण तथा सुरक्षा प्राप्त की कुछ बर्ष वहीं रहकर उन्होंने पुनः अपनी सेना संख्या बढ़ाई और अपने देश को वापस लौट पड़े, इस बार परेशान होने और पीछे हटने की

बारी थी। औरंगजेब की मराठों ने औरंगजेब को नाको चने चबवा दिये और पिछली पराजय का पूरा पूरा बदला लिया। रघुनाथ पन्त के छोटे भाई जनार्दन पन्त ने मुगलों के साथ हुए अन्तिम युद्धों में शिवाजी का साथ दिया। इस प्रकार हनमन्ते परिवार के इन वीरों में फौलाद की दृढ़ता होने के साथ उनमें एक अच्छे मंत्री के सभी गुण मौजूद थे, और समय समय पर इनकी मंत्रणाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

इनके पश्चात् शिवाजी की शक्ति का दूसरा प्रमुख आधार था मोरोपन्त पिंगले, उसने शिवाजी द्वारा स्थापित हिन्दू राज्य के विकास में पर्याप्त योग दिया, और राज्य की सीमा को उत्तरी कोंकण तथा बालगन तक विस्तृत किया। उसकी इन अनन्य सेवाओं से प्रसन्न होकर शिवाजी ने उसे अपना पेशवा बनाकर उसका विशेष सम्मान किया वह किलों के निर्माण एवम् उनकी सुरक्षा की व्यवस्था का विशेषज्ञ था, साथ ही सैन्य संगठन में वह अत्यन्त कुशल था, तथा शिवाजी की सेना का संगठन उसी ने किया था। उसका पिता कर्नाटक में शाहजी की सेवा में ही नियुक्त था और मोरोपन्त भी अपने पिता के साथ वहीं रहता था, परन्तु शिवाजी के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह कर्नाटक से पूना चला आया और १६५३ ई० में शिवाजी की सेना में नियुक्ति प्राप्त की। उस समय शिवाजी कोंकण में सीदियों एवम् सावन्तों के विरुद्ध संघर्षरत था, इस युद्ध का संचालन कर रहा था प्रथम पेशवा, शामराजपन्त, परन्तु उसकी सफलता का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहा था। शिवाजी ने मोरोपन्त में निहित सैन्य संचालन की योग्यता का अनुभव किया और इस कार्य को पूर्ण करने के लिए उसे कोंकण रवाना कर दिया, और उसकी आशा के अनुकूल, मोरोपन्त शीघ्र ही सफलता प्राप्त करके लौट आया। शिवाजी के जीवनकाल के उत्तरार्ध में जितने भी महान या महत्वपूर्ण युद्ध हुए, उनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसमें मोरोपन्त सम्मिलित न रहा हो। अपने स्वामी शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् वह भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका। उसके परिवार में पेशवा का पद तब तक पैतृक बना रहा जब तक कि राजा शाहू ने १७१४ में बालाजी विश्वनाथ को पेशवा की मसनद पर नहीं बैठा दिया। वह प्रशासन के सम्बन्ध

में शिवाजी का प्रमुख परामर्शदाता था साथ ही उसका प्रमुख सेनापति भी था। उस समय कोई अन्य व्यक्ति ऐसा नहीं था जो मोरोपन्त के समान शक्तिशाली, समर्थ, तथा राष्ट्र-हित चिन्तक रहा हो।

शिवाजी की शक्ति के प्रमुख स्तम्भों की सूची में अगला नाम आता है आवाजी सोनदेव का, जो कि उसी पाठशाला में प्रशिक्षित किया गया जहाँ से पिगले एवम् हनमन्ते परिवार के सदस्यों में प्रेरणा प्राप्त की थी। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने जागीर की सीमा के बाहर राज्य-विस्तार की योजना को जन्म दिया, और कल्याण पर आक्रमण एवं अधिकार कर के वहाँ अपनी चौकी स्थापित कर दी। यद्यपि मुगलों ने एकाधिक बार कल्याण को अपने अधिकार में कर लिया परन्तु फिर भी, कोंकण के सूबेदार के रूप में, आबाजी सोनदेव ने कभी भी इस चौकी को अधिक समय तक मुगलों के हाथ में नहीं रहने दिया, और यह मराठा राज्य की प्रथम चौकी बनी रही। मोरोपन्त की ही भाँति वह भी किलों का निर्माण करने की कला में अत्यन्त दक्ष था। जब शिवाजी दिल्ली चला गया, और शासन का समस्त भार जीजाबाई के हाथो में आया उस समय मोरोपत एवम् आबाजी सोनदेव ही जीजा बाई के प्रमुख परामर्श दाता थे। जिस समय शिवाजी का राज्यारोहण हुआ, उस समय आवाजी सोमदेव को मजुमदार तथा उसके लड़के को अमात्य के पद पर नियुक्त किया गया।

राघो बल्लाल आत्रे ने सीदियों के विरुद्ध युद्ध में अपरिमित शौर्य का प्रदर्शन किया और शीघ्र ही शिवाजी का विश्वास पात्र बन गया। शिवा जी के विरोधी चन्द्रराव मोरे का दमन करने में भी उसने प्रमुख भाग लिया और प्रशंसनीय साहस का प्रदर्शन किया। उसकी नेतृत्व शक्ति का स्पष्ट आभास इसी तथ्य से मिलजाता है कि शिवाजी की सेना में नियुक्त होनेवाले पठानों को प्रारम्भ में उसी की कमान में रक्खा जाता था।

अण्णा जी दत्तो एक अन्य प्रसिद्ध ब्राह्मण सरदार था जो अपने गुणों एवम् साहस के बल पर, शिवाजी के शासन काल में, पहले 'सरनीस' का पद प्राप्त किया एवं तदोपरान्त 'पन्तसचिव' बनने का सम्मान प्राप्त किया। उसने पन्हाला और रागंणा की विजयों में महत्वपूर्ण भाग

लिया था; कोंकण के युद्ध में भी उसने सक्रिय सहयोग दिया था; प्रथम कर्नाटक अभियान का नेतृत्व उसी के हाथ में दिया गया था, हुबली की लूटपाट में उसका प्रमुख हाथ था। जिसप्रकार उत्तरी कोंकण और बालगन का शासन प्रबन्ध आबाजी सोनदेव तथा मोरोपन्त के हाथ में था उसी उसी प्रकार दक्षिणी कोंकण की सारी व्यवस्था उसी को सौंप दी गई थी। जिस समय शिवाजी दिल्ली गया हुआ था, अराणा जी दत्तों भी मोरोपन्त एवं आबाजी सोनदेव की भाँति सम्पूर्ण राज्य के शासन प्रबन्ध में राज्यमाता जीजाबाई की सहायता करता था, इस प्रकार इन तीनों सरदारों ने शिवाजी की अनुपस्थिति में भी राज्य के शासन प्रबन्ध में किसी भी तरह की शिथिलता नहीं आने दी थी।

दत्ताजी गोपीनाथ 'वाकनीस' और मंत्री था, शिवाजी के घरेलू मामलों का सारा प्रबन्ध वहीं देखता था; अफजल खाँ वाले मामले में उसने शिवाजी की काफी सेवा तथा सहायता की थी। मराठा इतिहास के उत्तरार्ध का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सखाराम बाबू इसी परिवार की सन्तान था।

बरार के जिन क्षेत्रों को शिवाजी ने अपने अधिकार में कर लिया था उनकी शासन व्यवस्था का समस्त भार रावजी शोभनाथ के कन्धों पर था; कोंकण के युद्धों में भी रावजी सोभनाथ ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया था। उसका पिता सोमनाथ 'दबिर' तथा विदेश मंत्री था, और उसकी मृत्यु के पश्चात इन दोनों पदों पर जनार्दनपन्त हनुमन्ते को नियुक्त किया गया था।

नीराजी रावजी 'न्यायाधीश' के पद पर था और उसका लड़का प्रह्लाद गोलकुण्डा में शिवाजी का राजदूत नियुक्त किया गया था, तथा राजाराम के समय में 'प्रतिनिधि' के पद पर पहुंच गया था क्योंकि उसने जिंजी की सुरक्षा-प्रतिरक्षा की व्यवस्था करने में जिस सूझ-बूझ से काम लिया था वह राजाराम को बहुत पसन्द आया था।

प्रभु सरदारों और मंत्रियों में प्रमुख नाम हैं मुरार बाजी, बाजी प्रभु, और बाला जी आवाजी; अब हम क्रम से इनका वर्णन करेंगे।

मुरार बाजी को पुरन्दर गढ़ की सुरक्षा का भार सौंपा गया था; मुगल सिपहसालार दिलेर खाँ द्वारा इस पर्वतीय गढ़ पर किए गए आक्रमण का मुरार बाजी ने बहुत करारा उत्तर दिया था, यद्यपि इस युद्ध में पुरन्दर के सुरक्षा की कीमत उसे अपनी जान से चुकानी पड़ी।

बाजी प्रभु पहिले शिवाजी का प्रबल शत्रु था परन्तु बाद में शिवाजी के व्यक्तित्व से मोहित होकर वह शिवाजी का अनन्य अनुयायी बन गया। जब शिवाजी को पनहाला से भागने पर विवश होना पड़ा और उसने रागणा में शरण लिया तो वह एक सँकरे पर्वतीय मार्ग में केवल एक हजार जवानों के साथ शत्रु को शिवाजी का पीछा करने से रोकने के लिए डट गया जहाँ उसने प्रति इंच भूमि के लिए जमकर संघर्ष किया; उधर विपक्ष में बीजापुर का सेनापति विशाल उमड़ती हुई सेना के साथ प्राणपण से सँकरे मार्ग को पार करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था, परन्तु बाजी प्रभु तब तक अपने स्थान से नहीं हिला जब तक उसे तोप के गोले की ध्वनि द्वारा यह संकेत नहीं मिल गया कि शिवाजी सुरक्षित रूप से रांगणा में पहुँच गये हैं। अब तक वह बुरी तरह घायल हो चुका था, और यमराज के महिष की घंटियाँ उसके कानों में मृत्यु का सन्देश दे रही थीं; चूँकि उसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया था और उसका स्वामी सुरक्षित था, अतः उसे मरने में कोई वेदना नहीं हुई, और हँसते हँसते युद्धक्षेत्र में ही उसने अपना प्राण छोड़ दिया। बाजी प्रभु ने अवसर पर जिस वीरता एवं आत्मबलिदान का प्रदर्शन किया था, उसकी तुलना धर्मोपिले के दर्रे की वीरतापूर्ण प्रतिरक्षा से की जाती है जिसके ग्रीक इतिहास के पाठक भलिभाँति परिचित होंगे।

शेष बचा बालाजी आवजी, जो हब्शी की सेवा में नियुक्त एक उच्चकुल में पैदा हुआ था। जैसा कि कुछ समय बाद बालाजी विश्वनाथ को करना पड़ा, उसे भी अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपनी मातृभूमि से भाग निकलने को विवश हो जाना पड़ा। अपने बुद्धि चातुर्य के बल पर उसने १६४८ में शिवाजी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ और शिवाजी के जीवन पर्यन्त वह उसका अनन्य सहचर बना रहा। शिवाजी के बाद के दो

शासकों के शासनकाल में उसके पुत्र एवं प्रपौत्र ने भी महत्वपूर्ण कार्य किये और उसके ही वंशजों में से एक ने वह विख्यात ऐतिहासिक बृत्तान्त लिखा जो चिटनिस के 'बखर' के नाम से विख्यात है।

शिवाजी के मावली अनुगामियों में प्रमुख था पेसाजी कणक जी मावलियों की पदाति सैन्य का मुख्य सेनापति था। शिवाजी की प्रारम्भिक विजयों में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था। वह और तानाजी अपने जीवन पर्यन्त शिवाजी को सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहे और उसके विश्वास पात्र बने रहे। जब शिवाजी ने अफ़जल खाँ का वध किया, उस समय पेसाजी एवं तानाजी, दोनों ही मावली सरदार उसके साथ थे, जब शिवाजी ने शाईस्ता खाँ के महल में घुसकर उसकी एक उँगली काट ली थी उस समय भी उसके अनन्य सहचर उसके साथ ही थे। शिवाजी के दिल्ली जाते समय भी इन दोनों सरदारों ने उसका साथ दिया था।

देशी चारणों और भाटों द्वारा तानाजी भालूसरे और उसके भाई सूर्याजी को अमर बना दिया गया है जिन्होंने सिंहगढ़ पर चढ़ने के प्रयास में अप्रतिम शौर्य का प्रदर्शन किया था; इस दुस्साहसिक प्रयास में तानाजी को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी थी, जिससे क्रुद्ध होकर सूर्याजी ने सिंहगढ़ से अपने भाई की मृत्यु का पूरा-पूरा बदला लिया था।

इन तीन महान मावली वीरों के उल्लेख के उपरान्त बाजी फसलकर देशमुख का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जिसने कोंकण में सावन्तों के साथ संग्राम करते समय वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया था। उसके पश्चात् सूची में पाँचवाँ नाम आता है फिरंगोजी नरसलिका, जिसके सशक्त कन्धों पर मुगलों द्वारा चाकण के किले की सुरक्षा का भार रक्खा गया था; परन्तु शिवाजी के सद्गुणों से आकर्षित होकर उसने इस सुदृढ़ गढ़ को शिवाजी के हाथ समर्पित कर दिया था। वह उन लोगों में से एक था जो प्रारम्भ में शिवाजी के घोर शत्रु थे परन्तु बाद में उसके विश्वस्त अनुगामी बन गए थे। जब मुगलों ने पुनः अधिकार कर लिया तो उन्होंने फिरंगोजी को तरह तरह का प्रलोभन देकर पुनः अपने पक्ष में खींचना चाहा, परन्तु उसने

मुगलों का कृपापात्र बनना स्वीकार नहीं किया और शिवाजी की सेना में सम्मिलित हो गया।

फिरंगोजी के पश्चात् मावली सरदारों की सूची में सम्भाजी मावजी का नाम उल्लेखनीय है जिसने रघुनाथपन्त के साथ जावली पर आक्रमण किया था, जिसने शिवाजी का विरोधी चन्द्रराव मोरे मारा गया था। जब पेसाजी कङ्क मावलियों की पदाति सेना का मुख्य सेनापति था, उस समय नेताजी पालकर अश्वारोही सेना का सेनाध्यक्ष था। वह शिवाजी की सेना का सर्वाधिक साहसी सेनानायक था, और लूट-पाट से सम्बन्धित अभियानों में वह शिवाजी का अन्यतम सहचर था; उसने शिवाजी के लूटपाट के क्षेत्र को अहमदनगर जालना और औरंगाबाद तक विस्तृत कर दिया था। जहाँ कहीं भी शिवाजी के राज्य पर संकट दिखाई पड़ता, नेताजी पालकर विद्युत-गति से वहाँ उपस्थित हो जाता; ऐसी कोई भी जगह नहीं थी जहाँ नेताजी संकट के अवसर पर उपस्थित न दिखाई पड़ता।

शिवाजी की अश्वारोही सैन्य का द्वितीय सेनापति था प्रतापराव गूजर; जिस पर शिवाजी अत्यधिक विश्वास रखते थे; मुगल सेना को बागलन में तथा बीजापुर की सेना को पनहाला के निकट पराजित करके उसने शिवाजी के इस विश्वास की सत्यता को पूर्णतः सिद्ध कर दिया। औरंगाबाद में स्थित शिवाजी की सेना के नायकत्व का भार उस समय उसी को सौंपा गया था जब कि दो वर्षों के बीच शिवाजी एवं मुगल बादशाह में युद्ध स्थान की स्थिति चल रही थी। जब शिवाजी के आदेशानुसार वह बीजापुर के सैनिकों का पीछा अन्त तक न कर सका तो शिवाजी ने उसकी लापरवाही के लिए उसे काफी भला बुरा कहा; जब दूसरी बार उसे शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा तो उसने जान की बाजी लगाकर शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त की जैसा कि तानाजी माल्टसहे. बाजी प्रभु, बाजी फसलकर और सूर्याराव काकड़े ने किया था।

इन सेनानायकों की अपेक्षा कम उम्र एवं कम महत्व के नायकों ने खण्डेरावडाभाडे, परसो जी भोंसले, सान्ताजो घोरपड़े और धनाजी जादव के नाम विशेष उल्लेखनीय है; शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त

इनमें से प्रायः सभी युवक सरदारों ने अगली पीढ़ी में विशेष ख्याति प्राप्त की। इनमें से प्रथम दो ने गुजरात और बरार में मराठा राज्य की नींव डाली और अन्तिम दोनों ने स्वातंत्र्य युद्ध को पूर्णतः सफल बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किये।

ये थे शिवाजी के प्रमुख सहगामी जिनकी शक्ति और जिनके परामर्श से शिवाजी को अपना राज्य स्थापित करने एवं उसे सुदृढ़ बनाने में सफलता प्राप्त हुई। संकटकालीन अवसरों पर इन सहकारियों में से एक ने भी अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ा; उनमें से किसी ने भी कभी अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं किया, और न तो उनमें से किसी ने शत्रु पक्ष की ओर जा मिलने जैसा क्षुद्र कार्य नहीं किया बल्कि उनमें से अनेकों ने विजय प्राप्त करने के हेतु, अपने लिए निश्चित स्थान पर डटे रहकर वीरता-पूर्वक अपने प्राणों की आहुति दे डाली, और अपने हृदय को इसी एक बात से सन्तोष देते हुए इस लोक से चले गए उन्होंने अपने सुनिश्चित कर्तव्य को पूरा कर दिया है। इन तथ्यों से इन प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों के प्रति हमारे हृदय में सम्मान की भावना तो जागती ही है, साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि शिवाजी ने उनके हृदय में अपने शरीर के प्रति कितना मोह उत्पन्न कर दिया था तथा अपने उच्च उद्देश्य के लिए उनके हृदय में कितनी आस्था उत्पन्न कर दिया था। इतने परिश्रम और आत्मबलिदानों से निर्मित इस मराठा राज्य की सीमाएं काफी विस्तार में फैलीं, शिवाजी के राज्योरोहण के समय, अर्थात् १६७४ तक शिवाजी के राज्यमें पूना सूपा, इन्दापुर और बारामती की पैतृक जागीरों के अतिरिक्त मावलों का समस्त क्षेत्र, वाई तक सतारा जिले के पश्चिमी क्षेत्र, सतारा और बरार, कोल्हापुर के पश्चिमी हिस्से, उत्तरी और दक्षिणी कोंकण, तथा उक्त क्षेत्र में स्थित समस्त समुद्री तथा पर्वतीय किले, वागलन, कर्नाटक, वेल्लोर, वेदतोर और मैसूर आदि सम्मिलित थे। शिवाजी की मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के हाथ से इनमें से अधिकांश क्षेत्र निकल गए और उन पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस प्रकार शिवाजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप जो उपलब्धि हुई थी उसका स्थायी महत्व क्षेत्र अथवा धन-सम्पत्ति की दृष्टि से उतना नहीं था जितना मराठों के आत्मविश्वास और विभिन्न मराठा

सरदारों की पारस्परिक एकता की दृष्टि से था। इसी आत्मविश्वास एवं संगठन की भावना के ही प्रभाव के फलस्वरूप मराठा जाति के लिए देशभर में होने वाले मुसलमानी आक्रमणों का प्रतिरोध कर सकने की सामर्थ्य आई। यही वह भावना थी जो देश को उन बीस वर्षों (१६२५-१७०७) में मुक्ति दिलाने में सफल सिद्ध हुई जिसमें औरंगजेब ने दक्षिण विजय के महान् स्वप्न को साकार बनाने के प्रयत्नों में व्यतीत किया। शिवाजी तथा मुगलों के बीच होने वाले युद्धों की लम्बी श्रृंखला के बीच यदि स्वातन्त्र्य आन्दोलन की अनुशासित पाठशाला में देश के सैनिक एवं प्रशासनिक नेताओं को उचित प्रशिक्षण प्राप्त न हुआ होता तो सम्भवतः इस आन्दोलन का परिणाम भी इतना सफलतापूर्ण न हुआ होता। कुशल ढंग से प्रशिक्षित एवं अनुशासित इन १०० जवानों ने देश में एक नई आशा एवं नए उत्साह का संचार करके सारे देश में देशभक्ति पूर्ण प्रेरणा की ज्वाला सी फैला दी जिससे जनता के मानस में अपनी प्रतिरोधात्मक शक्ति के प्रति आत्मविश्वास के उत्पन्न होने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई इस दृढ़ आत्मविश्वास के फलस्वरूप ही वे ज्वार की उस उमड़ती हुई धारा को आड़कर लौटा देने में सफल हो सके जिससे उन्हें अपने अस्तित्व के ही समाप्त हो जाने का भय लगा हुआ था। यही कारण है कि हमने उन अत्यन्त उल्लेखनीय नेताओं का संक्षिप्त विवरण देने के लिए एक पूरा अध्याय ही अलग कर देना आवश्यक समझा, जिनके द्वारा किये गए महान् कार्यों की स्मृति से उनके उत्तराधिकारी भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चलने के लिए प्रेरित हुए। शिवाजी ने अपने महान् व्यक्तित्व के प्रभाव से अपने अनुगामियों एवं सहगामियों के प्रत्येक वर्ग के हृदय को अपनी ही भावना से ओत-प्रोत कर डाला और यही उसके जीवन का सर्व प्रमुख उद्देश्य था। उसके द्वारा विजित क्षेत्र एवं एकत्रित की गई धन सम्पत्ति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथ शीघ्र ही निकल गए परन्तु उसने अपने देश वासियों के हृदय में स्वतंत्रता को जो ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी उसका प्रभाव समाप्त होने के बजाय बढ़ता ही गया और

जैसे-जैसे उनके मार्ग को अवरुद्ध करने के प्रयत्न किए जाते रहे, उसी गति से इस स्वातन्त्र ज्वाला का तेज भी बढ़ता गया। जब जयसिंह एवं दिलेर खाँ के नेतृत्व में मुगल सेना ने शिवाजी पर आक्रमण किया था, उस समय मुगलों की सैन्य संख्या अधिक नहीं थी, परन्तु फिर भी शिवाजी को तत्कालीन परिस्थितियों में दिल्ली सम्राट की शरण लेना ही अधिक नीतिपूर्ण ज्ञात हुआ था। इसके विपरीत उसके उत्तराधिकारियों को समूची मुगल सेना से मोर्चा लेना पड़ा जिसका संचालन बादशाह स्वयम् कर रहा था, और यद्यपि मराठों को मुगलों की प्रबल शक्ति के समक्ष विवश होकर दक्षिण की ओर कदम हटाने पड़े फिर भी उन्होंने मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार नहीं की, बल्कि अपनी शक्ति का पुर्नसंगठन करके उन्होंने मुगलों को पीछे ढकेल दिया, और पुनः अपनी मातृभूमि पर आ जमे और शीघ्र ही मूल के साथ साथ व्याज भी वसूल लिया।

राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन के महान उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए शिवाजी के इन सहकारियों का विवरण अधूरा ही रह जायगा यदि हम शान्ति का प्रचार करने वाले उन महापुरुषों का उल्लेख नहीं करते जो इस समय एक बड़ी संख्या में देशभर में फैले हुए अपने विचारों का प्रतिपादन कर रहे थे, साथ ही सैनिक एवं प्रशासकीय नेताओं के प्रमुख परामर्शदाता भी बने हुए थे। चिटनिट के 'बखर' में इन महान धर्मगुरुओं में से अनेकों का उल्लेख किया गया है जिनमें से मुख्य हैं, चिंचवड़ का मोरियादेव, निगड़ी का रंगनाथ स्वामी, वेदर का विठ्ठल राव, शिंगारा का वामन जोशी, दहितने का निम्बाजी बाबा, धामनगाँव का बोंधले बाबा, बड़ागाँव का जयराम स्वामी, हैदराबाद का केशव स्वामी, पोलादपुर का परमानन्द बाबा, संगमेश्वर का अचलपुरी और पदगाँव का मणी बाबा। इन आध्यात्मिक एवं धार्मिक गुरुओं में सर्वाधिक पूजित एवं सम्मानित थे देहू के तुकाराम बाबा और चाफल के रामदास स्वामी। रामदास को शिवाजी ने अपना धार्मिक एवं आध्यात्मिक पद-प्रदर्शक माना; धर्म निरपेक्ष मामलों में भी वह गुरु रामदास के परामर्श को प्राथमिकता प्रदान करता था। इन आध्यात्मिक अचार्यों का जनमानस पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विस्तृत विवरण हम एक अलग अध्याय में देंगे; यहाँ केवल यह कथन

पर्याप्त है कि रामदास एवं तुकाराम के प्रभाव से राष्ट्रीय भावना ने आध्यात्मिकता एवं ईश-भक्ति के एक उच्च स्तर प्राप्त कर लिया और इसी आध्यात्मिकता के साए में देश को कहीं अधिक महत्व दिया जाने लगा। अब स्वातन्त्र्य आन्दोदनल का महत् कार्य व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं गौरव के ध्येय से नहीं, बल्कि ईश्वर-भक्ति एवं जनसेवा के ध्येय से किया जाने लगा; गुरु रामदास के परामर्श से राष्ट्र-ध्वज को भगवा रंग प्रदान किया गया; क्योंकि प्राचीन काल से ही ऋषि सन्त तथा भक्त भगवा रंग के वस्त्र ही धारण करते आ रहे हैं। मुसलमानी ढंग की प्रचलित सलामी की प्रथा को दासता का प्रतीक समझ कर पूर्णरूप से हटा दिया गया और उसके बदले प्रणाम का एक नया ही रूप निर्धारित किया गया जिसके अनुसार गुरु रामदास के आराध्य देव के नाम का ही उच्चारण किया जाता था। इसी प्रभाव के फलस्वरुप शिवाजी के अधीनस्थ समस्त सैनिक और प्रशासकीय अधिकारियों को मुसलमानी पदवियों से मुक्त कर दिया गया और उनके स्थान पर संस्कृत के शब्द रक्खे गए; इसी प्रकार पत्र-व्यवहार के क्षेत्र से भी मुसलमानी ढंग को पूर्णतः निर्वासित कर दिया गया। शिवाजी ने एक बार अपने गुरु को गुरुदक्षिणा के रूप में अपना सम्पूर्ण राज्य ही अर्पित कर दिया परन्तु रामदास ने धरोहर के रूप में पुनः शिवाजी को राज्य का स्वामित्व लौटाते हुए आदेश दिया कि राज्य का प्रत्येक कार्य जन-साधारण के हितों को ध्यान में रख कर ही किया जाय। जब शिवाजी ने गुरु रामदास पर, उनके आराध्यदेव की यथोचित पूजा अर्चना के विभिन्न जागीर स्वीकार करने के लिए बहुत दबाव डाला तो रामदास ने हँसते हुए ऐसे क्षेत्रों को जागीर के रूप में लेना स्वीकार किया जो उस समय मुगलों के अधिकार में थे, और इस प्रकार उन्होंने शिवाजी को इंगित किया कि देश की मुक्ति का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है।

यह आशा की जाती है कि मराठा शक्ति के विकास के समय महत्वपूर्ण भाग लेने वाले जिन व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में दिया गया है; उससे शिवाजी के जीवन काल से सम्बन्धित किसी भी वृतान्त की अपेक्षा, उस समय की राजनैतिक

एवं धार्मिक परिस्थिति पर कहीं अधिक प्रकाश पड़ेगा। शिवाजी के महान, केन्द्रीय स्थिति के पीछे यही पृष्ठभूमि थी जिसके फलस्वरूप शिवाजी के नेतृत्व में इतनी अधिक शक्ति एवं बुद्धि का प्रदर्शन हुआ। शिवाजी के काल में हुए राष्ट्रीय नव-जागरण से उत्पन्न शक्ति का विवरण प्राप्त हुए बिना शिवाजी के जीवन का कोई भी वृतान्त सर्वांगपूर्ण नही समझा जा सकता। किसी राष्ट्र की शक्ति का यथार्थ अनुमान लगाने का सवर्त्तोम उपाय केवल यही जान लेना नहीं है कि उक्त राष्ट्र में आत्म रक्षा की सामर्थ्य कितनी मात्रा में उपस्थित है, परन्तु यह जानना भी उतना ही आवश्यक है कि प्रत्येक आगे आने वाली पीढ़ी में कितने ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए जिनमें हर दृष्टि से, अपने पूर्वाधिकारियों द्वारा छोड़े गए शेष कार्य को अधिक उत्साह तथा अधिक निश्चित सफलता के साथ पूर्ण करने की सामर्थ्य थी। इस दोहरे परिक्षण के दृष्टिकोण से, हम यह निर्णय दे सकते हैं कि शिवाजी के समकालीन सरदारों और व्यक्तियों में बुद्धिमत्ता एवं वीरता का रंगमंच भी अभाव नहीं था, तथा राष्ट्र निर्माण में शिवाजी द्वारा अत्यन्त योग्यता पूर्वक उनका पथ-प्रदर्शन किया गया था, साथ ही शिवाजी के महान उद्देश्य को प्राप्त करने में उसके आगे आनेवाली पीढ़ियों में शिवाजी के समकालीनों से कम उत्साह एवं बुद्धिमता का परिचय नहीं दिया,

---

पांचवाँ अध्याय

वृक्ष का विकास-काल

शिवाजी के राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ सन् १६४६ ई० से माना जा सकता है जब कि तोरणा के किले पर अधिकार किया था। इस समय उसकी आयु कुल उन्नीस वर्ष थी; उसका सम्पूर्ण जीवन काल विपत्तियों से भरा पूरा था जिसके कारण उसे जीवन भर, कभी भी चैन लेने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका। अन्त में संघर्ष करते-करते ही, सन् १६८० ई० में वह अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके राजनैतिक जीवन के इन चौंतीस वर्षों की अवधि को साधारणतः चार असमान भागों में विभाजित किया जा सकता है जिनका अलग अलग अध्ययन करना आवश्यक है, क्यों कि जैसे-जैसे उसकी आयु के साथ-साथ उसका अनुभव बढ़ता गया, उसकी क्रियाशीलता का क्षेत्र, और उसके कार्यकलापों को मार्ग दिखाने वाले सिद्धान्त भी धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से परिवर्तित होते गए। विभिन्न इतिहासकारों द्वारा इस तथ्य की उपेक्षा कर दिये जाने के कारण शिवाजी के जीवन चरित्र के विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न हो गए हैं कि शिवाजी का जीवन-पथ क्रमिक विकास एवं प्रगति का पथ था और शिवाजी के कार्यों को प्रभावित करने वाले नियम, उसकी प्रारम्भिक तथा उत्तरार्ध की सफलताओं के परिभाषा के अनुसार निश्चित रूप से बदलते गए। एक अन्य दृष्टि कोण से भी शिवाजी के चरित्र के विषय में पक्षपात पूर्ण विचार प्रकट किए गए हैं, पीछे के पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि बाल्यकाल में शिवाजी बहुत उच्छृंखल प्रकृति के थे; अधिकांश इतिहासकार उसके उस समय के व्यवहारों को उच्च नैतिकता के मापदण्ड के अनुसार मानते हैं जिसके विरुद्ध, यूरोप में भी, अभी हाल ही में मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि किशोरावस्था में इस प्रकार की नैतिकता पूर्णतः स्वाभाविक है, और किशोरावस्था के व्यवहारों एवं क्रियाओं को उच्च सिद्धान्तों से युक्त नैतिकता के स्तर से न माप कर मानव मस्तिष्क की

क्रमिक विकास के मापदंड के अनुसार निश्चित करना चाहिए। अस्तु, वास्तव में यदि देखा जाय तो वास्तविक मराठा क्षेत्र कभी भी दक्षिण के मुसलमान शासकों के अधिकार में नहीं गया था। मुसलमानों ने मैदानी भागों पर अवश्य अपना अधिकार जमा लिया था, परन्तु पश्चिम के पर्वतीय क्षेत्रों तक उनके कदम शायद ही कभी पहुँचते थे। जिन पर्वतीय किलों पर उनका अधिकार रहता था वहाँ भी वे रक्षक सेना की व्यवस्था नहीं करते थे, और न उनकी मरम्मत ही की जाती थी; प्रायः प्रभावशाली स्थानीय सरदारों को ही इन किलों का किलेदार नियुक्त कर दिया जाता था; इन किलेदारों पर मुसलमान शासकों का कोई विशेष नियंत्रण नहीं रहता था, और वे एक तरह से किलों के स्वामी ही होते थे। ये किलेदार प्रायः आपस में झगड़ते रहते थे, और उनका आपस का व्यवहार इतना कटुता पूर्ण होता था कि ज्ञात होता था कि वे पूर्णतः स्वतंत्र थे, और उनके ऊपर किसी केन्द्रीय शक्ति का अकुंश नहीं रहता था जो उनको नियंत्रित कर सकती। एकतंत्र राज्य की यह शिथिल शासन व्यवस्था और भी अनियंत्रित एवं अराजकतापूर्ण हो गई जब कि निजामशाही का पतन हो गया तथा निजाम के राज्य को बीजापुर के सुल्तान और मुगल बादशाह ने आपस में आधा-आधा बाँट लिया और कालान्तर में इन दोनों शक्तियों के निरन्तर संघर्ष के कारण मराठों का देश इन दोनों बड़ी शक्तियों के सीमान्त युद्धों का रंगमंच बन गया। नियंत्रक शक्ति की इस अव्यवस्था एवं शिथिलता के क्या परिणाम हुए होंगे, यह समझ लेना इतना कठिन नहीं है जितना कि इसका वर्णन करना। अपने राजनैतिक जीवन के प्रथम ६ वर्षों में शिवाजी का मुख्य उद्देश्य था अपने इन परस्पर संघर्षरत पड़ोसी किलेदारों को संगठित करना तथा पूना के मावलों के उपद्रवों को शान्त करना; इस अवधि में उसका उद्देश्य औरंगाबाद जैसे दूर स्थित स्थान में तैनात मुगल सेनापति अथवा बीजापुर के सुल्तान के विरुद्ध कोई कदम उठाना नहीं था। उसके पास अपनी स्वयम् की जागीरें थी जो कि पूना और सूपा में स्थित थी तथा जिनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक था। वह कम से कम धन तथा सैनिकों के बल पर इन जागीरों कोसुरक्षित रखना चाहता था और ऐसा तभी संभव था जबकि वह अपनी

जागीरों के चारों ओर बिखरे हुए उपेक्षित पर्वतीय किलों पर अधिकार करके उनकी मरम्मत करा देता और उन पर अपने मोर्चे कायम करता। आत्मरक्षा के इस अत्यावश्यक एवं प्रत्यक्ष उद्देश्य के अतिरिक्त उसके राजनैतिक जीवन के प्रथम चरण में ही उसके मस्तिष्क पर इस विचार का प्रभाव पूर्ण रूप से जम चुका था कि अपने पड़ोस में बिखरे हुए, परस्पर संघर्षरत मराठा सरदारों को संगठित करके एक संघ का निर्माण किया जाय और इस प्रकार संगठित प्रयत्नों द्वारा पूरे मराठा क्षेत्र के सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था की जाय; और यह बात निर्विवाद है कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिवाजी द्वारा बनाई गई योजना के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय हो ही नहीं सकता था, जैसा कि भूतकालीन अनुभवों द्वारा स्वयम् सिद्ध था।

जब बिना रक्तपात के, समस्त सम्बन्धित सरदारों की सहमति से शिवाजी ने मराठा शक्ति के संगठन से संबंधित कार्य समाप्त कर लिया तो उसके सामने जो सर्वप्रथम उपस्थित हुआ, उसका स्रष्टा था बीजापुर का सुल्तान जिसके साथ आए दिन शिवाजी को संघर्ष करना पड़ता था। शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति पर रोक लगाने की दृष्टि से बीजापुर के सुल्तान ने उसके पिता शाह जी को छल पूर्वक कैद कर लिया। तदुपरान्त उसने कुछ विशेष साहसिकों को शिवाजी पर आक्रमण करके उसे कैद करने के लिए तैनात किया, परन्तु इस चाल द्वारा भी शिवाजी को दबाने के प्रयत्न में असफल होने पर उसने शिवाजी के विरुद्ध एक के बाद अनेक सेनाएँ भेजी जिनका नेतृत्व बीजापुर राज्य के अनेक गण्य एवं अनुभवी सेनापतियों ने किया। बीजापुर राज्य तथा शिवाजी के बीच हुये संघर्षों को हम शिवाजी के जीवन काल के द्वितीय चरण के अन्तर्गत रख सकते हैं; इस हिसाब से इस चरण की अवधि दस वर्ष हुई जिसके अन्त में बीजापुर राज्यको शिवाजी की शर्तों के अनुसार ही उससे सन्धि करना पड़ा। इन दस वर्षों के युद्धों के फलस्वरूप शिवाजी ने ऐसे पर्याप्त विशाल क्षेत्रों पर अपना दृढ़ प्रभाव जमा लिया जो इस युद्ध से पूर्व उसके अधिकार में नहीं थे। इस काल में भी शिवाजी के मस्तिष्क पर एक ही भावना पूर्ण रूप से प्रभावित किए हुए थी—आत्म रक्षा तथा शक्ति आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप देने की भावना।

अपने जीवन काल के द्वितीय चरण में उसने जो महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की, उससे दक्षिण पर आक्रमण करने वाले मुगलों का ध्यान अपने इस प्रबल प्रतिद्वन्दी की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था फलतः अब शिवाजी का मुगलों के साथ संघर्ष प्रारम्भ हुआ। मुगल मराठा युद्धों की इस लम्बी शृंखला को हम शिवाजी की जीवन कथा के तीसरे चरण में रखते हैं इसी काल में शिवाजी ने अपने साहस कूटनीति और युद्ध कुशलता के कारण अत्यधिक ख्याति अर्जित की, तथा महत्व की दृष्टि से यही काल उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम सिद्ध हुआ। शिवाजी के जीवन काल का यह तीसरा चरण १६६२ में प्रारम्भ हुआ और समाप्त हुआ १६७२ में जबकि उसने उतने अधिक क्षेत्र को मुगलों के हाथ से छीन लिया था, कि भारत के समस्त राज्यों ने मराठा राज्य को एक स्वतंत्र राज्य की मान्यता प्रदान कर दिया था। उसके जीवन काल का चौथा और अन्तिम चरण प्रारम्भ होता है १६७४ से, जबकि उसका राज्याभिषेक हुआ और उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त होता है। उसके जीवन एवं चरित्र के यथार्थ अध्ययन के लिये यह अन्तिम चरण सर्वश्रेष्ठ स्रोत हैं; इसी काल के विस्तृत अध्ययन से हमें यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में कहाँ तक सफल हुआ, उसका महान् आशावादी स्वप्न किस सीमा तक साकार हुआ; उसके कार्यों में निहित सिद्धान्तों एवं उसकी शासन व्यवस्था आदि की विवेचना का मुख्य क्षेत्र इसी काल को मानना चाहिए और इसी काल के अध्ययन के अनुसार उसके विषय में अन्तिम निकर्ष देना उचित एवं तार्किक होगा। शिवाजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अपने जीवन भर में एक क्षण के लिए भी उसने अपनी नीति के मुख्य उद्देश्य को दृष्टि से परे नहीं किया। प्रारम्भ में उसे अपने पड़ोसी सरदारों से खतरे की आशंका थी, अतः उस काल में उसने परिस्थिति के अनुसार आत्म रक्षा का दृढ़ प्रबन्ध रक्खा और बाद में यही आत्मरक्षा की ही दृढ़ भावना के कारण वह अपने मुस्लिम प्रति द्वन्दियों से अपनी रक्षा करने में सफल रहा। उसका सर्व प्रमुख उद्देश्य था मराठा शक्ति के बिखरे हुए तत्वों को एक सूत्र में पिरोना; यद्यपि प्रारम्भ में उसका कार्य क्षेत्र बहुत ही सीमित था, परन्तु धीरे धीरे यह कार्य क्षेत्र विस्तृत हो गया। जब तक बीजापुर

का सुल्तान या मुगल बादशाह अपने अपने क्षेत्रों—कर्नाटक एवं उत्तरी भारत तक ही सीमित रहे तब तक शिवाजी को उनसे कोई बैर नहीं था, परन्तु जब उसने इन मुस्लिम शासकों के बदलते हुए दृष्टिकोण को देखा और अनुभव किया कि उनका वास्तविक उद्देश्य है पश्चिमी महाराष्ट्र को दासता की बेड़ियों से जकड़ना, तो उसने उनका विरोध करना आवश्यक एवं उचित समझा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने गोलकुण्डा के शासकों को भी अपने संरक्षण में ले लिया जो कि इस समय तेलंगाना में राज्य कर रहे थे। जब मुगलों ने दक्षिण की समस्त रियासतों को अपने अधिकार में करने के लिए दक्षिण पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया तो उनके प्रयासों को असफल करने के लिए शिवाजी ने उनके विरुद्ध बीजापुर की रियासत को भी हर प्रकार की सहायता पहुँचाई। जहाँ तक दिल्ली के मुगल बादशाह के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रश्न था शिवाजी दिल्ली दरबार की अधीनता भी स्वीकार करने के लिए तैयार थे, परन्तु इस शर्त पर कि उसके राज्य के शासन प्रबन्ध में मुगल बादशाह कोई हस्तक्षेप न करे। इसी निश्चय के अनुसार वह मुगल सम्राट के समक्ष उसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए दिल्ली भी गया था और औरंगजेब द्वारा छलपूर्वक कैद कर लिए जाने के बावजूद भी उसने शान्तिपूर्ण समझौते का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। जिसकी मुख्य शर्त यह थी कि बादशाह द्वारा उसे साम्राज्य के एक विशिष्ट सामन्त की मान्यता दी जाय। उसके कार्यों एवं नीति के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि उसने इस योजना पर कभी गम्भीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया था कि पूरे भारतवर्ष की हिन्दू शक्ति को संगठित करके यहाँ से मुसलिम राज्य की बुनियाद ही मिटा दी जाय। मराठों में यह भावना तो बाद की विचारात्मक प्रगति के फलस्वरूप आई और सर्वप्रथम इस भावना की अभिव्यक्ति हुई बाजीराव बल्लाल द्वारा जब कि उसके तथा पन्त प्रतिनिधि के बीच संघर्ष चल रहा था। उसने उस समय शाहू महाराजा को यह परामर्श दिया था कि छोटे छोटे सरदारों या सेनापतियों से उलझ कर अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने की अपेक्षा अधिक उचित तो यह होगा कि एक बार अपनी समस्त उपलब्ध शक्तियों को एकत्रित करके और इस शक्ति के प्रमुख केन्द्र दिल्ली पर ही सीधा धावा करके मुसलिम शासन रूपी इस वृक्ष की जड़ ही हिलाकर नष्ट

करने का प्रयास किया जाय। जहाँ तक शिवाजी के विचारों का प्रश्न है ऐसा प्रतीत होता है कि वह केवल दक्षिण में एक केन्द्रीय हिन्दू राज्य की स्थापना करना तथा अपनी शक्ति के साथ बीजापुर तथा गोलकुन्डा के शासकों को भी मिलाकर मुगल शासन को ताप्ती नदी के उत्तर तक ढकेल देना चाहता था वास्तव में उसकी नीति की कुंजी यही है उसकी आकांक्षाओं की सीमा सारांश में यही थी। आत्मरक्षा, तथा पश्चिमी भारत में एक राष्ट्रीय हिन्दू राज्य की स्थापना जिससे गोलकुंडा तथा बीजापुर के मुसलमान शासकों के सहयोग से उत्तरकी तरफ से होनेवाले आक्रमणों का सफलता पूर्वक प्रतिरोध किया जा सके, साथ ही अपने देशवासियों से भी सुरक्षा, शान्ति एवं सहिष्णुता की भावनाओं का प्रचार किया जा सके। शिवाजी की इस महत्वाकांक्षाओं को दृष्टि पथ में रखने पर हम शिवाजी के जीवनकाल के इन चारों चरणों की प्रमुख घटनाओं और उनसे सम्बन्धित शिवाजी की नीतियों को समझने में अधिक सफल हो सकेंगे।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, शिवाजी के राजनैतिक जीवन-काल का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है, तोरणा के किले पर उसके अधिकार कर लेने से; जिसे कि वहाँ के किलेदार ने स्वयम् बिना युद्ध के ही किले को शिवाजी के हाथ समर्पित कर दिया था। तदुपरान्त शिवाजी ने रायगढ़ की सुदृढ़ किलेबन्दी कराई और इसी गढ़ को अपना मुख्य केन्द्र बनाया। शिवाजी के इन कार्यों ने कोई ऐसी बात बीजापुर के शासक को नहीं दिखाई पड़ी जिससे वह सम्भावित आपत्तियों के प्रति जागरूक होने का प्रयास करता, शिवाजी ने बीजापुर दरबार के समक्ष यही प्रदर्शित किया कि ये सब किलेबन्दी और तैयारियाँ सामान्य हित को दृष्टि में रखकर की जा रही हैं, साथ ही पारवारिक जागीर की रक्षा के लिए भी ये कार्य अति आवश्यक हैं। इसके पश्चात् शिवाजी ने सूपा के किले को भी बाजी मोहिते के हाथ से अपने हाथ में ले लिया; चूँकि यह कार्य उसके अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत था क्योंकि बाजी मोहिते जागीर का ही सेवक था; अतः इस मामले में भी बीजापुर दरबार किसी तरह का हस्तक्षेप करने का बहाना नहीं ढूँढ़ सका। पूना के पूर्व में चाकण का किला था, जो कि पूना को आक्रमणों से बचाने के लिए शिवाजी के ही अधिकार में

आ जाना चाहिए था अतः उसने चाकण के किलेदार फिरंगो जी नरसाले पर, किले का समर्पण कर देने के लिए दबाव डालने लगा जिसमें वह सफल हुआ। फिरंगोजी द्वारा अधीनता स्वीकार कर लिए जाने पर शिवाजी ने इस किले का प्रबन्ध पूर्ववत उसी के हाथों में छोड़ दिया, जो कि अन्त तक उसका विश्वस्त अनुगामी तथा सहचर बना रहा। अब शिवाजी ने अपना रुखमोड़ा सिंहगढ़ की तरफ, जो कि पूना के पश्चिम में स्थित था, और जिसका किलेदार एक मुसलमान था;शिवाजी ने केवल दबाव द्वारा ही चाकण की भाँति सिंह-गढ़ को भी अपने अधिकार के अन्तर्गत ले लिया। इस प्रकार मावलों का सम्पूर्ण क्षेत्र शिवाजी के नियत्रंण में आ गया, और इस क्षेत्र के कठोर जीवन के अभ्यस्त मावलों को शिवाजी ने अपनी सेना में भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया और उनका नायकत्व करने के लिए भी योग्य मावलों को नियुक्त कर लिया। इस समय तक जो भी उपलब्धियाँ हुई, उसके लिए शिवाजी को रंचमात्र भी रक्तपात न करना पड़ा। शिवाजी की पैतृक जागीर में पूना और सूपा के अतिरिक्त बारामती और इन्दापुर भी सम्मिलित थे, पूना से बारामती जानेवाली पुरानी सड़क पर पुरन्दर किले द्वारा नियंत्रण रक्खा जा सकता था; कुछ अन्य कारणों से भी इस किले को अधिकृत कर लेना शिवाजी को बहुत आवश्यक प्रतीत हुआ। यह किला उस समय बीजापुर राज्य के अधिकार में था, तथा इसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व एक ब्राह्मण सरदार पर था, जो दादो जी कोण्डदेव का सम्पर्की तो अवश्य था, परन्तु उसका व्यवहार तथा आचरण अत्यन्त ही निन्दनीय था। एक बार जब उसकी पत्नी ने उसके आचरण की आलोचना की, तो उसने अत्यन्त रुष्ठ होकर उसे तोप के मुँह पर बांध कर उड़वा दिया। अन्त में जब पुरन्दर के इस ब्राह्मण किलेदार की मृत्यु हुई तो उसके पुत्रों में अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष उठ खड़ा हुआ, और कुछ समय बाद शिवा जी को इस विवाद को निकालने के लिये निमन्त्रित किया गया। शिवाजी की आंख तो पुरन्दर पर गड़ ही चुकी थी,अवसर पाकर उसने तीनों भाइयों को बन्दी बना लिया और किले को अपने अधिकार में ले लिया। मिस्टर ग्रान्ट डफ ने 'हिस्ट्री आव मराठाज' में शिवाजी के इस कार्य को कपटपूर्ण बताया है; परन्तु यह बात वह भी स्वीकार करता है कि शिवाजी ने तीनों भाइयों के जीवन निर्वाह के लिए 'इनाम' के

रूप में प्रत्येक को पर्याप्त भूमि दे दी। तथा अपनी सेना में उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त किया। देशी ऐतिहासिक वृत्तातों तथा पाण्डुलिपियों से ज्ञात होता है कि जिस समय तीनों ब्राह्मण पुत्र सत्ता के लिए परस्पर संघर्षरत थे, उस समय अशान्तिपूर्ण वातावरण से त्रस्त एवम् क्षुब्ध होकर पुरन्दर वासियों के एक दल ने शिवाजी से किले को अपने अधिकार में ले लेने का प्रस्ताव रक्खा धीरे-धीरे तीन में से दो भाई भी अधिकार हस्तान्तरण की इस नवीन योजना से सहमत हो गए। और इस प्रकार बिना किसी विशेष रक्तपात के पुरन्दर शिवाजी के हाथ में आ गया। अब हम जब इन तथ्यों को दृष्टि में रखकर शिवा जी के पुरन्दर से सम्बन्धित आचरण पर पुनः विचार करते हैं, तो सारा चित्र ही बदल जाता है, और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिवाजी ने सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थिति में होने के कारण पुरन्दर के किले को अधकृत करने की योजना बनाई और उसमें सफल भी हुए, परन्तु उनकी इस सफलता का कारण, सत्ता का बलात् अपहरण नहीं, बल्कि पुरन्दर के रक्षकों एवम् निवासियों की सहमति थी।

यह शिवाजी की साधारण राजनीति का ही परिणाम था कि ये सभी किले बिना युद्ध हिंसा या रक्तपात के, उसके अधिकार में आ गए और जिस ढंग से, तथा सम्बन्धित दलों की सहमति से उसे इस प्रयास में सफलता मिली, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसने अपने पड़ोसी किलेदारों तथा सरदारों के हृदय में अपने लिए कितना विश्वासपूर्ण स्थान बना लिया था। अस्तु, इन किलों पर अधिकार करने के पश्चात् शिवाजी ने इसी ढंग से अनेक अन्य किलों पर भी शीघ्र ही अधिकार जमा लिया जिनमें से मुख्य थे रोहिड़ा, सह्याद्रि की श्रेणियों के ऊपर स्थित किलों की शृंखला से लेकर उत्तर में कल्याण तक और दक्षिण में प्रतापगढ़ तक के सभी किले, लौहगढ़ और रापरी इन सभी गढ़ों की विजय के साथ ही शिवाजी के राजनैतिक जीवन का प्रथम चरण समाप्त होता है परन्तु उपसंहार के रूप में कुछ और कहना आवश्यक है। जब शिवाजी ने कल्याण पर अधिकार कर लिया तो बीजापुर के शासकों के कान खड़े हुए, और शिवाजी की गति-विधियों पर काबू पाने के लिए वे शाहजी के माध्यम से शिवाजी पर

दबाव डालने का प्रयत्न करने लगे। इस समय शाहजी कर्नाटक स्थित अपनी जागीर में निवास कर रहा था। उसे विवश करने के ध्येय से उसे बीजापुर, बुलवाया गया और कुछ दिनों बाद छल पूर्वक कैद कर लिया गया। अब जब अपने कारण शिवाजी ने अपने पिता की जान को संकट में पड़ा देखा तो उसे अपनी भविष्य की योजनाओं को स्थगित कर देना पड़ा। अब शिवाजी को चिन्ता हुई अपने बन्दी पिता को मुक्त कराने की और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने मुगल बादशाह शाहजहाँ का आश्रय ग्रहण किया। शाहजहाँ का संरक्षण उसके पिता की मुक्ति के लिए अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। जिस समय शाहजहाँ और शिवाजी में सम्पर्क बढ़ा तथा शिवाजी ने मुगल साम्राज्य का अनन्य भक्त होने का प्रदर्शन किया उसी समय प्रथम बार शिवाजी द्वारा सरदेशमुखी तथा चौथ वसूलने का अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न शुरू हुए; कहा जाता है कि शाहजहाँ ने उसे ये अधिकार देने की प्रतिज्ञा भी की थी, परन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी थी कि जब शिवाजी दिल्ली आकर व्यक्तिगत रूप से बादशाह से इन अधिकारों को प्राप्त करने की प्रार्थना करेंगे, तभी वह अपनी स्वीकृति देगा; इस बीच, जब तक शाहजहाँ जीवित रहा, तब तक शिवाजी दिल्ली पहुँच ही न सका, अतः यह प्रस्ताव, प्रस्ताव ही रह गया। जिन घटनाओं का हम इस समय उल्लेख कर रहे हैं, वे सन् १६५७ की हैं, और इसी वर्ष के साथ शिवाजी के राजनैतिक जीवन के प्रथम चरण का पटाक्षेप माना जा सकता है।

बीजापुर की कैद से शाहजी १६५७ में मुक्त हुआ जिसके फलस्वरूप शिवाजी की योजनाओं के मार्ग का अवरोध हट गया जिसके कारण वह गत कई वर्षों से लगभग पूर्णतः निष्क्रिय होकर बैठा हुआ था। इस समय तक बीजापुर के शासकों ने भी मुगल बादशाह के साथ सन्धि करली थी, और अब वे शिवाजी की किसी भी अनाधिकार चेष्टा का सबल विरोध करने के लिए पूर्णतः सचेष्ट थे। उसके राजनैतिक जीवन के इस द्वितीय चरण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है बीजापुर के मुस्लिम शासकों के विरुद्ध उसका निरन्तर संघर्ष। इस निरन्तर संघर्ष के फलस्वरूप शिवाजी ने ऐसे अनेक

शक्तिशाली सरदारों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त किया जो बीजापुर रियासत के स्तम्भ थे। ऐसे सरदारों में प्रमुख थे मधोल के घोरपड़े, जावली के मोरे, बाड़ा के सावन्त, दक्षिणी कोंकण के डलनी, म्हासबड़ के माने, शृंगारपुर के सर्वे और शिरके, फल्टन के निम्बलकर, और मालवड़ी के घडगे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस द्वितीय चरण में शिवाजी के उद्देश्यों में से एक, इन सरदारों को संगठित करना भी था जिनकी जागीरें नीरा नदी के दक्षिण और कृष्णा नदी के उत्तर के बीच के क्षेत्र में स्थित थीं, और वह इस संगठन के कार्य को इसी प्रकार करना चाहता था, जिस प्रकार उसने उन सरदारों को संगठित किया था जो उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में निवास करते थे।

परन्तु उपरोक्त सरदारों में से अनेक ने शिवाजी के इस महान् कार्य के मार्ग में रोड़े अटकाना प्रारम्भ कर दिया। ऐसे लोगों में सर्वाधिक शक्तिशाली था चन्द्रराव मोरे, जिसने शिवाजी-विरोधी कार्य में अत्यन्त उत्साह के साथ भाग लिया। शिवाजी को छल पूर्वक मार डालने या कैद कर लेने के उद्देश्य से बीजापुर से साहसिकों का एक दल भेजा गया था जिसका नायक बाजी शामराज नामक एक ब्राह्मण सरदार था। चन्द्रराव मोरे ने बाजी शामराज को सहयोग देने का आश्वासन देकर उसे बड़े सम्मान के साथ अपनी जागीर में रक्खा। शिवाजी के गुप्तचर भी कम कुशल नहीं थे; उन्होंने शीघ्र ही इस भिसन्धि का पता पा लिया, और बाजी पलट गई; शिवाजी ने उल्टे ही बीजापुर के इन किराए के हत्यारों पर आक्रमण करके उन्हें बिखेर दिया। इस घटना के बाद से ही चन्द्रराव मोरे का अस्तित्व शिवाजी तथा उसके सहचरों की आँख में खटकने लगा। शिवाजी के विरुद्ध इस प्रकार की दुरभिसन्धि करने के पश्चात् चन्द्रराव मोरे को अधिक समय तक चैन से बैठने का अवसर प्राप्त न हो सका; शिवाजी के अधीनस्थ दो सरदरों रघुनाथ बल्लाल और सम्भाजी कावजी ने मोरे लोगों को उनकी करनी का मजा चखाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उनके इस प्रतिहिंसा-त्मक निश्चय का परिणाम भी शीघ्र ही हो गया, परन्तु उनके इस छल कपटपूर्ण हत्या काण्ड की खुली आलोचना का गई क्योंकि

जन-साधारण की दृष्टि में चन्द्रराव मोरे का दोष केवल इतना ही था कि उसने शिवाजी की हत्या करने के लिए भेजे गए आदमियों को आश्रय दिया था, परन्तु उस के बदले में मिलनेवाला मृत्युदण्ड उसके अपराध की तुलना में बहुत अधिक था। स्वयं मराठा पाण्डलिपियों एवं वृत्तान्तों में चन्द्रराव मोरे की हत्या को निन्दनीय बताते हुए, शिवाजी के पक्ष को पुष्ट करने का कोई प्रयत्न, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नहीं किया गया है। मोरे-हत्याकाण्ड में शिवाजी को निर्दोष सिद्ध करने के लिए केवल एक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है और वह यह कि यह कृत्य शिवाजी के अनुगामियों ने बिना उस की राय के अपने ही उत्तरदायित्व पर किया था; यद्यपि बाद में शिवाजी ने उन के इस कार्य के औचित्य को सहज ही स्वीकार कर लिया था, और इस कार्य के लिए उन की कोई आलोचना नहीं की थी; अस्तु, जावली की विजय से शिवाजी के लिए प्रतापगढ़ के दक्षिणस्थ क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिए मार्ग सरल हो गया और प्रतापगढ़ से पनहाला तक के समस्त क्षेत्र उसके अधिकार में आ गए; यही नहीं, दक्षिणी कोंकण के जागीरदारों तथा बाड़ी के सामन्तों ने भी शिवाजी की अधीनता स्वीकार कर ली। उस क्षेत्र में स्थित डलवी तथा सर्वे जागीरदारों को भी विवश होकर या पराजित होकर उसका प्रभुत्व मानना पड़ा। शिवाजी ने सिद्दियों के क्षेत्र पर भी आक्रमण किया; परन्तु कोई निश्चित परिणाम सामने नहीं आया।

सफलताओं की इस लम्बी शृंखला के कारण अब शिवाजी के शत्रुओं ने भी दृढ़तापूर्वक उसके विरुद्ध तैयारियाँ करका प्रारम्भ कर दिया; जिनमें से सर्वप्रमुख थे बीजापुर के शासक, जिन्होंने शिवाजी को कुचलने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। अब तक बीजापुर के शासकों के समक्ष यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि शाहजी को कष्ट पहुँचा कर शिवाजी को नियंत्रित नहीं किया जा सकता; वे यह समझ चुके थे कि यदि उसके पिता पर किसी भी प्रकार का अनुचित दबाव डाला गया, तो वह तुरन्त मुगल बादशाह की सहायता प्राप्त करने का उद्योग करने लगेगा। शिवाजी के अस्तित्व को समाप्त करने के उद्देश्य से
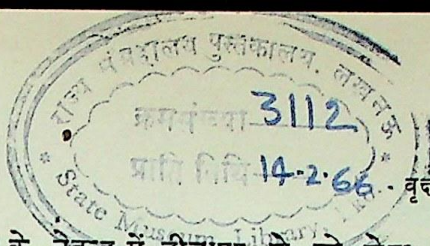
बाजी शामराज के नेतृत्व में बीजापुर से जो सेना भेजी गई थी, उसके चंगुल में फँसने के बजाय शिवाजी ने उस सेना को ही विनष्ट कर डाला था। बीजापुर के शासक, तथा डलवी और सावन्त, सबके सब चन्द्रराव की शक्ति पर बहुत भरोसा रखते थे; पर उन के देखते-ही-देखते शिवाजी के सहचरों के रूप में प्रवाहित धारा के प्रबल वेग में चन्द्रराव मोरे का अस्तित्व समाप्त हो गया। अतः इस बार शिवाजी को पूर्णतः परास्त करने के लिए उन्होंने अपने सबसे कुशल तथा साहसी पठान सेनापति अफ़ज़लखाँ के साथ एक विशाल सैन्य भेजने का निश्चय किया। इसके पूर्व अफ़ज़ल-खाँ कर्नाटक के युद्धों में सक्रिय भाग ले चुका था, और अकारण या सकारण, उस पर यह शंका भी की जाती थी कि कर्नाटक में उसने शाहजी के शत्रुओं को सहायता पहुँचाई थी, और उसकी अभिसन्धि के फलस्वरूप शिवाजी के बड़े भाई की अकाल ही मृत्यु हो गई थी। जब बीजापुर दरबार में शिवाजी के उपद्रवों की समस्या पर विचार-विमर्श हो रहा था, तो अफ़ज़ल खाँ ने अत्यन्त दम्भ के साथ भरे दरबार में इस पहाड़ी चूहे को जीवित या मृत पकड़ने का बीड़ा उठाया था। बीजापुर से 'वाय' Wai के मार्ग में उसने तुलजापुर तथा पँढरपुर के भारत-विख्यात मन्दिरों को भ्रष्ट कर डाला और सारी मूर्तियों को तोड़-फोड़ कर नष्ट कर डाला। इस प्रकार अपने इस अभियान को उसने धार्मिक (जेहाद का) रूप देने का प्रयास किया; मानों वह शिवाजी को नहीं, बल्कि समस्त हिन्दू जाति को कुचलने चला हो। उसकै इस दुष्कृत्य से दोनों में साम्प्रदायिक भावना अपने निम्नतम स्तर पर आ गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युद्ध के परिणाम पर जिन समस्याओं के उत्पन्न होने की अशंका थी, वे अत्यन्त ही गम्भीर प्रकृति की थीं। विजेता या विजित के लिय इस युद्ध में जय-पराजय का प्रश्न जीवन-मरण का प्रश्न था। शिवाजी ने अपने परामर्शदाताओं के साथ इस सम्भावित युद्ध से उत्पन्न हो सकने वाली परिस्थितियों की गम्भीरता पर विचार-विमर्श किया। सभी सरदारों ने एक स्वर से अफ़ज़ल खाँ के साथ युद्ध करने की व्यग्रता प्रगट की, परन्तु शिवाजी न अपना अन्तिम निर्णय देने के पूर्व अपनी आराध्य देवी भवानी की आराधना कर उनका

संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की। जब वह ध्यानावस्थित होकर बैठने लगा तो, उसने चिटनीस को आदेश दिया कि उस अवस्था में माता-भवानी उसके माध्यम से जो कुछ भी कहे, उसे लिपि-बद्ध कर लिया जाय, क्योंकि उसे विश्वास था कि इस विकट परिस्थिति में उस की आराध्य देवी उसे इस आपत्ति से छुटकारा पाने का मार्ग अवश्य बतावेंगी। इस ध्यानावस्थित अचेतन दशा में उसके मुख से जो भी शब्द उच्चरित हुए, उन्हें चिटनीस ने लेखनी-बद्ध कर लिया; जैसा कि शिवाजी का आदेश था।

जब शिवाजी को अपनी आराध्य देवी से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हो गया, तो उसने अपनी योजना की सिद्धि के लिए अपनी माँ से भी आशीर्वाद लिया। उसकी सेना तो उसके इशारे पर मर-मिटने के लिए तैयार थी ही; अब शिवाजी ने अपने इस प्रबल प्रतिद्वन्दी से एक ऐसे स्थान पर मुलाकात करके वार्तालाप करने का निश्चय किया, जिसका चुनाव स्वयं उसी ने किया था। जिस समय अफजलखाँ से निपटने के लिए वह अपनी योजनाएँ बनाने में व्यस्त था, बीजापुर की विशाल वाहिनी उमड़ती चली आ रही थी, और इतनी विशाल सैन्य के नेतृत्व के मद से उन्मत्त अफजलखाँ के हृदय में यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि उसके मुकाबिले में शिवाजी एक क्षण भी युद्ध-क्षेत्र में स्थिर न रह सकेगा। इस समय उस का मस्तिष्क एक ही विषय में ताना-बाना बुनने में मस्त था कि किस प्रकार शिवाजी को उसके पर्वतीय किलों की शरण से बाहर आकर खुला युद्ध करने के लिए विवश किया जाय। उसका विचार था कि यदि सम्भव हो और शिवाजी को बन्दी बनाकर विजयोपहार के रूप में बीजापुर के सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके, तो वह इस सम्भावित दीर्घकालीन के संकटों से मुक्त हो जायेगा। अब तक शिवाजी के सैनिक कृष्णा और कोयणा (Koyana) की घाटियों में फैल गये थे, और उस क्षेत्र क सघन वनों ने उन्हें इस प्रकार आच्छादित कर लिया था कि शत्रु की दृष्टि उन पर पड़ी ही नहीं सकती थी। अफजलखाँ की विशाल सेना वाय (Wai) से महाबलेश्वर तक फैली हुई थी, और इतने खुले क्षेत्र में स्थित थी कि

उन पर दोनों पार्श्वों से निर्विघ्न रूप से आक्रमण किया जा सकता था। वास्तव में दोनों ही पक्षों के नेता एक-दूसरे पर अचानक आक्रमण करके विरोधी पक्ष के नेता को बन्दी बना लेने की योजना बना रहे थे; क्योंकि दोनों ही इस बात से भली-भाँति परिचित एवं भिज्ञ थे कि इस देश की तत्कालीन युद्ध-प्रणाली में सेना के मुख्य सेनापति के मारे जाने अथवा बन्दी बना लिये जाने से ही युद्ध का परिणाम हो जाता था। सम्पूर्ण तैयारी कर लेने के पश्चात् शिवाजी ने अफजल खाँ के पास दूत भेज कर कहलवा दिया कि वह बीजापुर राज्य की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार है। अफजलखाँ शिवाजी की प्रकृति से अपरिचित नहीं था; अतः उसने इस बात पर विश्वास नहीं किया और पक्की खबर ले आने के लिए अपने एक विश्वास-पात्र ब्राह्मण पण्डित को शिवाजी के पास भेजा। देश, धर्म और जाति की दुहाई देकर शिवाजी ने इस ब्राह्मण को अपनी ओर मिला लिया। अन्त में, पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि व्यक्तिगत वार्तालाप द्वारा सन्धि की शर्तों का निश्चय करने के लिए शिवाजी और अफजलखाँ के भेंट की व्यवस्था किसी एकान्त स्थल पर की जाय, तथा उनकी सेनाएँ उस स्थल से पर्याप्त दूरी पर रहें। उन दोनों की इस मुलाकात के बीच कैसे क्या हुआ—इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतैक्य का अभाव है। मुसलमान इतिहासकारों, तथा इस सम्बन्ध में उन्हीं के मतानुगामी मिस्टर ग्रान्ट डफ का कहना है कि इस मुलाकात के दर्शन में शिवाजी ने ही छलपूर्वक अफजल खाँ पर बघनखा तथा देवी भवानी प्रदत्त तलवार द्वारा पहला आक्रमण किया; इसके विपरीत मराठा पाण्डलिपियों तथा सभासद और चिटनीस द्वारा लिख गये वृत्तान्तों के अनुसार विशालकाय पठान ने प्रारम्भ में ही आलिङ्गन करने के बहाने शिवाजी के गले को बाएँ हाथ से जकड़ लिया, और उसे अपनी ओर खींचते हुए, अपनी बाईं बाँह के नीचे दबा लिया; जब शिवाजी ने देखा कि अफजलखाँ गले मिलने के बहाने, गला घोंट कर उसकी जान ही ले लेने पर उतारू है, तो अवसर पाकर उसने अपना बघनखा अफजल खाँ के पेट में घुसेड़ दिया; जिससे उसकी मृत्यु ही हो गई। जिस समय की कथा का

हम वर्णन कर रहे हैं उस समय, ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर इस प्रकार के कपटपूर्ण कृत्य अप्रचलित नहीं थे और यह निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि अफजलखाँ और शिवाजी दोनों ही को इस प्रकार के छलपूर्ण आक्रमण की अशंका थी और वे इसके लिए तैयार भी होकर आये थे। अफजलखाँ की हत्या कर देने के लिए शिवाजी के पास पर्याप्त कारण थे। अफजलखाँ ही उसके भाई की मृत्यु के लिए उत्तरदायी था; साथ ही तुलजापुर और पंढरपुर के मन्दिरों को भ्रष्ट कर देने का बदला लेने की भावना भी शिवाजी के हृदय में उठना स्वाभाविक ही था। शिवाजी यह भी जानता था कि खुले युद्ध-क्षेत्र में अफजलखाँ का सामना कर सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। पिछले बारह वर्षों में उसने जो कुछ भी प्राप्त किया था, और भविष्य के लिए जो भी योजनाएँ बनाई थीं, उन सब की सफलता इसी युद्ध के निर्णय पर निर्भर थीं।

इन सब कारणों से इस पर विश्वास किया जा सकता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा छल द्वारा शत्रु का बध करने के लिए शिवाजी का कटिबद्ध होना ही अधिक स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में कोई निष्पक्ष निर्णय देने के लिए दोनों व्यक्तियों के व्यक्तिगत चरित्र का विश्लेषण करना भी आवश्यक है। अफजलखाँ निश्चित रूप से मदान्ध एवं असावधान था; जबकि शिवाजी सुलझा हुआ आत्मविश्वासी, धैर्यवान तथा आत्मरक्षा के लिए सदैव तत्पर रहनेवाला व्यक्ति था। शिवाजी ने इस मुलाकात के सम्भावित परिणाम के अनुसार अफजलखाँ का वध करने के पश्चात् मुसलमान सेना को पराजित करने की जो योजना बना रक्खी थी और मराठों द्वारा आक्रमण कर दिये जाने पर बीजापुर की सेना जिस प्रकार क्षण भर में ही तितर-बितर हो गई, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जबकि शिवाजी; अपनी सेना के साथ अफजल खाँ के साथ होनेवाली भेंट के परिणाम का पूर्ण लाभ उठाने के लिए तैयार था; बीजापुर की सेना, मराठों द्वारा किए गए अचानक आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए बिल्कुल ही तैयार नहीं थी। उपरोक्त तथ्यों पर विपक्ष रूप से विचार करने कोई भी व्यक्ति उसी निष्कर्ष पर

पहुँच सकता है और जिसे मिस्टर ग्रान्ट डफ ने अपना समर्थन प्रदान किया है; परन्तु फिर भी, शिवाजी के पक्ष में एक तर्क रखा जा सकता है, और उस का महत्व कम नहीं है। इस सम्भावना को निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि जब दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हों, तो दूसरे पक्ष की पवित्रतम भावनाओं को भी विरोधी पक्ष कपटपूर्ण ही समझता है और ऐसी स्थिति में जिस पक्ष ने कम सतर्कता से काम लिया, उसे उस को असावधानी का दण्ड मिलना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भव है कि दोनों पक्षों में छल-कपट का आश्रय लेने की भावना समान रूप से व्याप्त रही हो, यद्यपि उनमें से एक पक्ष स्वयं द्वारा पूर्व-नियोजित छल छद्र से लाभ उठाने के लिए उतनी अच्छी योजना न बना सका हो, जितना कि दूसरा पक्ष। अस्तु, अफजलखाँ की मृत्यु एवं बीजापुर की सेना की पराजय के के पश्चात् शिवाजी के लिए पनहाला के दक्षिणस्थ एवं कृष्णा के तट पर स्थित क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित कर लेना अत्यन्त सुगम हो गया। अपनी प्रथम पराजय एवं अफजलखाँ के वध से उत्तेजित हो कर बीजापुर वालों ने पुनः शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए एक विशाल सैन्य भेजी, परन्तु इस सेना को भी हार कर भाग जाना पड़ा। शिवाजी भी सेना सहित भागती हुई बीजापुर सेना के पीछे-पीछे बीजापुर के फाटक के पास तक जा पहुँचा, और इसी बीच उसके नायकों ने राजापुर और दाभोल पर अधिकार कर लिया। शिवाजी का दमन करने के लिए एक सेना बीजापुर से पुनः भेजी गई; जिसने पनहाला को घेर लिया, और संयोग की बात, कि उस समय शिवाजी ससैन्य पनहाला के किले में ही पड़ा हुआ था, इस समय वह बीजापुर की सेना का प्रतिरोध करने योग्य नहीं रह गया था; अतः बीजापुर की सेना को धोखा दे कर वह पनहाला से निकल गया और रांगणा की तरफ चल पड़ा। उसके निकल भागने की खबर मिलते ही बीजापुर सेना ने उस का पीछा किया। बीच में एक स्थान पर मार्ग बहुत सँकरा था, जिसकी रक्षा के लिए शिवाजी ने अपने विश्वस्त सहचर बाजीप्रभु के साथ एक हजार मावलों को तैनात

कर दिया था, और उनसे कहा था कि जब रांगणा पहुँचकर तोप की आवाज द्वारा उन्हें संकेत दे, तो वे अपनी प्राण-रक्षा के लिए पीछे हट आयेंगे। विशाल बीजापुरी सेना को जिस वीरतापूर्वक बाजी प्रभु ने केवल एक हजार मावलों की सहायता से अटकाए रक्खा, उसकी तुलना केवल थर्मोपिले के युद्ध से की जा सकती है। 'करों या मरों' की भावना हृदय में भरे हुए बाजीप्रभु पूरे नौ घण्टों तक बीजापुरी सेना को उसी सँकरे मार्ग में उलझाए रहा, और इसी बीच उसके साथ के दो-तिहाई सैनिक हताहत हुए। अन्त में वह अपने ही स्थान पर लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ, परन्तु उसके प्राण तभी छूटे जब कि उतने तोप की आवाज सुन कर जान लिया कि शिवाजी सुरक्षित रूप से रांगणा पहुँच कर गया है। इस प्रकार तृतीय आक्रमण में भी असफलता ही हाथ लगने पर १६६१-६२ में बीजापुर के सुल्तान ने एक बार पुनः शिवाजी के विरुद्ध अभियन किया, और इस बार सेना का नेतृत्व अपने ही हाथ में रक्खा; परन्तु इस बार भी उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी, यद्यपि यह संघर्ष एक वर्ष से भी अधिक समय तक चलता रहा।

लगभग इसी समय शिवाजी ने अपनी जल-सेना का संगठन प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में, जंजीरा को छोड़ कर, कोंकण तट पर स्थित समस्त सागरीय दुर्गों पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। शिवाजी के साथ हुए दीर्घकालीन संघर्ष के कारण, १६६२ तक बीजापुर राज्य का कोष लगभग रिक्त हो गया, और उन की आर्थिक स्थिति इतनी चिन्तनीय हो उठी कि उन्हें विवश हो कर शाहजी की सेवाओं को पुनः स्वीकार करना पड़ा तथा उसे पुनः उसके भूतपूर्व पदों पर नियुक्त करना पड़ा। अन्त में शाहजी के माध्यम से ही बीजापुर के सुल्तान एं शिवाजी के मध्य युद्ध-विराम हुआ तथा सन्धि की शर्तों के अनुसार शिवाजी को उन समस्त क्षेत्रों का अधि-पति माना गया, जिन पर उसने इस अवधि में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। हम पीछे देख चुके हैं कि शिवाजी के राजनैतिक जीवन के प्रथम चरण में उसके राज्य की सीमा में चाकण से ले कर नीरा नदी तक के क्षेत्र, उस की जागीर; तथा पुरन्दर से कल्याण तक,

सह्याद्रि की श्रेणियों पर स्थित समस्त पर्वतीय दुर्ग सम्मिलित थे; द्वितीय चरण के अन्त तक उस का राज्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यधिक विस्तृत हो गया। इस समय तक कोंकण से ले कर गोवा तक के समस्त सामुद्रिक दुर्ग, तथा इस तट के समानान्तर स्थित घाटमाथा के जिले (जो भीमा नदी से वारना नदी के बीच स्थित थे), उसके राज्य में सम्मिलित हो चुके थे। इस प्रकार उसके अधिकार-क्षेत्र की तत्कालीन लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक एक सौ साठ मील और घाट की श्रेणियों से पूर्व तक सौ मील हो चुकी थी। जैसा कि हम उसके राजनैतिक जीवन के तृतीय चरण का अध्ययन करते समय देखेंगे, जब दिल्ली के मुगल बादशाहों के साथ शिवाजी का संघर्ष प्रारम्भ हुआ, बीजापुर के शासकों ने शिवाजी के साथ हुई सन्धि की शर्तों को तोड़ दिया और पुनः मराठों पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया; परन्तु शिवाजी के वीर सेनानी प्रतापराव गूजर ने बीजापुर के प्रथम आक्रमण को विफल कर दिया, यद्यपि उसके सैनिकों को अपनी जीवन-रक्षा के लिए भाग निकलने का अवसर दे दिया। शिवाजी ने इस प्रकार के उदार व्यवहार के लिए उस की कड़ी आलोचना की, और प्रतापराव अपने स्वामी की इस आलोचना से इतना प्रताड़ित हुआ कि जब अगली बार पुनः बीजापुरी सेना ने शिवाजी के क्षेत्र पर आक्रमण किया, तो प्रतापराव ने मुस्लिम सेना का भयंकर संहार किया और उनको पराजित करने के पश्चात् इस बार बहुत दूर तक उन का पीछा किया, और उन का पूर्ण विनाश करने के प्रयास में अपने अमूल्य प्राण की बलि चढ़ा दी। कुछ ही समय पश्चात्, जब मुगलों ने बीजापुर पर घेरा डाल दिया, तो बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी की सहायता प्राप्त करने के लिए आर्त हो कर प्रार्थना की। शिवाजी ने भी इस अवसर समस्त पुराने विरोधों पर धूल डाल देना नीतिपूर्ण समझा और आक्रामक मुगलों पर पीछे से आक्रमण कर दिया। अभी मुगल इस

आक्रमण को सम्भल भी न पाये थे कि मराठों ने उन के दोनों पार्श्व भागों पर भी आक्रमण कर दिया, और मुगलों को उन की सीमा तक खदेड़ आये। अन्ततः मुगलों को बीजापुर पर से घेरा उठा लेने के लिए विवश होना पड़ा। शिवाजी की उदार सहायता के कारण ही इस बार बीजापुर, मुगलों के सबल पंजों में फँसने से बच गया; और लगभग बीस वर्षों तक के लिए इस का जीवन-काल पुनः बढ़ गया। शिवाजी के जीवन के तृतीय चरण का विवरण प्रस्तुत करते समय यथा-स्थान इन घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया जायेगा; यहाँ इन का उल्लेख केवल इसलिए कर दिया गया है कि एक ही दृष्टि में पाठकों के बीजापुर के साथ शिवाजी के सम्बन्ध की प्रकृति स्पष्ट हो जाय।

छठवां अध्याय

वृक्ष से फल-प्राप्ति

शिवाजो के राजनैतिक जीवन का तृतीय काल सन् १९६२ ई० से प्रारम्भ होता है। इस समय से पूर्व यद्यपि मुगल सेनाएँ दक्षिण में स्थान-स्थान पर पड़ी हुई थी, परन्तु शिवाजी ने अभी तक उनसे किसी प्रकार की छेड़-छाड़ करना उचित नहीं समझा था; कारण कि वह अभी तक इतनी शक्ति एकत्रित नहीं कर पाया था कि विशाल मुगल साम्राज्य से युद्ध मोल ले कर कुछ सफलता प्राप्त कर सकता। इस बीच शिवाजी ने मुगलों के विरुद्ध केवल एक कार्य किया था कि १६५७ में उसने जुन्नर पर धावा बोल कर लूट-पाट मचाई थी; इस कृत्य के अतिरिक्त दो में से एक पक्ष द्वारा भो, कोई शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं किया गया था। वास्तव में जिस समय दिल्ली के सिंहासन पर शाहजहाँ आरूढ़ था, शिवाजी ने उस के समक्ष अधीनता स्वीकार करने का निर्णय कर लिया था। इस निर्णय का कारण केवल यही नहीं था कि ऐसा करने पर बीजापुर के शासकों पर मुगल बादशाह का दबाव पड़ने के फलस्वरूप उसके पिता की मुक्ति में सहायता प्राप्त हो सकेगी; बल्कि लगभग इतना ही प्रबल कारण यह भी था कि वह अपने कुछ अधिकारों एवं दावों पर मुगल बादशाह की मान्यता प्राप्त करना चाहता था, और शिवाजी के द्वारा व्यक्तिगत रूप से दरबार में मान्यता-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाने की स्थिति में शाहजहाँ ने उस के दावों पर उदारतापूर्वक विचार करने का वचन भी दिया था। जब औरंगजेब को विवश होकर बीजापुर का घेरा उठाकर दिल्ली के सिंहासन की प्राप्ति हेतु, अपने भाइयों से संघर्ष करने के लिए, उत्तर की ओर भागना पड़ा, तो वह अपने अधीनस्थ अधिकारियों को निर्देश देता गया कि कोंकण पर शिवाजी के दावे को मान्यता प्रदान कर दी जाय, साथ ही शिवाजी को आदेश दे दिया जाय कि वह चुने हुए सवारों के साथ बादशाह की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहे और नर्मदा के दक्षिणस्थ, मुगल-साम्राज्य के अधिकाराधीन समस्त जिलों में शान्ति और सुव्य-

वस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी सम्भाले। कुछ समय पश्चात् जब औरंगजेब ने अपने भाइयों पर विजय प्राप्त कर ली और मुगलों के शाही सिंहासन का सर्वमान्य अधिकारी हो गया तो उसने उस सन्धि की उपेक्षा कर दी, जो कोंकण के सम्बन्ध में शिवाजी के साथ की गई थी। १६६१ ई० में मुगल सेना ने कल्याण पर घेरा डाल दिया, जो कि शिवाजी द्वारा अधिकृत-क्षेत्र की उत्तरी सीमा की आखिरी चौकी थी। इस समय शिवाजी इस स्थिति में नहीं था कि वह मुगल सेना के इस सन्धि-विरोधी कार्य का उचित उत्तर दे सकता; क्योंकि वह बीजापुर से संघर्षरत था। जब १६६२ ई० में बीजापुर के साथ सन्धि हो गई, तो शिवाजी की अश्वारोही सैन्य के सेनानायक नेताजी पालकर ने मुगलों के विरुद्ध प्रथम अभियान औरंगाबाद पर किया।

लगभग इसी समय शिवाजी के पेशवा मोरोपन्त ने जुन्नर के उत्तर में स्थित अनेक किलों पर अधिकार कर लिया, जो वास्तव में मराठा क्षेत्र में स्थित थे; परन्तु मुगल साम्राज्य के अधीन थे। इस प्रकार दोनों ही पक्षों के शत्रुतापूर्ण कार्यों के फलस्वरूप मुगल-मराठा युद्ध प्रारम्भ हुआ। जब शिवाजीके सेनानायकों ने उपरोक्त दुर्गों पर अधिकार किया, तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में मुगल सेनापति शायस्ता खाँ ने पूना और चाकण पर अधिकार कर लिया और दक्षिणी क्षेत्रों पर दृष्टि रखने के लिए पूना को ही अपना मुख्य केन्द्र बनाया। एक रात, अत्यन्त ही साहस का प्रदर्शन करते हुए, शिवाजी ने कुछ इने-गिने साथियों के साथ ही शायस्ता खाँ के महल में घुस कर उस पर आक्रमण कर दिया; परन्तु इसी बीच शोरगुल मच जाने पर वह अपने साथियों सहित सिंहगढ़ की ओर भाग निकला। मुगल अश्वारोही पर्याप्त संख्या में उसके पीछे लग गये, परन्तु बीच ही में नियुक्त नेताजी पालकर ने उन्हें बुरी तरह पराजित किया। ये घटनाएँ सन् १६६३ई० की है।१६६४ई० में शिवाजीने अत्यन्त ही गुप्त रूपसे तथा अनजाने मार्गसे, बिना किसी विरोध या रोक-टोक के सूरत पर अपना प्रसिद्ध आक्रमण किया। सूरत उस समय भारत के विदेशी व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। मराठा जल-सेना ने समुद्री क्षेत्र में पूर्ण आतंक फैला दिया और उधर से गुजरने वाले प्रत्येक जलयान को रोक लिया; यहाँ तक कि सूरत से मक्का जानेवाले जलयान भी रोक लिए गये, जो तीर्थयात्रियों से भरे हुए थे।

उसके जहाजी बेड़े के अन्य दलने १६६५ई० में गोआ के दक्षिण में स्थित एक अन्य समृद्ध बन्दरगाह को लूट लिया। इस महत्वपूर्ण अभियान के फलस्वरूप शिवाजी ने उत्तरी कनारा में भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। शायस्ता खाँ ने पूना में अपने महल में ही शिवाजी के रात्रिकालीन आक्रमण का जो रोमांचकारी दृश्य देखा था कि उसने पुनः कभी शिवाजी के मार्ग में पड़ने का साहस नहीं किया। अन्त में औरंगजेब ने उसे दक्षिण से वापस बुला लिया और शिवाजी के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए १६६५ई० में ही एक विशाल सेना के साथ राजा जयसिंह और दिलेर खाँ को दक्षिण भेजा। विशाल मुगल वाहिनी ने बिना किसी विरोध के मराठा-क्षेत्र में प्रवेश किया और पुरन्दर के दुर्ग पर घेरा डाल दिया। इस समय इस दुर्ग की सुरक्षा का भार एक बाजी सरदार के हाथ में था, जिसका नाम था मुरार बाजी देशपांडे। यद्यपि विशाल मुगल सेना के सम्मुख उसके मुट्ठी भर सैनिक नगण्य थे, फिर भी जब तक उसके शरीर में प्राण रहे, उसने दुर्ग की रक्षा करने का हर सम्भव प्रयत्न किया। पुरन्दर को खो देने के पश्चात शिवाजी ने जो निश्चय किया उसके सम्बन्ध में न तो मराठा वृतान्तों और ग्रांट डफ ने ही संतोषजनक कारण दिया है। इस समय अचानक उसने अनुभव किया कि वर्तमान परिस्थितियों में राजा जयसिंह के सम्मुख अधीनता स्वीकार कर लेना, नीति की दृष्टि से, सर्वथा उचित होगा। राजा जयसिंह मुगल-दरबार का सर्वप्रमुख हिन्दू सामन्त था, और शिवाजी को आशा थी कि जयसिंह की सहायता से शान्तिपूर्ण ढँग से ही उसके उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाना सम्भव है। यह नहीं समझना चाहिए कि शिवाजी का यह आकस्मिक निर्णय निराशाजनित था। एक देशी वृत्तान्त के अनुसरण शिवाजी ने सदैव की भाँति इस अवसर पर भी दैवी पथ-प्रदर्शन के लिए अपनी आराध्या देवी से प्रार्थना की और देवी भवानी ने उसे इस अवसर पर जयसिंह के सम्मुख अधीनता स्वीकार कर लेने का परामर्श दिया; क्योंकि जयसिंह भी देवताओं का प्रिय था, और युद्ध द्वारा उस पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। हम देख चुके हैं कि शिवाजी ने कितनी सरलता से अफजल खाँ और शायस्ता खाँ को पराजित किया था, तथा जिस समय औरंगजेब अपनी सम्पूर्ण सैन्य के साथ दक्षिण में पड़ा हुआ था, उस समय भी कतिपय मराठा नायकों ने बिना किसी उपयुक्त नेता के उस के विरुद्ध संघर्ष भी

जारी रक्खा था, जबकि उन के हाथ में सामरिक महत्व का एक भी दुर्ग नहीं था; अतः इन सब तथ्यों को देखते हुए, हम एक क्षण के लिए भी यह स्वीकार करना उचित नहीं समझते कि शिवाजी जयसिंह के साथ युद्ध जारी रखने में असमर्थ था। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि अपने चौंतीस वर्षों के गौरवपूर्ण राजनैतिक जीवन में, शिवाजी ने जितने भी युद्धों का नेतृत्व स्वयं किया, उन में से किसी में भी उसे पराजय का मुँह नहीं देखना पड़ा और जब कभी उसे परिस्थितियाँ एक दम प्रतिकूल दिखाई पड़ीं, उसने चारों तरफ से घेरे हुए आपत्तियों से ही प्रेरणा प्राप्त करके स्वयं में नवीन साहस एवं शक्ति का अनुभव किया और कठिनाइयों पर सफलता प्राप्त की। इसलिए,हम इस धारणा पर पूर्ण रूप से विश्वास कर सकते हैं कि जब शिवाजी ने पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात् जयसिंह के सम्मुख अधीनता स्वीकार करने के साथ साथ अपने अधिकांश दुर्गों एवं क्षेत्रों को भी समर्पित कर देने का निश्चय किया, तो अवश्य ही कोई गम्भीर कूटनीतिक दाँव उसके मस्तिष्क में रहा होगा, जिसके अनुसार स्वयं उसके अन्तःकरण ने तथा उसके परामर्शदाताओं ने उसे कार्य करने का परामर्श दिया। सम्भव है कि शिवाजी ने यह विचार किया हो कि अस्थायी रूप से अधीनता स्वीकार करके दिल्ली दरबार का रंग-ढंग देख लेने के पश्चात् उसे अधिक विशाल-क्षेत्र में कार्य करने के ढंग का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा, या कम-से-कम इस प्रकार वह मुगल-साम्राज्य के महत्वपूर्ण राजपूत सामन्तों से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर तो अवश्य प्राप्त कर सकेगा। शिवाजी एक अन्य दृष्टि से भी इस कार्य को लाभदायक समझ सकता था। जयसिंह के सम्मुख आत्मसमर्पण कर के वह जो आत्म-त्याग करता, उस के महत्व को जयसिंह अवश्य समझता, और इस प्रकार शिवाजी एवं जयसिंह के बीच की मित्रता और भी दृढ़ हो जाती और तब शिवाजी अपनी अधिक महत्वपूर्ण योजनाओं की पूर्ति में उसका सहयोग प्राप्त कर सकता था। शिवाजी प्रारम्भ से ही चौथ और सरदेशमुखी के दावों को प्रस्तुत करता आ रहा था और यद्यपि न तो शाहजहाँ और न हो औरंगजेब ने उस के इन दावों को अन्तिम रूप से मान्यता प्रदान की थी; फिर भी उसे आशा बँधी हुई थी, जिससे वह यह सोचने के लिए उत्साहित हुआ कि मुग़ल-

सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसे अपने दावों पर मान्यता प्राप्त करने का वैधानिक आधार मिल सकेगा। उपरोक्त तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से ही शिवाजी के इस निर्णय पर अधिक प्रभाव पड़ा। यद्यपि भविष्य की घटनाएँ इन कल्पनाओं से मेल नहीं खातीं, फिर भी हम यह नहीं मान सकते कि शिवाजी का यह निर्णय निराशाजनित था। अस्तु, यह तथ्य निर्विवाद है कि इस अवसर पर शिवाजी ने किसी भी मूल्य पर मुगल-सम्राट् के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसके इस निश्चय के अनुसार एक सन्धिपत्र बनाया गया, जिसके अनुसार शिवाजी ने बीस दुर्गों को मुगलों के अधिकार में दे दिया, और बारह दुर्गों को अपने विभिन्न सरदारों के संरक्षण में दे दिया। अपने राज्य-क्षेत्र के शासन-प्रबन्ध के लिए उसने तीन सर्वाधिक विश्वस्त सरदारों की एक समिति बना दी, जिससे प्रधान हुई जीजाबाई। अब शिवाजी ने मुगल दरबार की अधीनता स्वीकार कर ली, और जयसिंह के साथ बीजापुर की ओर बढ़ा। कुछ समय पश्चात् जब शिवाजी ने जयसिंह द्वारा अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन प्राप्त कर लिया, तो वह अपने पुत्र सम्भा जी, कुछ चुने हुए अश्वारोहियों और मावलियों के साथ दिल्ली की ओर रवाना हो गया। दरबार में पहुँचने पर बादशाह ने उस का उतना स्वागत-सत्कार नहीं किया, जितने की उसे अपेक्षा थी, और शीघ्र ही शिवाजी को यह ज्ञान हो गया कि अन्त में उस के द्वारा जीवन की प्रथम परन्तु अत्यन्त भयानक भूल हो गई है। जिस चातुर्य एवं कौशल के साथ वह औरंगजेब के जाल को तोड़ कर निकल भागने में सफल हो गया, वह सर्वविदित है, और अधिक विस्तार में उस की पुनरावृत्ति करना मेरी दृष्टि से व्यर्थ है। परन्तु इस घटना से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि शिवाजी में बुद्धिचातुर्य एवं प्रत्युत्पन्न मति प्रचुरमात्रा में थी, जिस के द्वारा वह कठिन-से-कठिन परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर सकता था; साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि उसके अनुगामी उस के प्रति कितना श्रद्धा एवं भक्ति रखते थे! प्रस्तुत, जब वह पूरे दस माह पश्चात् पुनः अपने राज्य में पहुँचा, तो उसने प्रत्येक व्यवस्था को उसी सुचारु रूप में चलते पाया, जिस रूप में वह छोड़ कर गया था। शिवाजी की उक्त दिल्ली-

यात्रा मराठा-इतिहास का प्रथम महान् संकट-कालीन अवसर था। मुगल सेनाओं ने मैदानी भागों एवं दुर्गों पर अधिकार कर लिया था, शिवाजी अपने पुत्र सहित दिल्ली में कारागार में पड़ा हुआ था, फिर भी शिवाजी के अनुगामियों में किसी ने भी देशद्रोही जैसा घृणित कार्य नहीं किया और न वह शिवाजी का पक्ष छोड़ कर शत्रु सेना में सम्मिलित ही हुआ। उस की अनुपस्थिति में भी उस का शासन-कार्य उसी प्रकार चलता रहा मानों कुछ हुआ ही न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर दृढ़तापूर्वक अपना कर्त्तव्यपालन करता रहा, और जब यह समाचार मिला कि शिवाजी मुगल सम्राट् के कारागार से भाग निकलने में सफल हो कर घर लौट आया है, तो पूरे महाराष्ट्र में दावानल की तरह यह शुभ समा- फैल गया और चल रहे युद्ध में पूर्व की अपेक्षा अधिक उत्साह आ गया। एक-के-बाद एक दुर्ग पर मराठे आक्रमण करते गये, और उन पर अधिकार करते गये। जब राजा जयसिंह को भी दक्षिण से दिल्ली बुला लिया गया; उस समय तक शिवाजी कारागार में ही थे; फिर भी मोरोपन्त पेशवा ने इस अवसर का लाभ उठाया, और पूना के उत्तर में स्थित दुर्गों और कल्याण प्रान्त के अधिकांश भाग पर पुनः शिवाजी का प्रिय भगवा ध्वज लहरा दिया। इस बार औरंगजेब ने राजा जयसिंह के बदले में अपने एक शाहजादे और जोधपुर के राणा जसवन्तसिंह को विशाल सैन्य के साथ दक्षिण की डाँवाडोल परिस्थितियों को सम्भालने के लिए रवाना किया। औरंगजेब ने अपने लड़के को दक्षिण का सूबेदार बना कर कर भेजा था। उसने दक्षिण पहुँचते ही सर्वप्रथम कार्य यह किया कि अपने पिता की अनुमति से शिवाजी के साथ एक सन्धि की, जिस के अनुसार मुगल सम्राट् ने शिवाजी को 'राजा' की पदवी प्रदान की, शिवाजी के पुत्र को पंचहजारी मनसब का अधिकारी बनाया और जुन्नर तथा अहमदनगर पर किए गए शिवाजी के दावे के बदले में शिवाजी को बरार में एक जागीर दी गई। उसकी पैतृक जागीर के जिले--पूना, चाकण और सूबा भी उसे वापस कर दिए गए, परन्तु सिंहगढ़ और पुरन्दर के दुर्गों को औरंगजेब ने अपने हाथ में ही रक्खा। इस समझौते द्वारा शिवाजी मुगल-सम्राज्य का सामन्त हो गया और अपन अस्त्रा-

रोही सैन्य के उस गुल्म के साथ बादशाह की सेवा करने के लिए तैयार हो गया, जो प्रतापराव गूजर के नायकत्व में औरंगाबाद के समीप पड़ी हुई थी। शिवाजी तथा औरंगजेब के बीच शान्तिपूर्ण सम्बन्ध लगभग दो वर्षों तक बना रहा, जब तक कि मुगल बादशाह तथा बीजापुर के मध्य जारी युद्ध १६६६ में समाप्त नहीं हो गया और दोनों पक्षों में सन्धि नहीं हो गई।

बीजापुर के सुल्तान तथा मुगल सेनापतियों के मध्य जो सन्धि हुई, उस से शिवाजी का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था; पर इस समय दक्षिण के सूबेदार (औरंगजेब के पुत्र) और शिवाजी के सम्बन्ध अत्यन्त ही मित्रतापूर्ण थे; अतः शिवाजी को इस सन्धि से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने पुनः बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों से चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार का दावा प्रस्तुत किया, जोकि वह पिछले वर्षों में भो कई बार कर चुका था। मुगलों के दबाव के कारण १६६६ ई० में प्रथम बार गोलकुण्डा और बीजापुर के सुल्तानों ने शिवाजी के दावे को मान्यता प्रदान करते हुए क्रमशः तीन लाख और पाँच लाख रुपया प्रति वर्ष देने का वचन दिया। इस प्रकार १६६६ई० में शिवाजी की स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई; इस बार उसने अपनी खोई हुई जागीर के साथ अधिकांश पर्वतीय दुर्गों में का भो वापस पा लिया। इसके साथ ही वह मुगलों द्वारा भी एक जागीर और मनसब का स्वामी बना दिया गया। इन उपलब्धियों के अतिरिक्त सब से महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी थी कि उसने दक्षिण के मुस्लिम राज्यों से चौथ और सर देशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। जब औरंगजेब ने अपनी तरफ से १६६७ ई० में शिवाजी के साथ हुए समझौते का अनादर करते हुए उस पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की, उस समय तक शिवाजी पूर्व की अपेक्षा सफलता में अधिक विश्वास के साथ, मुगलों से युद्ध छेड़ देने में समर्थ हो चुके थे। औरंगजेब ने दक्षिण में सूबेदार के रूप तैनात शाहजादे को छल-बल से शिवाजी को धूल में मिला देने का आदेश भेजा। इस समय भी प्रतापराव गूजर अपनी अश्वारोही टुकड़ी के साथ औरंगाबाद में ही समझौते के अनुसार पड़ा हुआ था। ज्यों ही उसे मुगलों

की इस कपटपूर्ण दुरभिसन्धि की गन्ध मिली, वह अपने अश्वारोहियों के साथ औरंगाबाद से खिसक गया। इस प्रकार एक बार पुनः शिवाजी को मुगल-सम्राट् की समस्त शक्ति का सामना करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से खुले मैदान में आना पड़ा। मुगल-आक्रमण से आत्मरक्षा हेतु सिंहगढ़ को पुनः अपने अधिकार में ले लेना शिवाजी को अत्यावश्यक प्रतीत हुआ। यह दुर्ग पिछले पाँच वर्षों से मुगल सम्राट् के प्रतिनिधियों के रूप में राजपूतों के संरक्षण में पड़ा हुआ था। सिंहगढ़ पर अधिकार करने का भार तानाजी मालसुरे ने अपने कन्धों पर लिया। अपने भाई सूर्याजी तथा केवल तीन सौ मावलियों के साथ लगभग मध्यरात्रि के विकट अन्धकार में उसने सीढ़ियों द्वारा सिंहगढ़ पर सदल-बल चढ़ने का सफल प्रयत्न किया, और दुर्ग के भीतर पहुँचने में भी सफल हो गया; परन्तु इसी समय दुर्ग-रक्षक राजपूतों के सजग हो जाने के कारण भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसमें तानाजी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। अपने वीर भाई द्वारा देश के लिए किए गए इस गौरवपूर्ण आत्म-बलिदान से प्रेरित हो कर सूर्याजी ने इस अधूरे कार्य को पूरा करने के निमित्त राजपूतों के शवों के ढेर लगा दिये और प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध किया। अन्त में विजय मराठों के हाथ ही रही। जब तानाजी की मृत्यु का समाचार, सिंहगढ़-विजय के समाचार के साथ ही मिला, तो शिवाजी के मुख से केवल इतना ही निकला है--"गढ़ तो आया, परन्तु सिंह चला गया!" सिंहगढ़-विजय के पश्चात् मराठा-विजयों की शृंखलामें निरन्तर नई कड़ियाँ जुड़ती रहीं। शीघ्र ही पुरन्दर माहुली, करनाला, लोहगढ़ और जुन्नर को भी अधिकृत कर लिया गया। अब मराठों ने जंजीरा पर धावा किया; परन्तु सिद्दियों (Siddis) की शक्ति भी कम नहीं, अतः वे अपने सागरीय दुर्गों की रक्षा करने में समर्थ रहे। सूरत में पुनः लूट-पाट की गई। जिस समय शिवाजी सूरत से वापस लौट रहा था, मुसलमान सेनापतियों को उसकी भनक मिल गई और वे उसका पीछा करने लगे। यद्यपि इस समय मराठों की संख्या मुगलों की अपेक्षा बहुत कम थी, फिर भी मराठा अश्वारोही उसी प्रकार लूटपाट करते हुए रायगढ़ तक चले गये, साथ ही पीछा करनेवाली मुगल सेना पर भी छापा मार कर उन्हें अत्यधिक हानि पहुँचाई। प्रतापराव गूजर

ने अपने कुशल एवं साहसी अश्वारोहियों के साथ खानदेश में प्रवेश किया, और समस्त खानदेश-क्षेत्र से कर वसूलते हुए बरार की लगभग पूरबी सीमा तक पहुँच गया। यह प्रथम अवसर था कि मराठों ने उन क्षेत्रों से चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल की, जो मुगल-साम्राज्य की सीमा के अन्दर थे।

मोरोपन्त पेशवा ने भी १६७१ ई० में कई किलों पर अधिकार कर लिया, जिनमें बालगन में स्थित सल्हेर भी सम्मिलित था। अगले ही वर्ष मुगलों ने एक विशाल सेना के साथ इस दुर्ग को घेर लिया। मराठों ने वीरतापूर्वक इस घेरे का सामना किया। अन्त में प्रतापराव गूजर तथा मोरोपन्त पेशवा ने एक खुले युद्ध में मुगलों को पराजित करने में सफलता पाई। १६७३ ई० में पनहाला पर पुनः शिवाजी का अधिकार हो गया; इसी बीच शिवाजी के एक सेनानायक अण्णाजी दत्तो ने हुब्ली (Hulbi) को भी लूट लिया। शिवाजी की जल-सेना ने कारवार की तरफ एक अभियान किया, और उस क्षेत्र में स्थित समस्त तटीय जिलों पर पुनः शिवाजी का आधिपत्य स्थापित हो गया। गोलकुण्डा के सुल्तान की ही तरह बेदनोर के शासकों ने भी शिवाजी की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी बीच शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए बीजापुर से एक सेना भेजी गई, जिसे प्रताप राव गूजर ने पराजित किया एवं अत्यधिक हानि पहुँचाई। १६७४ ई० में फिर बीजापुरी सेना ने मराठा-क्षेत्र पर आक्रमण किया, तथा हंसाजी मोहिते ने इस सेना को भी बुरी तरह पराजित किया और बीजापुर के फाटक तक पीछा किया। इस प्रकार मुगल-सम्राट् से पुनः शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध बनाने के पश्चात् चार वर्षों में ही शिवाजी ने अपने पुराने अधिकृत क्षेत्रों को मुगलों के हाथ से छीन लेने में सफलता प्राप्त की. और प्रत्येक दिशा में पर्याप्त दूरी तक अपने राज्य का विस्तार किया, और उस को यह विजय-यात्रा केवल स्थलीय भागों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि सागरीय एवं तटीय क्षेत्रों में भी उसने काफी सफलता प्राप्त की। उत्तर में उसने सूरत तक सफल धावे किए, दक्षिण में बेदनोर और हुबली तक अपना प्रभाव जमाया, और पूरब में बरार के साथ-साथ गोलकुण्डा और बीजापुर तक आतंक फैला दिया। ताप्ती नदी के दक्षिणस्थ मुगल-साम्राज्य के सूबों से मराठों

ने चौथ और सरदेशमुखी को वसूल किया और गोलकुण्डा के साथ बेदनोर के शासक ने भी उसकी अधीनता स्वीकार की। मराठा-वृत्तान्त लेखकों के अनुसार शिवाजी हिन्दुओं के बादशाह बनने योग्य ख्याति अर्जित कर चुके थे; क्योंकि उसने तीन मुसलमान बादशाहों की सेनाओं को पराजित किया, और उन्हें विवश कर अपने दावों पर उन की मान्यता प्राप्त की। जनसाधारण में भी ऐसी ही धारणा बन चुकी थी; अतः यह स्वाभाविक ही था कि शिवाजी के मंत्रिगण उसे एक औपचारिक (क्योंकि राजा की उपाधि तो औरंगजेब द्वारा मिल ही चुकी थी) राज्याभिषेक समारोह सम्पन्न करने का परामर्श देते, जिससे उस की उस महान् सफलता को उचित सम्मान प्रदान किया जा सकता, जिसकी प्राप्ति के लिए वह गत तीस वर्षों से सतत प्रयत्न कर रहा था। यह कार्य एक अन्य दृष्टि से भी आवश्यक दिखायी पड़ता था। उस समय दक्षिणी भारत की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल थी, और एक ऐसी सबल केन्द्रीय शक्ति की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, जिस की ध्वजा के नीचे, दक्षिण भारत के सभी छोटे-बड़े सरदार एकत्रित हो कर औरंगजेब के प्रबल आक्रमणों को विफल करने का संगठित प्रयत्न करते।

अब हम शिवाजी के राजनैतिक जीवन के चौथे और अन्तिम चरण में प्रवेश करते हैं। शिवाजी का राज्याभिषेक-समारोह अत्यन्त धूमधाम से, उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। पर्याप्त मात्रा में ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा तथा दीनों और भिखारियों को भोजन-वस्त्र आदि दिया गया। दक्षिण में एक प्रबल हिन्दू राज्य की स्थापना को उचित महत्व एवं उद्घोषण दिया जाना आवश्यक था; अतः सह्याद्रि की शृंखला में सभी दुर्गों तथा शिवाजी अधिकृत समस्त तटीय दुर्गों ने तोप के गोलों की गर्जना द्वारा शिवाजी के राज्यारोहण के शुभ समाचार से प्रत्येक दिशा को गुंजायमान कर दिया। अपने जीवन के इन शेष इने-गिने वर्षों में शिवाजी को मुगल सेनापतियों के साथ कोई विशेष महत्वपूर्ण युद्ध नहीं करना पड़ा। सम्भवतः मुगल शिवाजी के साथ युद्ध करते-करते थक गये थे, और अब उन्होंने अपनी समस्त शक्ति बीजापुर और गोलकुण्डा को पराजित करने में लगा दी थी।

एक मुगल सेनापति द्वारा गोलकुण्डा पर किया गया एक आक्रमण, हम्बीर राव मोहिते की समयोचित सहायता से विफल कर दिया गया और शिवाजी के संरक्षण में गोलकुण्डा का सुल्तान कुछ और कालके लिए सुरक्षित हो गया। जब शिवाजी ने स्वयं अपने नेतृत्व में कर्नाटक की ओर अभियान किया, तो उपरोक्त उपकार के बदले में गोलकुण्डा के सुल्तान ने भी उसकी सहायता के लिए अपनी सेना भेज कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस अभियान में शिवाजी दक्षिण में तंजौर तक धावा मारा और वेल्लोर पर अधिकार कर लिया, गिंगी के दुर्ग की किलेबन्दी कराई तथा मैसूर से गुजरनेवाली सड़क पर अनेक चौकियों की स्थापना की। इस समय मुगलों के आक्रमणों से बीजापुर वालों की बड़ी दुर्दशा हो रही थी और अब आदिलशाही सुल्तान एवं उसके वजीरों के पास मुगलों के आक्रमणों का उत्तर दे सकने की सामर्थ्य नहीं रह गई थी। अन्त में अपने वजीरों के परामर्श से बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी से सहायता की याचना की। शिवाजी ने भी बीजापुर की गत शत्रुतापूर्ण कुचेष्टाओं को भूलते हुए, मुगलों के विरुद्ध बीजापुर की सहायता के लिए अपनी सेना भेज दी। शिवाजी की इस सहायक सेना ने सूरत से ले कर बुरहानपुर तक विभिन्न शिविरों में फैली हुए विशाल सेना को तितर-बितर कर दिया, और आक्रामक मुख्य मुगल सेना के पृष्ठ भाग तथा पार्श्वों पर भयानक आक्रमण किया। अन्त में त्रस्त होकर मुगल सेनापतियों को बीजापुर का घेरा उठा कर बीजापुर लौट जाने के लिए विवश होना पड़ा। इस चतुर्थ चरण की प्रमुख सैनिक-घटनाएँ यही थीं; शिवाजी ने अपने जीवन के इन शेष वर्षों को अपनी शासन व्यवस्था के संगठन में लगाया, क्योंकि यह चरण उसके लिए अत्यन्त शान्तिपूर्ण था और उसके पास पर्याप्त अवसर था। अगले अध्याय में हम इन्हीं प्रशासनिक सुधारों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे। इस स्थल पर इतना कहना ही पर्याप्त है कि जब कि प्रथम चरण में शिवाजी का प्रभाव चाकण और नीरा नदी के बीच स्थित क्षेत्र तक ही सीमित था, अपनी मृत्यु के समय वह ताप्ती के दक्षिण में सर्वाधिक शक्तिवान देशी शासक था और सभी मुसलमान और हिन्दू शासक उसे ताप्ती तथा कवेरी नदी के मध्य स्थित क्षेत्र के एकमात्र स्वामी की मान्यता देते थे।

—:★:—

सातवाँ अध्याय

शिवाजी—एक प्रशासक के रूप में

पिछले पृष्ठों में शिवाजी की सैनिक उपलब्धियों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे शिवाजी के प्रतिभाशाली मस्तिष्क के नीतिपूर्ण क्रियाकलापों के केवल एक अंग पर प्रकाश पड़ता है और हम प्रायः यह भूल जाते हैं कि उसमें इससे भी उच्चतर गुणों का समावेश था जिन पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाना आवश्यक है। महान सेनानी नेपोलियन की भाँति ही, शिवाजी भी अपने काल का एक महान् संगठन कुशल, व्यक्ति, तथा प्रशासक संस्थाओं एवं समितियों का कुशल निर्माता था, इसी कारण उसके द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन इतनी सफलता प्राप्त कर सका तथा एकमात्र यही कारण था जिससे उसका देश उसकी मृत्यु के थोड़े ही समय पश्चात उन भयानक आपत्तियों से बिना किसी विशेष हानि के मुक्त हो सका जो महाराष्ट्र के भविष्य को अन्धकारमय बना देने की सामर्थ्य रखते थे। शिवाजी की संगठन कुशलता के कारण ही प्रबल मुगल साम्राज्य के साथ निरन्तर बीस वर्षों तक संघर्षरत रहने के पश्चात् महाराष्ट्र अपने स्वतन्त्रता के दावे को साधिकार स्थापित कर सका। शिवाजी द्वारा स्थापित इन प्रशासनिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए विशेष ध्यान अपेक्षित है क्योंकि वे ऐसी मौलिकता एवं बुद्धि चातुर्य का प्रदर्शन करती है जिसका कोई भी उदाहरण तत्कालीन मुसलमान या हिन्दू शासकों की शासन व्यवस्था में नहीं मिलता। इससे भी अधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि स्वातन्त्र्य-युद्ध के पश्चात् जब देश का पुर्नसंगठन किया गया तो स्वयं शिवाजी के ही उत्तराधिकारी पुनः पुरातन शासन व्यवस्था को ग्रहण करना ही अधिक उचित समझा और मराठा राज्य के संस्थापक द्वारा बनाई हुई पथ-प्रदर्शक रेखाओं पर चलने के बजाय, विपरीत मार्ग ही पकड़ा, और इस प्रकार शिवाजी द्वारा निर्मित शासन के प्रारूप का अनुसरण न करके उन्होंने संगठनहीनता और पारस्परिक

मतभेद का बीज बोया, जब कि शिवाजी का मुख्य उद्देश्य ही था संगठन, और शक्ति का केन्द्रीकरण और इन्हीं दो तत्वों को शिवाजी की सफलता का अधिकांश श्रेय दिया जा सकता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्पूर्ण भारत में अपने ही द्वारा प्रत्यक्ष शासन व्यवस्था पर आधारित विशाल साम्राज्य की स्थापना करना शिवाजी की महत्वाकांक्षा नहीं थी; उसके संघर्ष एवं प्रयत्नों का मुख्य ध्येय मराठों को स्वतन्त्रता दिलाना, तथा आत्मरक्षार्थ शक्तिशाली बनाना तथा मराठों के हृदय में राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना था, उसने देश में प्रभावशाली बनी हुई अन्य शक्तियों को समूल नष्ट करने की आकांक्षा ही नहीं की थी। गोलकुण्डा तथा वेदनोर के शासकों के साथ उसका सम्बन्ध अत्यन्त ही मित्रतापूर्ण था; युद्धकालीन अवसरों के अतिरिक्त उसने बीजापुर के साथ भी किसी प्रकार का द्वेषभाव नहीं रक्खा, तथा तेलगांना मैसूर और कर्नाटक के शासकों के प्रभाव क्षेत्र में भी कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उसका सौतला भाई वेणको जी की जागीर द्रविड़ देश में स्थित थी; उसमें भी उसने वेणकोजी की व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। उसने मुगल-क्षेत्रों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव कर लिया। उसने स्वराज्य (स्वयं द्वारा प्रशासित क्षेत्र) तथा 'मोगलाई (उसके 'स्वराज्य' की सीमा के बाहर स्थित, अन्य शासकों द्वारा शासित क्षेत्र) के मध्य एक स्पष्ट बँटवारा कर लिया था। उसने जिन प्रशासनिक संस्थाओं की स्थापना की थी, वे केवल मराठा क्षेत्रों की व्यवस्था की दृष्टि से तैयार की गई थी यद्यपि इन संस्थाओं का प्रयोग कुछ अंशों में उन सामरिक महत्व के दुर्गों में भी प्रारम्भ किया गया था जो प्रायद्वीप के एक दम दक्षिणी सिरे पर स्थित थे। अपने प्रत्यक्ष शासन व्यवस्था के अन्तर्गत स्थित सम्पूर्ण प्रशासकीय क्षेत्र को उसने अनेक प्रान्तों में विभाजित कर दिया था। उसकी पूना स्थित पैतृक जागीर के अतिरिक्त, अन्य प्रान्त (जिले) इस प्रकार थे :—

(१) प्रान्त मावल—इसमें मावल-क्षेत्र, सासवड़, जुन्नर और खेड़ के तालुके सम्मिलित थे, और इस प्रान्त की रक्षा का प्रबन्ध अठारह सुदृढ़ पर्वतीय किलों पर से किया जाता था। (२) वाई

सतारा और कराद के प्रान्त—इसमें वर्तमान सतारा जिले के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे और इनकी रक्षा के लिए पन्द्रह दुर्गों की व्यवस्था की गई थी; (३) पनहाला प्रान्त—इसमें कोल्हापुर के पश्चिमी क्षेत्र एवं तेरह दुर्ग सम्मिलित थे; (४) दक्षिणी कोंकण प्रान्त–इसमें रत्नागिरि तथा ४८ पर्वतीय एवं सागरीय दुर्ग सम्मिलित थे; (५) थाना प्रान्त—इसमें उत्तरी कोंकण के जिले तथा बारह दुर्ग सम्मिलित थे; (६,७) — त्र्यम्बक और बागलन प्रान्त — इसमें नासिक के पश्चिमी क्षेत्र तथा बासठ किले सम्मिलित थे; (८) बनगढ़ प्रान्त—इसमें धारवाड़ जिले के दक्षिणी भाग तथा बाईस दुर्ग सम्मिलित थे; (९,१०,११,) वेदनोर-कोल्हार और श्री रंगपटन प्रान्त—इसमें वर्तमान मैसूर के साथ अठारह दुर्ग सम्मिलित थे; (१२) कर्नाटक प्रान्त—इसमें ब्रिटिश भारतीय मद्रास प्रेसीडेन्सी क्षेत्र के विजित भाग जो (कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित थे) तथा अठारह दुर्ग सम्मिलित थे; (१३) वेलौर प्रान्त—इसमें आधुनिक आकार तथा पच्चीस दुर्ग सम्मिलित थे, (१४) तंजोर प्रान्त तथा छ दुर्ग। सह्यादि की श्रेणियाँ पर्वतीय दुर्गों की शृंखला से बँध सी गई थी; और सह्यादि की श्रेणियों से पश्चिम में समुद्र तट तक तथा इन किलों के पूर्व की ओर शिवाजी का राज्यक्षेत्र ५० से सौ मील तक की चौड़ाई में फैला हुआ था।

मराठा ऐतिहासिक वृतान्तों के अनुसार शिवाजी के अधिकार में कुल मिलकर दो सौ अस्सी दुर्ग थे। एक दृष्टिकोण से यह कहना यथार्थ प्रतीत होता है कि पर्वतीव दुर्ग ही शिवाजी की राज्य की प्रशासनिक इकाइयाँ थीं, इनके अन्तर्गत ये क्षेत्र सम्मिलित किए गए थे जो इन दुर्गों के प्रभाव-क्षेत्र में स्थित थे। नए दुर्गों के निर्माण तथा पुराने दुर्गों के जीर्णोद्धार के लिए धन व्यय करने में शिवाजी ने अत्यधिक धन व्यय किया। इन दुर्गों की रक्षा तथा सुव्यवस्था के सम्बन्ध में उसने सर्वोत्तम सम्भव प्रयत्न किए। वास्तव में प्रारम्भिक मराठा युद्धों में ये दुर्ग ही सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं; अनेक महत्वपूर्ण युद्धों के कारण इन दुर्गों ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है, तथा इतिहास के पृष्ठों में अपना विशेष स्थान बना लिया है। प्रायः मराठे उन दुर्गों के आश्रय में रहकर ही आक्रमणों का

प्रतिरोध करते थे, तथा प्रायः आक्रमण करने की योजनाएँ भी इन दुर्गों की स्थिति को ध्यान में रख कर ही बनाई जाती थीं। पूरा मराठा-साम्राज्य इन दुर्गों की सुदृढ़ शृंखला में एक दृष्टि से बंधा हुआ था, और संकटकालीन परिस्थितियों में ये दुर्ग देश के प्रमुख रक्षक का कार्य करते थे। विशाल मुगल सेना इन दुर्गों की ही सुदृढ़ता के सम्मुख निरुपाय हो कर पड़ी रहती थी। उदाहरणार्थ, औरंगजेब के समय में मुगल-सेना ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सतारा पर घेरा डाला, और महीनों तक घेरा डाले पड़ी रही; यद्यपि यह दुर्ग अन्त में ध्वस्त हो गया, परन्तु यही प्रथम दुर्ग था जिसे राजाराम के निर्देशन में अवध के वर्तमान नवाब के पूर्वजों ने मुगलों से पुनः छीन लिया था। तोरणा और रायगढ़ के दुग शिवाजी की प्रारम्भिक विजयों से सम्बन्धित हैं। शिवनेरी दुर्ग शिवाजी का जन्म-स्थान ही था; बाजी प्रभु के प्रशंसनीय प्रतिरक्षात्मक युद्ध के कारण पुरन्दर दुर्ग का नाम विख्यात हो गया है; इसी प्रकार जब तक तानाजी मालूसरे का नाम लोगों की स्मृति में रहेगा, तब तक सिंहगढ़ का नाम भी उन के मानस-पटल पर अंकित रहेगा। पन्हाला दुर्ग, सिद्दी जौहर के प्रबल घेरे का सफल प्रतिरोध करने के कारण प्रसिद्ध है; जबकि रांगणा का दुर्ग भी प्रबल प्रतिरक्षात्मक संघर्ष के कारण स्मरणीय है, जिसमें शिवाजी के अनन्य सहचर ने अपने स्वामी के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी थी। मालवन और कोलाबा दुर्गों की प्रसिद्धि का कारण यह है कि सर्वप्रथम सामुद्रिक अभियानों के लिए, नौसेना के संगठन के समय शिवाजी ने इन्हीं दोनों दुर्गों का चयन किया था। अफजल खाँ काण्ड के कारण प्रतापगढ़ दुर्ग ने ख्याति प्राप्त की, जबकि माहुली और सालेरी में मराठा मावलियों ने भयंकर युद्धों में मुगल सेनापतियों को पराजित किया था। शिवाजी द्वारा अधिकृत क्षेत्र में स्थित इन दुर्गों की पूर्वी सीमा के पास भी अनेक उल्लेखनीय दुर्ग थे, जो इस प्रकार थे—कल्याण, भिंवडी, वाई, कराद, सूपा, खटाव, बारामती, चाकण, शिरवल, मीरज, तासगाँव और कोल्हापुर। शिवाजी ने दुर्गों से जितनी उपयोगिता की आशा की थी, ये उस से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। प्रत्येक दुर्ग एक मराठा

सैनिक अधिकारी के हाथ में रहता था, जिसे 'हवलदार' कहा जाता था। इस अधिकारी के अधीन अन्य सहायक भी रहते थे, जो विभिन्न प्रतिरक्षात्मक प्राचीरों की देख-रेख करते थे। ये सहकारी भी मराठे ही होते थे। 'हवलदार' के दो प्रमुख सहायक थे, जिन में से पहला 'सूबेदार' कहलाता था, उसे 'सबनीस' भी कहा जाता था; ये 'सूबेदार' या 'सबनीस' ब्राह्मणों के तीन प्रमुख वर्गों में से चुने जाते थे; और दूसरे को 'कारखानिस' कहा जाता था, जो प्रभुओं की श्रेणी में से चुना जाता था। अपने इन सहायकों के साथ 'हवलदार' दुर्ग की दुर्ग-रक्षक सेना का प्रधान अधिकारी होता था। ब्राह्मण सूबेदार प्रशासन तथा राजस्व विभागों का उत्तरदायित्व सम्भालता था; उसके कार्य-क्षेत्र में ग्राम भी सम्मिलित रहते थे, जो दुर्ग के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित थे; जबकि प्रभु 'कारखानिस' खाद्य-सामग्री, पशुओं के चारे, युद्ध-सामग्री तथा दुर्ग की मरम्मत कराने के लिए उत्तरदायी होता था। इस प्रकार लगभग समान श्रेणी के इन अधिकारियों के कार्य-क्षेत्र विभाजित थे; फिर भी सुचारु रूप से दुर्ग की कार्य-व्यवस्था सम्भालने के लिए उन का पारस्परिक सहयोग अपेक्षित रहता था तथा समान श्रेणी के होने के कारण उनमें ईर्ष्या या द्वेष की भावनाएँ प्रवेश नहीं कर पाती थीं। पर्वतीय ढालों की सुरक्षा का बहुत दृढ़ प्रबन्ध किया जाता था। दुर्ग के नीचे फैले हुए वनों की सुरक्षा का भार 'रमोशियों' या अन्य निम्न वर्णों को सौंपा जाता था। इन वनों की सुरक्षा किस प्रकार की जाय, इस सम्बन्ध में इन वन-रक्षकों को प्रति सूक्ष्म निर्देश दिये जाते थे, और उन की कार्य के समय का विभाजन दिन और रात के अनुसार किया जाता था। दुर्ग के विस्तार तथा महत्व के अनुसार दुर्ग-रक्षक-सेनाओं का आकार भी भिन्न-भिन्न होता था। प्रति नौ सैनिकों के ऊपर एक अधिकारी होता था, जिसे 'नायब' कहा जाता था। इन सैनिकों के प्रमुख अस्त्र-शस्त्र थे—बन्दूक, छोटी तलवार, भल्ल या भाला, बरछा और पट्टा (लम्बी, कम चौड़े ब्लेड की तलवार)। अपने पद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य या वस्तु के रूप में अपना वेतन प्राप्त करता था।

दुर्गों की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन करने के उपरान्त

अब हम मैदानी भागों की व्यवस्था की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। मैदानी क्षेत्र 'महालों' तथा प्रान्तों में विभाजित थे; जो कि वर्तमान समय में प्रचलित 'ताल्लुका' प्रथा से बहुत मिलता-जुलता है। एक महाल की वार्षिक आय औसतन पचहत्तर हजार से एक लाख पचीस हजार रुपए तक होती थी। इस प्रकार के दो या तीन महालों को मिला कर एक 'सूबा' (जिला) बनता था। सूबेदार का वार्षिक वेतन था—चार सौ हॉंस (Hons); अर्थात् लगभग सौ रुपया। शिवाजी ने उस समय प्रचलित मुगल-राजस्व-व्यवस्था का अनुसरण न करते हुए, मालगुज़ारी की व्यवस्था का भार पूर्णतः ग्राम के पाटिल या कुलकर्णी तथा जिले के देशमुख और देशपाण्डे के हाथों में ही नहीं छोड़ दिया। ग्रामों और जिलों के ये राजस्व-अधिकारी पूर्ववत् अपने सम्बन्धित क्षेत्रों से मालगुज़ारी प्राप्त करते थे, परन्तु इस वसूल किए हुए धन की व्यवस्था करने का अधिकार उन के हाथों से छीन कर प्रत्यक्ष रूप से सूबेदारों तथा 'महालकरियों' के हाथों में दे दिया गया था, और वे अपने सूबों तथा महालों की राजस्व-व्यवस्था की देख-रेख करते थे। दो-दो या तीन-तीन ग्रामों के समूह की व्यवस्था का भार एक कमाविसदार (कारकुन) पर रहता था, जो अपने अधीन क्षेत्रों की मालगुजारी की वसूली प्रत्यक्ष रूप से करता था। इस प्रकार मैदानी भागों की मालगुजारी के सम्बन्ध में शिवाजी ने जिस परम्परा को जन्म दिया था, इसमें अव्यवस्था अथवा बेईमानी की गुञ्जायश कहुत कम थी।

अभी ऊपर हम दुर्गों की सैनिक व्यवस्था तथा अधिकारियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। जब हम शिवाजी की पदाति तथा अश्वारोही सेनाओं के पदाधिकारियों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दुर्गों की उपरोक्त व्यवस्था का आधार तथा मुख्य स्रोत शिवाजी की सेनाओं के पद-विभाजन की सामान्य व्यवस्था ही है। प्रत्येक पदाति (पैदल) टुकड़ी में प्रति दस सैनिकों पर एक नायक होता था; ऐसे-ऐसे पाँच दलों के सरदार को 'हवलदार' तथा उसके अधीनस्थ टुकड़ी को 'हवाला' कहा जाता था। दो हवालों से एक 'जुमाला' बनता था,

जिसके सरदार को 'जुमालेदार कहा जाता था; दस जुमालों को मिला कर पूरे एक हजार सैनिकों की जो टुकड़ी बनती थी, उसके सरदार को 'हजारी' कहा जाता था। मावली पदाति सेना में इस प्रकार की सात टुकड़ियाँ होती थीं, और उसके सरदार को 'सर्नोबत' कहा जाता था। अश्वारोही सैन्य के दो मुख्य विभाग थे--'बारगीर' और 'सिलेदार'। पच्चीस बारगीरों अथवा सिलेदारों के ऊपर एक हवलदार होता था। इस प्रकार के पाँच हवालों का एक जुमाला बनता था; और इन जुमालों के सरदार को हजारी कहा जाता था और हजारियों को पाँच टुकड़ियों का सरदार 'पंचहजारी' कहा जाता था। अश्वारोही सेना का अन्तिम पदाधिकारी 'सर्नोबत' होता था। प्रति पचीस अश्वारोहियों के साथ एक जलवाहक और Farrier रहता था। पैदल सेना अथवा अश्वारोही सेना के प्रत्येक उच्च अधिकारी के अधीन एक ब्राह्मण 'सबनिस' और एक प्रभु 'कारखानिस' अथवा एक ब्राह्मण 'मजुमदार' और एक प्रभु 'जामिनिस' रहता था। बारगीरों के अश्व मानसून के प्रकोप-काल में छावनियों में रहते थे, जहाँ घास और दाने का पूर्ण प्रबन्ध रहता था और सैनिकों के आश्रय के लिए बैरकें बनीं रहती थीं। सभी अफसर तथा सैनिक निश्चित वेतन प्राप्त करते थे। एक पागा हजारी को एक हजार होंस (Hons) तथा पागा पंचहजारी को दो हजार होंस (Hons) वेतन के रूप में मिलता था। पद-सेना में वेतन पाँच सौ होंस था तथा अधीनस्थ अधिकारियों और सैनिकों को नौ रुपए से तीन रुपए तक वेतन मिलता था, जबकि अश्वारोही सेना में इन श्रेणियों के व्यक्तियों की आय बीस रुपए से छः रुपया तक थी। वर्ष के आठ माह तक, यह नियम बन गया था कि सेना, अपना वेतन 'मुलुकगीरी' (मुगल क्षेत्रों से वसूल की जानेवाली चौथ और सरदेशमुखी की रकम) से प्राप्त करती थी। जब सेना चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के लिए भेजी जाती थी, तो सैनिकों या अधिकारियों को अपने साथ अपने स्त्री-बच्चों को ले जाने का दृढ़ निषेध रहता था। जब किस नगर में लूट-पाट की जाती थी, तो प्रत्येक सैनिक और सेना से सम्बन्धित आदमियों को लूट के माल का हिसाब देना पड़ता था। सेनाधिकारियों अथवा पहले से ही सेना ते नियुक्त सैनिकों द्वारा अच्छे चरित्र तथा व्यवहार की

जमानत के बिना किसी नये व्यक्ति को सेना में नियुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी। सेना के पदाधिकारियों को अग्रिम वेतन दिया जाता था, और उन्हें चौथ और सरदेशमुखी के रूप में वसूल की गई रकम का हिसाब देना पड़ता था। शिवाजी के समय में, सैनिक सेवाओं के बदले में भूमि या मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दिये जाने की प्रथा प्रचलित नहीं थी। यद्यपि शिवाजी के सैन्य-संगठन में अनुशासन और नियमों के पालन पर बहुत ध्यान दिया जाता था, फिर भी सेना में नियुक्त होने के इच्छुक व्यक्तियों का अभाव नहीं था। शिवाजी के काल में सेना से अधिक महत्व, नौकरी की दृष्टि से, किसी भी अन्य विभाग को नहीं दिया जाता था। दशहरे के दिन, जब सेना में भरती के लिए विभिन्न केन्द्र खुले रहते थे, तो घाटमाथा के मावलियों, कोंकण हेटकरियों और मुख्य महाराष्ट्र के बारगोरों तथा सिलेदारों की भीड़ उमड़ पड़ती थी, और राष्ट्रीय भगवा-ध्वज के नीचे तिल भर स्थान भी नहीं बचता था।

नकद वेतन, तथा मालगुजारी की वसूली की प्रत्यक्ष व्यवस्था को शिवाजी ने अपने अधीनस्थ सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे उस का विस्तार किया। देशी वृतान्त लेखकों ने इन दो चीजों में, पुरानी प्रचलित परम्परा को छोड़ कर नया मार्ग ग्रहण करने के इस कार्य को, शिवाजी द्वारा किए गये अन्य सुधारों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है; क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि शिवाजी ने भी इन दोनों सुधारों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया था। उस का विचार था कि भूतकाल में, राजस्व-विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा दुर्व्यवहार का प्रमुख कारण यही था कि मालगुजारी वसूलने तथा सम्बधित क्षेत्रों की राजस्व-व्यवस्था का अधिकार ग्रामों अथवा जिलों के जमीन्दारों के हाथों में दे दिया जाता था। वे जमीन्दार रैयत से तो निश्चित रकम से अधिक लगान वसूल करते थे, परन्तु कोष में जमा करते समय, निश्चित रकम से भी कम जमा करते थे। केवल इतना करके ही उन की आत्मतुष्टि नहीं होती थी; अवसर सुलभ होने पर वे अपने क्षेत्रों में विद्रोह के बीज बोते थे, और केन्द्रीय शक्ति के आदेशों का पालन करने की अपेक्षा

अवरोध उत्पन्न करने की प्रवृत्ति ही दिखाते थे। अब तक जो कार्य जमींन्दारों द्वारा सम्पन्न किया जाता था, उसके लिए शिवाजी ने निम्नलिखित वैतनिक अधिकारियों की व्यवस्था की थी—'कमाविसदार', 'महालकरी' तथा 'सूबेदार'। जब खेतों में फसल तैयार हो जाती थी और कटने का समय समीप आ जाता था, तो द्रव्य या अन्न के रूप में लगान की निश्चित रकम वसूल करने का भार 'कमाविसदार' को दिया गया था। सतर्कतापूर्वक खेतों की माप की जाती थी और खेत के मालिकों के नाम खाते में लिख लिए जाते थे, और उसी के अनुसार शेष लगान के लिए खेत के स्वामियों से प्रतिवर्ष कबूलयात (स्वीकारोक्ति) लिखवा ली जाती थी। जहाँ तक अन्न के रूप में लगान चुकाने का प्रश्न था, सरकार की ओर से कभी भी कुल लगान की दर का अनुपात ५ : २ से अधिक नहीं होता था, अर्थात् प्रति पाँच भाग में से दो भाग सरकार का, जो वह लगान के रूप में ले सकती थी और शेष तीन भाग कृषकों के लाभ के रूप में छोड़ दिया जाता था। जब फसल खराब हो जाती थी, या कोई अन्य दुर्घटना हो जाती थी तो सरकार की ओर से उदारतापूर्वक 'तगाई' (आर्थिक सहायता) बाँटी जाती थी, और उन्हें सुगम किस्तों में वापस लौटाने के लिए चार-पाँच वर्षों का समय दिया जाता था। सूबेदार, लगान सम्बन्धी (दीवानी) और फौजदारी, दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं की देख-रेख करता था। उस समय दीवानी अदालतों का कार्य उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था; और यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाता था, तो सूबेदार के माध्यम से वह विवाद ग्राम के पंचों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। अधिक महत्वपूर्ण मामलों में अन्य ग्रामों के पंचों का मत भी लिया जाता था तथा दोनों पक्ष ग्राम पंचायत के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते थे।

जिले के शासन-प्रबन्ध का यह संगठन अपने कार्यों के लिए केन्द्रीय अधिकारियों के सम्मुख उत्तरदायी था; और ये अधिकारी थे-पन्त-अमात्य और पन्त-सचिव। इन दोनों पदाधिकारियों के जिम्मे जो कार्य थे, यदि उस हिसाब से उनके पदों का आधुनिकीकरण किया जाय, तो क्रमशः उन्हें वित्त-मंत्री तथा प्रधान लेखा-निरीक्षक

कहा जा सकता है। जिले की सारी वसूली का हिसाब इन उच्च अधिकारियों के प्रमुख प्रस्तुत किया जाता था; तथा ये अधिकारी सरकारी लगान-प्राप्ति के अनुमानित हिसाब और जिले के अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत हिसाब का मिलान करते थे; और कोई त्रुटि मिलने पर उसकी जाँच करना और सम्बन्धित व्यक्तियों को दण्डित करने का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में था। उचित एवं आवश्यक समझने पर, जिले के कर्मचारियों के कार्य के निरीक्षणार्थ निरीक्षकों की नियुक्ति करने का अधिकार भी पन्त-अमात्य एवं पन्त-सचिव को प्राप्त था। अमात्य तथा सचिव के ऊपर पेशवा होता था और इस प्रकार पेशवा तथा जिले के अधिकारियों के बीच में ये दोनों ही प्रशासकीय क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकारी होते थे। इन लगान-सम्बन्धी व्यवस्थाओं के साथ-साथ, वे कुशल सेना-अधिकारी भी होते थे। ये दोनों अधिकारी शिवाजी द्वारा स्थापित प्रशासन-समिति के सदस्य भी होते थे। इस समिति को 'अष्ट-प्रधान' कहा जाता था, जिसमें आठों विभागों के सर्वोच्च अधिकारी सम्मिलित थे।

पेशवा राज्य का प्रधान मंत्री था, और राजा के नीचे उसी का स्थान था। वह राज्य के सम्पूर्ण शासन तथा सैनिक सम्बन्धी समस्त विभागों का प्रधान अधिकारी था, तथा उसका आसन राजा के सिंहासन के बिल्कुल नीचे, दाहिनी ओर रहता था। सैनिक संगठन के प्रधान अधिकारी को 'सेनापति' कहा जाता, और उसका आसन पेशवा के आसन के बाईं ओर होता था। पेशवा के आसन के नीचे पन्त-अमात्य एवं पन्त-सचिव के आसन रहते थे। जो अधिकारी राजा के व्यक्तिगत मामलों की व्यवस्था देखता था उसे मंत्री कहा जाता था, और उसका आसन पन्त-सचिव के नीचे रहता था। वैदेशिक विभाग का प्रधान था 'सुमन्त', जिसका आसन सेनापति के नीचे बाईं ओर होता था। आध्यात्मिक विभाग के प्रधान को 'पण्डितराव' कहा जाता था। पण्डितराव के नीचे बाईं तरफ प्रधान न्यायाधीश बैठता था। शिवाजी द्वारा संगठित शासन-समिति का इतना अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारत का वर्तमान (ब्रिटिश-कालीन) संविधान शिवाजी की 'अष्ट-प्रधान' व्यवस्था से एकाधिक दृष्टिकोणों से मेल खाता है। अष्ट-प्रधान के पेशवा का पद वाइसराय तथा गवर्नर जनरल के पद के समान माना जा

सकता है; सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ) का पद उसके बाद ही आता है। कमाण्डर-इन-चीफ के पश्चात् अधिकारियों के क्रम में तीसरा और चौथा स्थान वित्त-मंत्री (फाइनेन्स मिनिस्टर) और विदेश-मंत्री (फारेन मिनिस्टर) का है। भारतीय (ब्रिटिश भारतीय) सरकार के संविधान में, कार्यकारिणी समिति (एक्जीक्युटिव कौन्सिल) में आध्यात्मिक प्रधान की कोई व्यवस्था नहीं की गई है, इसी प्रकार मंत्री (प्राइवेट सेक्रेटरी) और प्रधान न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) के लिए भी इस कार्यकारिणी समिति में कोई स्थान नहीं है; बल्कि उनके स्थान पर इस समिति में गृह-विभाग (होम डिपार्टमेन्ट) का प्रधान सदस्य (मेम्बर इन चार्ज), वैधानिक सदस्य (लीगल मेम्बर) और जन-निर्माण-विभाग के मंत्री (पब्लिक वर्क्स मिनिस्टर) सम्मिलित किए गए हैं। शिवाजी की अष्ट-प्रधान-योजना तथा ब्रिटिश भारतीय कार्यकारिणी समिति में सम्मिलित सदस्यों में यह विभिन्नता परिवर्तित परिस्थितियों के कारण ही दिखाई पड़ती है, परन्तु दोनों ही समितियों के संगठन का आधारभूत सिद्धान्त एक ही है—राज्य के उच्चतम अधिकारियों की एक समिति का निर्माण, जो एक साथ बैठ कर राजा के कर्तव्यपालन में उस की भरपूर सहायता करें। यदि शिवाजी द्वारा आयोजित इस योजना को उसके उत्तराधिकारियों ने भी उतना ही महत्व दिया होता, जितना कि शिवाजी ने दिया था, और प्रत्येक सम्भव सफलता प्राप्त की था तो अधिक दृढ़ अनुशासन और आधुनिक संसाधनों से युक्त ब्रिटिश शक्ति का प्रभाव बढ़ने से पूर्व ही, सम्भवतः वे संकट उपस्थित न हो पाते, जिनके कारण मराठा-संघ की एकता छिन्न भिन्न हो गई। मराठा-संघ के छिन्न-भिन्न होने का बीज इसी एक तथ्य में छिपा हुआ था, कि शिवाजी के काल में परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थीं कि पण्डित राव तथा न्यायाधीश को छोड़ कर शेष सभी प्रधानों (मंत्रियों) को सैनिक अधिकारियों का कर्यभार भी सम्भालना पड़ता था, और यह बात स्वाभाविक ही थी कि सेना के अत्यधिक कुशल सेनापतियों एवं नेताओं के हाथ में राज्य की शक्ति केन्द्रित हो जाती। शिवाजी को प्रारम्भ से ही इस सम्भावित खतरे की आशंका थी, और इसी खतरे से बचने के लिए उसने किसी भी पद को पैतृक न बनाने का नियम अपनाया था। स्वयं अपने

ही समय में, उस की सेना में चार सेनापति थे—मणको जी दहातोन्दे, प्रतापराव गूजर, नेताजी पालकर और हम्बीर राव मोहिते। कुछ ही समय पश्चात् उसने प्रथम पेशवा को बदल दिया, और मोरोपन्त पिंगले को उस का स्थान दिया। इसी प्रकार पन्त-अमात्य के पद को भी उसने एक ही व्यक्ति के हाथ में नहीं रहने दिया। यही नहीं, उसने किसी भी पद को किसी परिवार की पारिवारिक सम्पत्ति नहीं बनने दिया। शाहू के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में, अवश्य शिवाजी द्वारा प्रचलित इस परम्परा को, कुछ महत्व दिया गया, परन्तु शाहू के शासन-काल का अन्त होने पर प्रथम तीन पेशवाओं—बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव प्रथम और बालाजी बाजीराव ने अपनी नीति-कुशलता एवं बुद्धिचातुर्य से इस पद को अपनी पारिवारिक सम्पत्ति बना डाला; जबकि अन्य मंत्रियों के प्रतिनिधि प्रायः अयोग्य एवं महत्वहीन सिद्ध हुए, जिसके फलस्वरूप उनका प्रभाव धीरे-धीर समाप्त हो गया, और शिवाजी द्वारा नियोजित, अधिकारों का समान वितरण तथा शक्ति का सन्तुलन बिगड़ गया। धीरे धीरे पेशवा ही मराठा-संघ के स्वामी बन बैठे तथा राज्य के आठों मंत्री अपना महत्व खो बैठे और नाममात्र के मंत्री के रूप में निष्क्रिय हो कर पड़े रहे; क्योंकि कोई महत्वपूर्ण कार्य उन्हें दिया ही नहीं जाता था। शिवाजी ने जिस सर्वशक्तिशालो एवं केन्द्रीय सरकार के संगठन का प्रारूप बना कर उस का सफल प्रयोग भी किया था, कालान्तर में, अन्य एशियाई देशों की तरह मराठा सरकार भी पूर्णतः असगंठित हो गई। वैयक्तिक साहस एवं वीरता की परम्परा समाप्त हो गई और प्रत्येक मंत्री और सरदार पेशवा का कृपापात्र बनने के प्रयत्न में ही रहने लगा। पेशवा के प्रभावशाली होने पर मराठा-संघ के प्रभाव की वृद्धि हुई और पेशवा के निर्बल रहने पर दरबार दलबन्दियों का अखाड़ा बन गया। परन्तु हम इन सब दोषों के लिए शिवाजी द्वारा प्रारम्भ की गई शासन-व्यवस्था को उत्तरदायी नहीं बना सकते; क्योंकि ये दोष तो तब उत्पन्न हुए, जब उसके उत्तराधिकारी उसके द्वारा निर्देशित मार्ग की उपेक्षा करने लगे।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी, शिवाजी उस समय में प्रचलित

परम्पराओं और प्रथाओं से बहुत आगे था। किसी भी प्रशासनिक अथवा सैनिक अधिकारी को जागीर के रूप में भूमि का स्वामित्व न देने के नियम का पालन वह बड़ी दृढ़ता से करता था। शिवाजी की व्यवस्था के अनुसार पेशवा और सेनापति जैसे उच्चधिकारियों से ले कर सिपाहियों और कारकूनों तक, प्रत्येक कर्मचारी अपना वेतन प्रत्यक्ष रूप से द्रव्य या वस्तु के रूप में प्राप्त करता था। जिस का भुगतान राजकोष या राज्य के अन्न-भण्डार से किया जाता था। सभी कर्मचारियों का वेतन निश्चित था और निश्चित समय पर नियमपूर्वक दे दिया जाता था। जागीर या भूमि के रूप में वेतन देना शिवाजी के नियम के प्रतिकूल था क्योंकि वह जानता था कि चाहे कितनी ही अच्छी परिस्थितियों में और कितने ही अच्छे उद्देश्य से यह कार्य किया जाय, इस प्रथा में अधिकारों का दुरुपयोग होता ही है। यह स्वाभाविक हो है कि जागीरदार अपने क्षेत्र में अपना स्वामित्व एवम् प्रभाव स्थापित करने की प्रवृत्ति रखता है, और जब पारिवारिक उत्तराधिकार की शृंखला के कारण उस का यह प्रभाव दृढ़ एवम् स्थायी हो जाता है तो बिना बल-प्रयोग के जागीरदार की इस शक्ति को नष्ट कर देना अत्यन्त दुरूह हो जाता है। भारतवर्ष में पार्थक्य अलगाव और संगठनहीनता की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही बहुत बलवती रही हैं, और ऐसे पृथकतावादी वातावरण में जागीर देने की प्रथा, और जागीर की ही आय से जागीरदारों द्वारा अपनी निजी सेना रखने की परम्परा इन प्रवृत्तियों को इतना अधिक प्रोत्साहन प्रदान करती है कि सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था का चल पाना लगभग असम्भव हो जाता है। शिवाजी इस सम्बन्ध में इतना सतर्क रहता था कि वह जिले के जमीन्दारों को भी, उन की सुरक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण कराने की अनुमति नहीं प्रदान करता था। बल्कि वह उन का भी उसी प्रकार के खुले घर में रहना आवश्यक समझता था, जिस प्रकार के घरों में साधारण प्रजा रहती थी। शिवाजी के शासन-काल में किसी भी उच्च पद पर नियुक्त कोई भी पदाधिकारी, अपने उत्तराधिकारियों के लिए, उत्तराधिकार के रूप में, पर्याप्त भूमि दे सकने का अवसर

नहीं प्राप्त कर पाता था। मोरोपन्त पिंगले, आवाजी सोनदेव, राघो बल्लाल, दत्तो अण्णाजी, नीराजी रावजी, मालुसरे, कङ्क, प्रतापराव गूजर, नेताजी पालकर, हम्बीरराव मोहिते, तथा अनेकानेक मराठा सरदार शिवाजी के विशेष विश्वासपात्र थे, तथा उच्च पदों पर नियुक्त थे, परन्तु उनमें से कोई भी ऐसे समृद्धिशाली परिवारों की स्थापना नहीं कर सका जैसा कि अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में शाहू के मंत्रियों ने किया।

अपने शासन-काल में शिवाजी ने भूमि के रूप में जो भी अनुदान दिए, वे देवालयों की सुचारु व्यवस्था के लिए तथा दान आदि के रूप में दिए गए थे। ये देवालय सार्वजनिक सम्पत्ति थे, और उनके संचालक राजनीति तथा सैनिक सेवा से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे, और साधारणतः राज्य के संगठन को हानि पहुँचाने का कोई प्रयत्न नहीं कर सकते थे। शिवाजी द्वारा प्रदत्त दान आदि भी निरुद्देश्य एवं निरर्थक नहीं होते थे। शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए शिवाजी ने 'दक्षिणा' (छात्रवृत्ति) की प्रथा प्रचलित की थी, जिसके द्वारा होनहार युवकों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने में सहायता मिलती थी। यह परिणाम तथा योग्यता के अनुसार छात्रवृत्ति दी जाने वाली आधुनिक शिक्षा प्रणाली का प्राचीन रूप था। ब्राह्मणों को एक निर्धारित दर पर दक्षिणा वितरित की जाती थी, और यह दर विभिन्न प्रकार के विषयों तथा शिक्षा के प्रसार के अनुसार भिन्न-भिन्न, परन्तु तत्कालीन आवश्यकताओं और स्तर के अनुसार पर्याप्त होती थी। उस काल में शिक्षा के लिए सार्वजनिक विद्यालयों का प्रचलन नहीं था; अध्यापक या गुरु, अपने ही निवास स्थल पर, शिष्यों को एकत्रित करके उन्हें विभिन्न शास्त्रों की शिक्षा देते थे, और राज्य द्वारा की गई वार्षिक पारितोषिक की व्यवस्था इतनी पर्याप्त होती थी कि अध्यापक या छात्र को किसी भी प्रकार की आर्थिक चिन्ता में पड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस समय शिवाजी ने अपनी सत्ता स्थापित करना प्रारम्भ किया, उस समय देश के इस भाग में संस्कृत की शिक्षा अपने निम्नतम स्तर पर थी। परन्तु जिन उपायों से शिवाजी ने शिक्षा के प्रसार को प्रोत्साहन देने का कार्य

आरम्भ किया, उनके फलस्वरूप शीघ्र ही दक्षिण भारत अपने प्रतिभाशाली छात्रों एवं विद्वानों के लिए विख्यात हो गया; उच्च शिक्षा के लिए मेधावी छात्रों को बनारस भेजा जाने लगा जो अनेक शास्त्रों का सफल अध्ययन करके, तथा अनेक प्रकार से सम्मानित होकर अपने देश आए और अपने राजा द्वारा पुरष्कृत किए गए। शिक्षा के प्रसार को प्रोत्साहित करने के लिए शिवाजी द्वारा प्रारम्भ की गई 'दक्षिणा'-प्रथा शिवाजी के पश्चात् भी महाराष्ट्र में प्रचलित रही। जब सम्भाजी मुगलों द्वारा बना लिया गया, तो भी इस व्यवस्था को तलेगाँव के डभाडे-परिवार ने जीवित रक्खा, और जब डभाडे-परिवार का महत्व भी महाराष्ट्र के राजनीतिक मंच पर न रह गया, तो पेशवाओं ने इस व्यवस्था को प्रश्रय दिया। धीरे-धीरे इस दक्षिणा का क्षेत्र भी विस्तार प्राप्त करता गया; और यह प्रथा पेशवाओं द्वारा; अंग्रेजों के भारत-विजय तक पूर्ववत् चलती रही। कहा जाता है कि अन्तिम वर्षों में, दक्षिणा के रूप में प्रतिवर्ष वितरित की जानेवाली रकम पाँच लाख रुपये तक पहुँच चुकी थी।

ऊपर दिए हुए विवरणों में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि शिवाजी की शासन-व्यवस्था, अनेक बातों में, उसके पूर्ववर्ती, या उसके पश्चात् आनेवाली शासन-व्यवस्थाओं से भिन्न थी। संक्षेप में उसकी शासन-प्रणाली की मुख्य विशेषता निम्नलिखित हैं :—

१—उसके प्रशासन की प्रारम्भिक इकाइयों के रूप में पर्वतीय दुर्गों का चयन किया गया था, जिन्हें शिवाजी अत्यधिक महत्व देता था।

२—उच्च पदों को पैतृक बनाने अर्थात् पिता के हाथ से पुत्र में पदाधिकार दिए जाने की मुगलकालीन प्रथा को उसने किसी भी प्रकार प्रोत्साहित नहीं किया, और योग्यता के आधार पर नियुक्ति की जाने की व्यवस्था की।

३—प्रशासनिक या सैनिक अधिकारियों की सेवा के बदले में दी जानेवाली जागीरों के लिए भी उसके शासन में कोई व्यवस्था नहीं थी; वह सेवा का मूल्य द्रव्य के रूप में अदा करता था।

४—उसने लगान वसूल करने के लिए प्रत्यक्ष प्रणाली अपनाई, तथा मालगुजारी वसूल करने, अथवा उस की व्यवस्था में गाँव अथवा नगर के जमीन्दारों द्वारा किए जानेवाले हस्तक्षेप को जड़ से समाप्त कर दिया।

५—उसने राज्य के विभिन्न-विभागों के प्रधानों की एक समीति (अष्ट-प्रधान) बनाई; तथा उनके कार्यों का स्पष्ट वितरण कर दिया, जिनमें से प्रत्येक सदस्य अपने कार्यों के लिए सीधे राजा के प्रति उत्तरदायी होता था।

६—अपनी शासन-व्यवस्था का प्रारूप शिवाजी ने इस नीति-पूर्ण ढंग से बनाया कि सैनिक अधिकारी, स्वयमेव प्रशासनिक अधिकारियों के नियंत्रण में रहने के लिए विवश हो गए।

७—उसने उच्चतम पद से ले कर निम्नतम पदों तक ब्राह्मणों, प्रभुओं या मराठों की नियुक्ति में कोई विभेद नहीं रक्खा, जिससे राज्य की शासन-व्यवस्था में जातिगत संतुलन बना रहा।

यह सत्य है कि शिवाजी की शासन-व्यवस्था को इन विशेषताओं में से कुछ को पर्याप्त समय तक प्रचलित नहीं रक्खा जा सका, और उस का कारण यह था कि कालान्तर में मराठा-साम्राज्य केवल 'स्वराज्य' के जिलों तक ही सीमित नहीं रह गया; बल्कि प्रत्येक दिशा में पर्याप्त दूरी तक विस्तृत हो गया था—शिवाजी द्वारा स्थापित साम्राज्य अब पूर्व में कटक तक, पश्चिम में काठियावाड़ तक, उत्तर में दिल्ली तक और दक्षिण में तंजौर तक फैल चुका था; और प्रत्येक क्षेत्र में जन-भावनाएँ विभिन्न थी, अतः प्रत्येक क्षेत्र को समान प्रशासनिक नियमों के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं था। महाराष्ट्र देश की सीमाओं के अन्दर—राजा से ले कर मंत्री, सेना के पदाधिकारी तथा सैनिक तक—सब एक ही जाति एवं राष्ट्र की सन्तान थे, और वे जिस प्रकार राष्ट्रभक्ति तथा राजभक्ति के प्रबल बन्धनों में बँध कर एक हो गए थे, उस प्रकार की भावनाओं का जन्म एवं विकास उन लोगों में होना असम्भव था, जो भारत के विभिन्न भागों के निवासी थे और जिनका देश शिवाजी द्वारा जीत लिया गया था। ऐसे लोग प्रथमतः सैनिक पेशेवाले

होते ही नहीं थे; या जो लोग मराठा-सेना में प्रवेश कर भी जाते थे, उन का उद्देश्य मात्र धन-उपार्जन होता था और वे अपने सरदार अथवा केन्द्रीय शक्ति के प्रतिनिधि के हितों की रंचमात्र चिन्ता नहीं करते थे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, हमें इस बात पर किसी भी प्रकार का आश्चर्य नहीं प्रकट करना चाहिए कि शिवाजी द्वारा व्यवस्थित उपरोक्त प्रशासन संस्थाएँ इतनी लोचदार नहीं थी कि वे भारत के समस्त भागों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकतीं। उदाहरण के लिए हम किलों को ले सकते हैं। जिस प्रकार से पर्वतीय दुर्गों को ही उसके प्रभावान्तर्गत स्थित क्षेत्रों के शासन का केन्द्र बना दिया गया था, उस प्रकार से गुजरात, मालवा, या स्वयं महाराष्ट्र के ही पूर्वी जिलों की शासन-व्यवस्था का संचालन किया जाना असम्भव था। इसी प्रकार मालगुजारी की वसूली की प्रत्यक्ष व्यवस्था एवं जमीन्दारों के महत्व की उपेक्षा समीपस्थ क्षेत्रों के लिए भले ही लाभदायक एव सुविधाजनक थी; परन्तु ऐसे दूरस्थ प्रान्तों में यह व्यवस्था उतनी सफल नहीं हो सकती थी, जहाँ की प्रशासनिक पराम्परा प्रारम्भ से ही लगान की प्रत्यक्ष वसूली के विरुद्ध थी। अतः शिवाजी के पश्चात् इस प्रकार की व्यवस्थाओं के समाप्त कर दिए जाने को अनुचित नहीं कहा जा सकता, परन्तु जहाँ तक अन्य तत्वों एवं शिवाजी द्वारा किए गए सुधारों का प्रश्न है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिवाजी के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण न करके पुनः पुरानी बुराइयों को अपना लेना, जैसाकि शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने किया—वास्तव में देश की प्रगति को अवरुद्ध कर देनेवाला कदम था जिसके लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती कि शिवाजी के पश्चात् जिन लोगों ने मराठा-राज्य का शासन भार ग्रहण किया, वे शिवाजी की व्यवस्थाओं एवं उसके सुधारों में निहित गम्भीरता को न समझ सके और अपनी सुविधा तथा पुरानी प्रथाओं की सरलता के आगे उन्होंने सिर झुका दिया; परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह ज्ञात हो गया कि उन्होंने शिवाजी द्वारा स्थापित शक्तिशाली मराठा-संघ के संगठन-सूत्रों को अत्यन्त निर्बल बना दिया था, और मराठा शक्ति के ये विभिन्न अंश जिस निर्बल जाति-प्रेम की डोर से बँधे हुए थे, मराठा इतिहास की

प्रथम भयंकर आपत्ति के सामने पड़ते ही उसका छिन्न-भिन्न हो जाना अप्रत्याशित नहीं था।

शाहू के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में शिवाजी द्वारा प्रारम्भ की हुई अष्ट-प्रधान-प्रणाली (आठ मंत्रियों की समिति द्वारा प्रशासन) ही प्रचलन में रही, परन्तु धीरे-धीरे उस का महत्व कम होता गया। जब राज्य की सत्ता पूर्णतः पेशवाओं के हाथ में आ गई और उन का प्रभाव अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया, तो अन्य मंत्री उनके प्रभाव के समक्ष महत्वहीन हो गए; और जब पेशवाओं ने पूना को मराठा राज्य की राजधानी बनाया, तो इन मंत्रियों का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया। शिवाजी के शासन-काल तथा शाहू के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में प्रशासन के क्षेत्र में पेशवा के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी पन्त-अमात्य तथा पन्त-सचिव ही थे; परन्तु शाहू की मृत्यु के पश्चात् मराठा-इतिहास में इन दोनों प्रमुख प्रशासनिक अधिकारियों के पद का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। पेशवाओं के राज्य में पन्त-अमात्य तथा पन्त-सचिव मात्र जागीरदार रह गए थे, और उनके हाथों में शासन-सम्बन्धी कोई भी अधिकार नहीं रह गया था। इन अधिकार च्युत पदाधिकारियों के स्थान पर, किन्हीं अन्य प्रकार के पदों की व्यवस्था करने की पेशवाओं ने न कोई परवाह ही की, न आवश्यकता ही समझी और सारे प्रशासनिक कार्य-भारों का उत्तरदायित्व पूर्णतः अपने ही ऊपर ले लिया। पेशवा स्वयं ही सेनाओं का प्रमुख सेनापति था, राज्य की राजस्व-व्यवस्था का एकाधिपत्य उसी के हाथ में था, और विदेश-मंत्रालय भी उसी की मुट्ठी में रहता था। इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं कि पेशवाओं ने इस प्रकार शासन को जिस व्यक्तिगत प्रणाली की स्थापना की, उससे मराठा-साम्राज्य उतने काल तक न टिक सका, जितने काल तक तब टिकता, जबकि शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने उसके द्वारा स्थापित संस्थाओं तथा शासन-प्रणाली के महत्व को समझ कर उन्हें अपनाया होता।

शिवाजी के शासन-काल में, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं—किसी भी पद को पैतृक नहीं बनाया गया था; अर्थात् कोई भी व्यक्ति उत्तराधिकार के रूप में किसी पद का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता

था, और शिवाजी के शासन-काल में इस नियम की उपेक्षा किए जाने का कोई उदाहरण नहीं प्राप्त होता। परन्तु शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् ही सभी महत्वपूर्ण पदों पर उत्तराधिकार के आधार पर नियुक्तियाँ की जाने लगीं, और हम यह निःसंकोच कह सकते हैं, कि शिवाजी के उत्तराधिकारियों द्वारा अपनाई गई यह प्रणाली भी अवनति के मार्ग पर ही ले जानेवाली थी। जब स्वयं पेशवा का सर्वोच्च पद ही पैतृक बन गया, तो यह स्वाभाविक ही था कि अन्य पद भी पैतृक हो जाते। परन्तु यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि योग्यता और गुण उत्तराधिकार के रूप में किसी को प्राप्त नहीं होते; अतः शीघ्र ही अधिकांश पदों पर ऐसे व्यक्तियों का अधिकार हो गया, जो उस पद के सर्वथा अयोग्य थे, और ऐसी परिस्थिति में मराठा-राज्य का अधिक दिनों तक टिका रह जाना सम्भव नहीं था, बल्कि इससे पतन की घड़ी आशा से कुछ पहले ही आ गयी। पेशवाओं ने चार पीढ़ियों तक अपना प्रभाव बनाए रक्खा, क्योंकि उन्होंने उत्तराधिकार में पद के साथ साथ उतनी सामर्थ्य भी प्राप्त की थी, परन्तु अन्य अधिकांश पदाधिकारी उतनी योग्यता भी नहीं रखते थे कि उस पद को उन की पारिवारिक सम्पत्ति मान लेना उचित समझा जा सकता, या इस प्रणाली के औचित्य को तर्कपूर्ण समझा जा सकता। पेशवाओं के शासन-काल में अनेक ऐसे व्यक्तियों ने अपना प्रभाव स्थापित किया, जो प्रारम्भ में निम्नतम पदों पर नियुक्त थे, क्योंकि वे ऊपर उठने के योग्य थे, परन्तु उनकी योग्यता को कभी भी उचित महत्व नहीं दिया गया और न उन्हें साम्राज्य के प्रशासकीय मण्डल में सम्मिलित होने का अवसर ही प्रदान किया गया। उदाहरण के लिए नाना फड़नवीस प्रधानमंत्री के पद तक पहुँचने की महत्वाकांक्षा रखता था क्योंकि वह फड़नवीस-परिवार में उत्पन्न हुआ था। इसी प्रकार महादजी शिन्दे, जो प्रारम्भ में एक सामान्य कोटि का सरदार था, अपनी योग्यता एवं नीतिकुशलता के बल पर अपने समय का सर्वाधिक शक्तिशाली सैनिक नेता बना। परन्तु उन दोनों में से किसी के लिए भी, या उनकी तरह के अन्य लोगों के लिए भी, मराठा-साम्राज्य की केन्द्रीय प्रशासन-मण्डल में किसी भी स्थान की व्यवस्था नहीं की गई; जबकि ऐसे लोगों में से प्रत्येक ने छल या बल से, दूसरे के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न

करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी और एक-दूसरे को नीचे गिराते रहे। इस प्रणाली का इससे भी घातक परिणाम यह हुआ कि प्रभावशाली सैनिक-नेताओं ने अपने-अपने क्षेत्रों में अपना राज्य बना लिये और वे स्वतंत्र राजा बन बैठे; तथा अपनी इच्छा के अनुसार युद्ध या सन्धि करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस भयानक परिणाम से काफी सीमा तक बचा जा सकता था, यदि सरकार की शासन-व्यवस्था का भार एक ऐसी समिति के हाथ में रहता, जिसमें समय की बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किए जाते; नये और योग्य व्यक्तियों को प्रशासन-मण्डल का सदस्य बनाया जाता और उत्तराधिकार के अनुसार पदों पर नियुक्ति की प्रथा की जड़ इतनी गहराई तक न जमने दी गई होती, जैसाकि शिवाजी को मृत्यु के पश्चात् आनेवाली दो पीढ़ियों में लगातार किया गया और एक अत्यन्त घातक प्रणाली को प्रश्रय दिया गया।

शिवाजी की प्रणाली तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा परिवर्तित शासन प्रणाली में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि शिवाजी ने किसी भी व्यक्ति को, किसी भी रूप में जागीर न देने का दृढ़ सिद्धान्त अपना लिया था और इस मत का कट्टर विरोधी था कि जो सरदार अपनी सैन्य शक्ति द्वारा किसी अन्य राज्य का क्षेत्र जीतने में सफल हो जाँय, उन्हें उक्त क्षेत्र जागीर के रूप में सौंप दिए जाँय, परन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने उसके इस सिद्धान्त को पूर्णतः त्याग दिया। कुछ सीमा तक शाहू की सरकार, कुछ विशेष घटनाओं एवं विपरीत परिस्थितियों के कारण उदारतापूर्वक जागीरें बाँटने के लिए विवश हो गई थी, अतः उस अन्तर के लिए शाहू के राज्यारोहण के पूर्ववर्ती घटनाओं को ही अधिक उत्तरदायी मानना चाहिए। सम्भा जी की मृत्यु के पश्चात् ही, शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य के समस्त क्षेत्र मुगलों के आधिपत्य में चले गए थे, तथा सम्भाजी के भाई राजाराम और उसके अनुयायियों को दक्षिण की ओर बहुत दूर तक खदेड़ दिया गया था। मराठा राज्य की स्थापना का कार्य पुनः प्रथम सोपान से ही आरम्भ करना था; और इस कार्य के सम्पादन के लिए जो नेता अभी आए, उनका प्रभाव बढ़ता गया, और बहुत सीमा तक इन नए नेताओं

को स्वेच्छा से काम करने का अवसर प्राप्त हो गया। उपर्युक्त परिस्थितियों पर न्यायपूर्वक विचार करने पर, शिवाजी के इस महत्व-पूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा करने का दोष राजाराम तथा उसके परामर्श-दाताओं के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता और न शाहू को ही इसके लिए दोषी माना जा सकता है क्योंकि ये विपरीत परिस्थितियाँ शाहू के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में भी पर्याप्त प्रभावशाली थी। जब किसी प्रकार महाराष्ट्र में शाहू की सरकार सन्तोषजनक रूप से स्थापित हो गई, और सभी दिशाओं में मराठा साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रबल प्रयत्न किए जाने लगे, उस समय वर्तमान शासन प्रणाली के सुविधाजनक होने का आकर्षण उतना प्रबल नहीं था, और सबल प्रयत्नों द्वारा पुनः शिवाजी द्वारा प्रदर्शित मार्ग को अपनाया जा सकता था। यह तथ्य निर्विवाद है कि उसी समय शाहू सरकार द्वारा प्रथम और अत्यन्त घातक भूल हुई, जब कि प्रत्येक सैनिक को अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपनी जागीर स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी गई। इस प्रकार अपनी सत्ता स्थापित करने का खुला अवसर पाकर विभिन्न सरदारों ने अपना केन्द्र बनाना प्रारम्भ कर दिया। पिलाजी और दमाजी गायकवाड़ ने गुजरात में अपनी सत्ता स्थापित कर लिया और वहाँ के राजा बन बैठे; नागपुर के भोंसले परिवार अपने आसपास के क्षेत्र के एकाधिकारी बन गए और शिन्दे, होल्कर और पवारों ने मालवा और उत्तरी भारत में अपनी आधिपत्य जमा लिया; सर्वाधिक घातक बात यह थी कि इन प्रभावशाली सरदारों पर केन्द्र का नियंत्रण बहुत ढीला पड़ गया था; अब वे अपने क्षेत्रों से होनेवाली आय का एक अंश पेशवा को दे देते थे, और केवल इसी रूप में वे मराठा राज्य के प्रति अपनी अधीनता प्रगट करते थे। विभिन्न सरदारों द्वारा स्थापित ये जागीरें जब पैतृक हो गई, तो एक संगठित तथा केन्द्र प्रधान राज्य की शक्ति के विकेन्द्री-करण का कार्य परिपूर्ण हो गया। जिन लोगों ने प्रारम्भ में अपने ही प्रयत्नों द्वारा इन विस्तृत क्षेत्रों को जागीर के रूप में प्राप्त किया था, उनमें मराठा राज्य की सत्ता के प्रति राजभक्ति तथा सम्मान का भाव था क्योंकि वे स्वयं को मराठा राज्य का ही अंग मानते थे। परन्तु उनके उत्ताराधिकारी स्वयम् को अपने-

अपने क्षेत्रों का एक छत्र स्वामी मानने लगे, और केन्द्र द्वारा किए जाने वाले किसी भी हस्तक्षेप को अनुचित मानने लगे। उनके विचार से, उनके पूर्वाधिकारियों द्वारा स्थापित ये जागीरें उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी और उनकी व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का, केन्द्र को कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार शिवाजी द्वारा स्थापित शासन प्रणाली के प्रत्येक अंग की उपेक्षा की गई, और इसी कारण, मराठा साम्राज्य की प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया, और मराठा शक्ति के पतन का समय तीव्रगति से समीप आता गया।

शिवाजी की नीतियों में से केवल एक का पालन काफी समय तक उसके उत्तराधिकारियों द्वारा किया जाता रहा और वह थी—मालगुजारी के वसूली की प्रत्यक्ष प्रणाली, जिसमें जिले या ग्राम के जमीन्दारों को सरकार तथा जनता के बीच से बिल्कुल हटा दिया गया था और किसानों तथा राज्य के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया गया था। पेशवाओं के शासन काल के चरम उत्कर्ष तक यही प्रणाली प्रचलित रही, यहाँ तक कि नाना फड़नवीस के समय में भी इस प्रत्यक्ष प्रणाली के आगे किसी अन्य प्रणाली को महत्व नहीं दिया गया; केवल अन्तिम पेशवा के शासन-काल में ही, मुख्य महाराष्ट्र के जिलों में काश्तकारी अथवा जमीन्दारी प्रणाली पुर्नआरम्भ हुआ। महाराष्ट्र के क्षेत्र के बाहर स्थित, मराठों द्वारा बिजित क्षेत्रों जैसे मालवा, गुजरात तथा उत्तरी भारत के अन्य भागों में जमीन्दारी प्रथा का प्रचलन अधिक था; क्योंकि इन भागों की अव्यवस्थित राजनैतिक परिस्थितियों के कारण यह प्रथा ही अधिक सुविधाजनक हो सकती थी। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि कम से कम इस सम्बन्ध में शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने उसके द्वारा प्रदर्शित नीतिपूर्ण मार्ग पर अपना कदम जमाए रक्खा, परन्तु राज्य की सेवा में नियुक्ति के सम्बन्ध में शिवाजी ने बिभिन्न जातियों एवं वर्गों का जो अनुपात निश्चित किया था, ऐसा प्रतीत होता है कि वह विभाजन उसके उत्तराधिकारियों को रुचिकर नही प्रतीत हुआ। शिवाजी के घटनापूर्ण जीवन-इतिहास के प्रारम्भिक वर्षों में प्रभुओं ने अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था, परन्तु पेशवाओं के प्रभुत्वकाल में

विशेषतः बालाजी बाजीराव के समय से, प्रभुओं का वह प्रभाव एवं महत्व समाप्त हो गया, और किसी भी क्षेत्र में, किसी प्रभु के नाम का उल्लेख नहीं मिलता जो किसी प्रभावशाली पद पर रहा हो, केवल एक व्यक्ति को छोड़कर, जिसका नाम सखाराम हरी था और जो रघुनाथ राव के अधीन एक विश्वासपात्र सरदार था। परन्तु यह स्थिति केवल पूना दरबार में ही थी; बड़ौदा और नागपुर के दरबारों में इस जाति के प्रतिनिधियों को प्रशासनिक तथा सैनिक दोनों क्षेत्रों में यथोचित महत्व प्राप्त होता रहा। जहाँ तक मराठा राज्य में ब्राह्मणों की नियुक्ति का प्रश्न था, कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि शिवाजी के शासन-काल में, राज्य की सेवा में किसी भी कोंकणस्थ ब्राह्मण को नियुक्त नहीं किया गया था। मराठा वृत्तान्तों में इस बात के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं कि ब्राह्मण जाति के तीनों वर्गों को शिवाजी के समय में पर्वतीय किलों के स्वामी अथवा सूबेदार के रूप में राज्य की सेवा करने का अवसर दिया जाता था। शिवाजी तथा उसके दो पुत्रों के शासन-काल में सामान्यतः देशस्थ ब्राह्मणों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता था। जब शाहू के शासनकाल में पेशवा की शक्ति बढ़नी प्रारम्भ हुई, तो देशस्थ ब्राह्मणों का प्रभाव तिरोहित होने लगा और कोंकणस्थ ब्राह्मणों का पलड़ा भारी पड़ने लगा, और उनके बीच का यह असमान अनुपात उस समय और भी स्पष्ट हो गया, जब रघुनाथ राव तथा उसके भतीजों के बीच होनेवाले संघर्ष में प्रभावशाली देशस्थ जागीरदारों ने रघुनाथ राव का ही पक्ष लिया।

शिवाजी के काल में सैनिक व्यवसाय पर केवल मराठों का ही एकाधिपत्य नहीं था; अन्य वर्गों के लोग भी सेना में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे, परन्तु फिर भी शिवाजी की सेनाशक्ति के मुख्य आधार मराठे ही थे केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि उच्च पदों की दृष्टि से भी मराठों का महत्व कम नहीं था। शिवाजी के अधीनस्थ ब्राह्मण सरदार भी सैन्य नेतृत्व में उतने ही कुशल तथा सक्षम थे, जितना कि कोई भी मराठा सरदार। पेशवाओं के प्रारम्भिक शासन काल में भी यही स्थिति बनी रही। मराठा सेनानायकों में से अनेक अग्रगण्य व्यक्ति पेशवा बाजीराव प्रथम के संरक्षण में प्रशिक्षित किए

गए थे। जब बाजीराव के शासनकाल में, राज्य की सेवा करनेवाले अनेक मराठा परिवारों ने दूरस्थ प्रान्तों में अपनी प्रमुखता स्थापित करके उन क्षेत्रों का शासन-प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया और उनकी शक्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गई कि केन्द्रीय सरकार के अस्तित्व के प्रति ही आशंका उत्पन्न होने लगी तो पूना दरबार की नीति का मुख्य उद्देश्य ही यही हो गया था कि इन प्रभावशाली मराठा सरदारों के विरुद्ध शक्ति का संतुलन बनाए रखने के लिए दक्षिणास्थ क्षेत्रों में ब्राह्मण सरदारों को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय; इसी नीति के फलस्वरूप पटवर्धन और फड़के, रास्ते और गोखले परिवारों ने दक्षिण में अपनी धाक जमाने में सफलता प्राप्त की; परन्तु फिर भी वे उत्तर के शक्तिशाली मराठा सरदारों के समान शक्तिशाली नहीं हो सके, और शिन्दे तथा होलकर की सेनाओं के समक्ष, कभी भी नहीं टिक सके। पेशवाओं की इस नीति के कारण जिस पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता को प्रोत्साहन मिला वह आगे चलकर मराठा साम्राज्य के सामान्य हितों के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुई। मराठा साम्राज्य के विनाश के कारणों में इसे भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार, उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष बड़ी सरलता से निकाला जा सकता है कि शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने जहाँ भी शिवाजी द्वारा निर्धारित शासन प्रणाली के विभिन्न अंगों के महत्व की उपेक्षा की, वहीं मराठा साम्राज्य के विनाश के कारण उत्पन्न हुए जिनके फलस्वरूप ब्रिटिश शक्ति के साथ संघर्षरत होने के बहुत पूर्व ही मराठा साम्राज्य के समस्त संगठन सूत्र अत्यन्त निर्बल पड़ गए। जब भारत में अंग्रेजों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, तो कम्पनी सरकार ने अपनी शासन-पद्धति का निर्धारण करते समय, पेशवाओं की प्रणाली की अपेक्षा शिवाजी द्वारा निर्धारित, परीक्षित एवं प्रयुक्त शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों को ही अधिक महत्व दिया। भारत में ब्रिटिश शासन का मूलभूत सिद्धान्त है प्रशासनिक एवं सैन्य विभाग को एक दूसरे से पूर्णतः पृथक रखना और सैन्य विभाग को प्रशासनिक अधिकारियों के अधीन रखना। ब्रिटिश-शासन प्रणाली अपने कर्मचारियों को नकद वेतन देने पर अधिक जोर देती है, तथा सैनिक सम्बन्धी अथवा अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं के बदले में भूमि अथवा

जागीर देने की पुरातन प्रथा को रंचमात्र भी प्रोत्साहन नहीं देती। अंग्रेजों के शासन-प्रबन्ध में किसी भी उच्च या निम्न सार्वजनिक पद पर योग्यतानुसार नियुक्तियाँ की जाती हैं, और किसी भी पद को उत्तराधिकार द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। अंग्रेज सरकार लगान की वसूली के लिए अपनी तरफ से वैतनिक कर्मचारियों को नियुक्त करती है, और इस महत्वपूर्ण कार्य को कभी भी जमीन्दारों अथवा काश्तकारों के उत्तरदायित्व पर नहीं छोड़ती। इस शासन के अधीन समस्त पद देश की विभिन्न जातियों एवं वर्गों के बीच, उनके पारस्परिक अनुपात की दृष्टि से, उचित रूप से विभाजित हैं। राज्य-व्यवस्था की इन्हीं नीतियों एवं सिद्धान्तों को कार्यरूप में प्रयोग करने के फलस्वरूप ही मुट्ठी भर अंग्रेज इस विशाल उपमहाद्वीप पर इतनी कुशलतापूर्वक शासन करने में सफल हुए हैं कि भारत में ब्रिटिश-शासन पद्धति, राजनीति शास्त्र के विदेशीय एवं भारतीय विद्यार्थियों के लिए सफल राजनीति का एक गौरवपूर्ण उदाहरण बनी हुई है। इस प्रकार शिवाजी द्वारा नियोजित शासन व्यवस्था की कुशलता एवं सक्षमता, न केवल उसके द्वारा प्राप्त की गई असाधारण सफलता से सिद्ध होती है, बल्कि उन लोगों की सफलता भी शिवाजी की बुद्धिमत्ता को प्रभावित करती है जिन्होंने अपने राज्य की नींव उस मराठा संघ के खण्डहरों पर डाला जिसे शिवाजी ने सूत्रबद्ध करने का सफल प्रयत्न किया था, और जो केवल इसी कारण ध्वस्त हो गया कि उसके उत्तराधिकारी उस नीतिपूर्ण पथ पर न चल सके जिसे उसने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक उनके लिए निर्धारित किया था।

—:★:—

आठवाँ अध्याय

महाराष्ट्र के सन्त एवं धर्म-प्रचारक

कहा जाता है कि शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु सन्त रामदास ने शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को उसके पिता के चरण चिन्हों का अनुसरण करने का परामर्श दिया था। इस अवसर पर सन्त रामदास ने सम्भाजी को जो उपदेश दिए थे उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त रूप में केवल दो वाक्यों में प्रस्तुत किया जा सकता है—"उन समस्त व्यक्तियों को संगठित करो जो स्वयम् को मराठा कहते हैं" और "महाराष्ट्र के धर्म का प्रचार करो।" सन्त रामदास द्वारा दिया गया प्रथम उपदेश या परामर्श, तत्कालीन, महत्वपूर्ण राजनैतिक आन्दोलन के उस अंग का प्रतिनिधित्व करता है जिसे शिवाजी के नेतृत्व में परिपक्वता एवं पूर्णता प्राप्त हुई थी, तथा धार्मिक प्रचार सम्बन्धी दूसरा उपदेश अत्यन्त स्पष्ट रूप से उस धार्मिक विकास की ओर संकेत करता हैं जो कि उक्त राजनैतिक आन्दोलन के साथ-साथ सम्पूर्ण देश में एक साथ, पूर्ण गति से धामिक पुनर्जागरण की चेतना फैला रहा था, तथा स्वातंत्र्य आन्दोलन जिसका एक प्रतिबिम्ब मात्र था। इस स्थान पर एक अत्यन्त विचारणीय प्रसंग हमारे समक्ष उपस्थित होता है—शिवाजी की नीति के इस द्वितीय अंग, अर्थात् धर्म-प्रचार की गति को बनाए रखने का उपदेश सम्भाजी को देने में सन्त रामदास का क्या तात्पर्य हो सकता था; तथा वैदिक, पौराणिक अथवा हिन्दू-धर्म के प्रचार के स्थान पर महाराष्ट्र के धर्म के प्रचार करने का क्या अर्थ हो सकता था; सन्त रामदास के समकालीन महाराष्ट्र वासियों के धार्मिक विश्वास में कौन सी ऐसी विशेषता थी जिसने इस महत्वपूर्ण रूप से रामदास का ध्यान आकर्षित किया, और जिसे वह, सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में, सम्भाजी की दुर्व्यवस्थापूर्ण शासन-प्रणाली के अन्तर्गत, अपने देशवासियों की आध्यात्मिक मुक्ति, का एक मात्र साधन समझता था। महाराष्ट्र के

धार्मिक और राजनैतिक उत्थान में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह एक इतना महत्वपूर्ण तथ्य है कि जिन विद्वानों ने बिना इस घनिष्ठ सम्बन्ध पर ध्यान दिए, मराठा शक्ति के उत्थान के तूफानी मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास किया है, उनके लिए अकेले, राजनैतिक संघर्ष एवम् मराठों का तीव्र उत्थान एक पहेली हो गई है, या साहस-पूर्ण कृत्यों की एक महत्वहीन कथा मात्र रह गई है, जिसमें कोई भी महत्वपूर्ण नैतिक विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। न तो यूरोपियन, और न भारतीय इतिहासकारों ने ही महाराष्ट्र कि इस महत्वपूर्ण आन्दोलन की इस दुहरी प्रकृति के साथ उचित न्याय किया है, और राष्ट्रीय मस्तिष्क के इस आध्यात्मिक पुनरुत्थान को उचित महत्व न दिए जाने के कारण ही उन भ्रमात्मक विचारों को अनुचित प्रोत्साहन मिला है जो अब भी मराठों के राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संघर्ष सम्बन्धी इतिहास को घेरे हुए हैं।

इन्ही भ्रमपूर्ण धारणाओं का निराकरण करने के लिए, हमारा विचार है कि इस अध्याय में, मोटे रूप से, पश्चिमी भारत में हुए धार्मिक पुनर्जागरण के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाय। इस सम्बन्ध में हमारे ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं सन्तों के वे विस्तृत जीवन चरित्र और धार्मिक प्रचारकों की जीवन-गाथाएँ जिन्हें महीपति नामक एक विख्यात भारतीय कवि द्वारा लिखा गया है। धार्मिक प्रचारकों एवं सन्तों के ये जीवन-चरित्र, पिछली शताब्दी के अन्त में लिखे गए थे, जब कि महाराष्ट्रीय क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ था, और न अंग्रेजों को स्थिति को कोई विशेष महत्त्व ही दिया जाता था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए किए गए संघर्ष की भाँति ही, धार्मिक पुनर्जागरण का महान् कार्य किसी एक व्यक्ति द्वारा, अथवा एक ही शताब्दी में सम्पन्न नहीं हुआ था। इस महान धार्मिक आन्दोलन के चिह्न उस काल से पूर्व ही ढूंढ़े जा सकते हैं जबकि दक्षिण में मुसलमानों ने अपने प्रथम चरण रक्खे थे, और बाद में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। देवगिरि के यादव राजाओं के शासन-काल में ही, Dnayandev ज्ञाँणदेव महाराष्ट्र का प्रथम सन्त और धर्म-प्रचारक हुआ था, जिसने देश के उस भाग में सार्वजनिक रूप से प्रचलित लोक भाषा में 'भगवतगीता' पद्

अपनी सुप्रसिद्ध टीका लिखी थी। उसके पश्चात् बल्लाल राजाओं के शासन काल में; मुकुन्द राज नामक सन्त का जन्म हुआ; उसने भी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ मराठी भाषा में ही लिखा, जो कि अपने ढंग का प्रथम और महत्वपूर्ण ग्रंथ था। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के आक्रमणों के कारण मराठो के इस विकास की गति कुंठित हो गई, परन्तु धीरे-धीरे, राष्ट्रीय चेतना ने पुनः शक्ति एवं महत्व प्राप्त करना प्रारम्भ किया, और जिस समय मराठों की शक्ति का अभ्युदय अपने प्रथम सोपान पर था, उसी समय से वे महान् सन्तो एवं धर्मप्रचारक प्रकाश में आने लगे जिनके नाम आज भी देश के लोगों के घर-घर में सभी की जिह्वा पर रहते हैं। धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना के विकास की अजस्र धारा निरन्तर दो सौ वर्षों तक अविरल गति से प्रवाहित होती रही, और उसके पश्चात्, ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारा शुष्क हो गई, और इस धारा के शुष्क होते-होते राजनैतिक स्वाधीनता भी भूतकाल की बात हो गई। छोटे रूप से हम यह कह सकते हैं कि इस धार्मिक पुनर्जागरण का इतिहास लगभग पाँच सौ वर्षों के लम्बे काल में विस्तृत है, और इस लम्बी अवधि में महाराष्ट्र की भमि में लगभग पचास सन्त और धर्मप्रचारक अवतरित हुए जिन्होंने देश के लोगों, तथा भावनाओं पर इतनी गम्भीर और महत्वपूर्ण छाप छोड़ी कि महीपति ने महाराष्ट्र के सन्तों का जोवन चरित्र लिखते समय इन सभी सन्तों को महत्व देना आवश्यक समझा। इन महत्वपूर्ण सन्तों में कुछ तो स्त्रियाँ थीं, तथा कुछ अन्य लोग ऐसे थे जन्मसे जो मुसलमान होते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रतिश्रद्धा रखते थे, हिन्दुओं के आचारों-व्यवहारों का पालन करते थे। महाराष्ट्र के विख्यात सन्तों में लगभग आधे, जाति से ब्राह्मण थे, तथा शेष आधे अन्य जातियों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। अन्य जातियों के सन्तों की इसश्रेणी में कुनबी, दर्जी, माली, कुम्हार, सुनार, पश्चातापदग्ध बेश्याएँ, दासी लड़कियाँ और अछुत माने जाने वाले 'कहार' भी सम्मिलित थे। इस धार्मिक-विकास की महत्व का अधिकांश भाग उन तथ्यों में केन्द्रित है' जिनका विवरण हम ऊपर कर चुके हैं। विभिन्न जातियों के सन्तों की इस सूची से यह सिद्ध होता है कि उच्चतर आध्यात्मिक

भावनाओं का यह प्रभाव किसी जाति या वर्ग-विशेष तक ही सीमित नहीं था अपितु समाज के सभी वर्गों एवं श्रेणियों में समान रूप से व्याप्त था—स्त्री, पुरुष, उच्च-निम्न, शिक्षित अशिक्षित, तथा हिन्दू-मुसलमान, कोई भी इस धार्मिक चेतना के प्रभाव से अछूता नहीं बचा था। महाराष्ट्र के धार्मिक पुनर्जागरण के ये अंग इतने महत्वपूर्ण है और विशिष्ट हैं, कि उनके समकक्ष प्रस्तुत किए जाने योग्य दृष्टान्त कुछ इने-गिने देशों के धार्मिक विकास के इतिहास में ही प्राप्त हो सकते हैं, जहाँ कि सार्वजनिक रूप से व्याप्त चेतना के फलस्वरूप ही धार्मिक उत्थान हुआ है। उत्तरी और पूर्वी भारत में भी लगभग इसी काल में, और इसी प्रकृति के धार्मिक आन्दोलन का प्रकाश में आना प्रारम्भ हुआ था।

नानक ने पंजाब के सिक्खों में धार्मिक चेतना की ज्वाला फैलाना प्रारम्भ किया; और मुस्लिम और हिन्दू धर्म के मतावलम्बियों में ऐक्य की भावना भरने के लिए अप्रतिम प्रयास किया। सुदूर पूर्व की ओर चैतन्य महाप्रभु ने हिन्दुओं को 'शक्ति' और 'काली' की उपासना के मार्ग से विरत करने' तथा 'भागवत गीता' के प्रतिश्रद्धा एवं भक्ति की भावना जागृत करने का स्तुत्यप्रयास किया; इसी काल में उत्तरी भारत (मुगलकालीन हिन्दुस्तान) में भी अनेक भक्त एवं धर्म प्रचारकों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने अपने अपने ढंग से अध्यात्मिक पुर्नजागरण में अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया ऐसे सन्तों में प्रमुख थे रामानन्द और कबीर, तुलसीदास और सूरदास, तथा जयदेव और रोहिदास। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सन्तों का प्रभाव महान एवं चिर स्थायी रहा है, और अब भी देश के दोनों कोने में उनका नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है परन्तु किसी भी कार्य एवं परिणाम की दृष्टि से उनकी तुलना महाराष्ट्र के सन्तों और धर्म प्रचारकों के साथ नहीं की जा सकती। चंगदेव और ध्याँणदेव, निवृत्ति और सोपान, मुक्ताबाई और जानी आकाबाई और वेणुबाई, नामदेव और एकनाथ, रामदास और तुकाराम, शेख मुहम्मद और शान्ति बहामनी, दामाजी और उद्धव, भानुदास और कुर्मदास, बेधले बाबा और सन्तोबा पँवार, केशव स्वामी और जयराम स्वामी, नरसिंह सरस्वती और रंगनाथ स्वामी,

चोखा मेला तथा अन्य दो कुम्हार, नरहरि सोनार और सावतिया माली, बहिरम भर और गणेश नाथ, जनार्दन पन्त और मुधोपन्त तथा अन्यान्यसन्त, जो उल्लेखनीय हैं, एक ऐसी शृंखला प्रस्तुत करते हैं जो महाराष्ट्र के इस महान् आन्दोलन को अप्रतिम महत्व प्रदान करता है। देश के इस भाग के धर्म प्रचारकों एवं सन्तों में, भारत के किसी भी अन्य भाग की अपेक्षा ब्राह्मणों का अनुपात अन्य जातियों एवं वर्गों की अपेक्षा अधिक था, जब कि अन्य प्रदेशों में अधिकांश सन्त और धर्मप्रचारक क्षत्रिय और वैश्य थे, तथा उनके अनुपात में ब्राह्मणों की संख्या अत्यन्त न्यून थी।

महीपति लिखित सन्तों के जीवन चरित्रों में एक बात अत्यन्त सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होती है और वह है सन्तों में निहित दैवी चमत्कार की शक्ति; जन साधारण भी सन्तों की इन चमत्कारी शक्तियों पर विश्वास रखते हैं। हम देखते हैं कि प्रायः सभी सन्तों के जीवन चरित्र में उनकी आश्चर्यजनक और चमत्कारी शक्तियों का उल्लेख किया गया है जैसे मृतक को पुनः जीवन दान देना, असाध्य रोगियों को रोग मुक्त कर देना और क्षुधितों की क्षुधा को तृप्त करना इत्यादि। आधुनिक युग के आलोचनात्मक और तर्कपूर्ण वातावरण में सम्भवतः उन कथाओं पर विश्वास करना अन्धविश्वास ही समझा जायगा जिनमें इस बात का वर्णन किया गया है कि जीव मात्र से प्रेम करने के उच्च सिद्धान्त में आस्था रखने वाले इन सन्तों को अपने लक्ष्य की पूर्ति में किस प्रकार मानवेतर अर्थात् दैवी शक्तियों द्वारा सहायता प्रदान की जाती थी। जैसा कि मिस्टर लेको ने कहा है, यह बच्चों की तरह किसी अतर्कगम्य बात पर विश्वास कर लेने की मानवी प्रवृत्ति ही है जिसके कारण मनुष्य इस बात के लिये प्रेरणा प्राप्त करते हैं कि वे इस प्रकार के आश्चर्यपूर्ण कृत्यों और चमत्कारों की आवश्यकता का अनुभव करें उनपरविश्वास करें और दैनिक जीवनमें दृष्टिगोचर हो सकने वाली घटनाएँ समझें। यह तो हुई सन्तों की अद्भुत शक्तियों पर विश्वास कर लेने की जन-प्रवृत्ति; परन्तु एक बात स्पष्ट है कि स्वयं इन सन्तों ने कभी भी इन चमत्कारी शक्तियों का साधक होने का दावा नहीं किया। वे स्वभाव से विनीत तथा नम्र थे, एवम् कष्टपूर्ण जीवन बिताने के अभ्यस्त थे; ईश्वर

में दृढ़ आस्था रखते थे, और उन्हें अपने इस विश्वास का आशा-तीत प्रतिफल मिलता था जिस पर कभी-कभी तो वे स्वयम् आश्चर्य चकित हो उठते थे। इन सन्तों की जीवनगाथाओं में निहित नैतिक महत्व उनके द्वारा किए गए चमत्कारपूर्ण कृत्वों पर (जिस पर जन-साधारण विश्वास रखते हैं) आधारित नहीं है, बल्कि आधारित है उनके संघर्षमय जीवन पर तथा उन प्रमाणिक तथ्यों पर जिन्हें उन्होंने नैतिक विधान की चिरन्तन सत्यता तथा मनुष्य के उच्चतर अध्यात्मिक जीवन का प्रचार करने के प्रयत्न में, इतिहास के पृष्ठों पर, अपने आदर्श जीवन-चरित्र द्वारा अंकित किया। इस पुस्तक के वर्तमान अंश में हम इन सन्तों के जीवन के इसी अंग पर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, और हमें आशा है कि हम पाठकों के समक्ष यह स्पष्ट कर सकेंगे कि इस सम्बन्ध में इस सन्तों ने जो कार्य किया वह अमूल्य और अतुल-नीय है।

पश्चिमी योरोप में हुए धर्म-सुधार आन्दोलन, तथा लगभग उसी समय, महाराष्ट्र में धार्मिक चेतना को जागृत करने में प्रयत्न शील इन संघर्षरत सन्तों के जीवन चरित्र, उनके उपदेशों, तथा उनके ग्रंथों द्वारा अभिव्यक्त धार्मिक पुनर्जागरण की भावना में एक आश्चर्य-जनक साम्य का अनुभव होता है। पश्चिमी योरप में सोलहवीं शताब्दी में धर्म-सुधारकों ने उस एकाधिकार का विरोध किया जिस पर ईसाइयों के सर्वोच्च धर्माधिकारी रोम के पोप, तथा उसके अधीनस्थ पादरीगण दावा करते थे। पोप और पादरी एक ऐसी अधिकारिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे, जो बहुत पूर्व से ही चली आ रही थी; और प्रारम्भ में यह अधिकार धर्माधिकारियों के हाथ में इसीलिए दे ही दिया गया था कि उन बर्बर विजेताओं को सभ्य एवं मानवतावादी बनाया जा सके, जो रोम पर आक्र-मण करके वहाँ के निवासियों पर तरह तरह के अत्याचार करते थे।

समय-चक्र के साथ, परिस्थितियाँ परिवर्तित होती गई, और इन पादरियों ने जनता का सेवक होने के बदले में स्वामी और शासक होने का दावा करना प्रारम्भ किया वे स्वयम् को धर्म और राजनीति का एकमात्र अधिकारी मानने लगे तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच

की सीढ़ी बन कर बैठ गए। अपनी इस मध्यस्थ स्थिति को और भी जटिल तथा महत्वपूर्ण बताने के लिए उन्होंने तरह-तरह की रस्मों और तरह-तरह के आडम्बरों का आविष्कार किया जिससे धीरे-धीरे धर्म व्यवस्था जटिल तर होती गई इसके फलस्वरूप धर्म-व्यवस्था में ऐसी-ऐसी बुराइयाँ और भ्रष्टाचारित्रता घुसती गई जिससे जनसाधारण में पोप तथा सम्पूर्ण धर्म व्यवस्था के प्रति अनास्था की भावना प्राप्त होने लगी, और ये धर्माधिकारी जनता की सहानुभूति से वंचित हो गए। जिस समय लूथर ने इस रोमन धर्म-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया उस समय चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार अपनी सी अन्तिम सीमा तक पहुँच चुके थे; जनता से पीटर्स पेन्स (Peter's Pence) के नाम से, दान के बदले में बलात कर वसूल किया जाता था जिसे षड़यंत्ररत पोप एवं उसके अधीनस्थ कार्डिनलों की विलासिताओं को पूर्ण करने में व्यय किया जाता था। पश्चिमी भारत के धार्मिक सुधार और पुर्नजागरण का इतिहास यूरोप के इस क्रांतिकारी आन्दोलन के साथ अद्भुत साम्य उपस्थित करता है। यहाँ भी प्राचीन धर्माधिकारियों के सेवापूर्ण कर्त्तव्यों को अधिकारों की परम्परा में परिवर्तन कर लिया गया था; अन्तर यही था कि यहाँ यह शक्ति पादरियों और पोप जैसे अधिकारियों के हाथ में न होकर ब्राह्मण जाति के हाथों में केन्द्रित हो गई थी, और इस जाति की निरुकंश तथा बाह्याडंबर पूर्ण धर्म व्यवस्था के विरोध में ही सन्तों और धर्म प्रचारकों ने अपना स्वर ऊँचा किया, और अत्यन्त धैर्य एवं दृढ़ता के साथ उनके एकाधिकार के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने इस मत का प्रचार करना आरम्भ किया कि आत्मा जन्म तथा सामाजिक व्यवस्था से परे एक उच्चतर शक्ति है और प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति एवं वर्ग का हो ईश्वर की उपासना करने का अधिकारी हो। इनमें से अनेक सन्तों ने इस सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया क्योंकि उन्होंने स्वयम् ही हेय तथा निम्न समझी जानेवाली श्रेणियों में जन्म लिया था। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, इन सन्तों में से लगभग आधे, जाति के ब्राह्मण नहीं थे, जिनमें से कई तो निम्नतम जातियों में उत्पन्न हुए थे। अनेक ब्राह्मण धर्म-सुधारकों

को भी समस्त कृत्रिम बन्धनों के विरुद्ध खड़ा होने को विवश होना पड़ा क्योंकि सामाजिक दृष्टि से कलंकित एवं जातिच्युत माने जाते थे। उदाहरण के लिए घाणदेव उसके भाई, तथा उसकी बहन मुक्ताबाई का जन्म उनके पिता द्वारा, सासांरिक माया-जाल को तोड़ कर सन्यासी हो जाने के पश्चात् हुआ था। घटना इस प्रकार है कि जब धर्म गुरु रामानन्द को यह समाचार मिला कि यह संन्यासी (घाणदेव का पिता) बिना अपनी पत्नी की सहमति के गृहस्थाश्रम त्यागकर सन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो गया है तो उन्होंने उसे अपने परिवार में वापस लौट कर गृहस्थ धर्म का पालन करने का आदेश दिया। इसके पश्चात् इस सन्यासी द्वारा जो सन्तानें उत्पन्न हुई उन्हें सामाजिक दृष्टि से मान्यता नहीं प्रदान की गई; और जब घाँणदेव तथा उसके भाइयों के उपनयन सस्कार की अवस्था आई तो ब्राह्मणों ने इस संस्कार को सम्पन्न कराने से इनकार कर दिया। ये भाई बहन अपने जीवन पर्यन्त इस धार्मिक अन्याय से त्राण नहीं पा सके परन्तु इस सामाजिक जन्म दोष के बावजूद भी उन्होंने जनता की श्रद्धा प्राप्त की। इसी प्रकार एक अन्य सन्त का विवाह अनजान में एक निम्न जातीय कन्या से हो गया, और जब विवाह के उपरान्त उसे अपनी पत्नी की नीची जाति के विषय में जानकारी मिली तो भी, उसने उसका परित्याग नहीं किया, परन्तु उसने जीवनपर्यन्त अपनी पत्नी का स्पर्श नहीं किया, और जब इस अभागी स्त्री की मृत्यु हुई तो उसने उचित ढंग से उसका अन्तिम संस्कार किया, इस पर ब्राह्मणों ने उसका विरोध किया परन्तु इसी समय एक दैवी चमत्कार हुआ जिससे उसके घोरतम शत्रु भी स्वीकार करने लगे कि मालोपन्त एवं उसकी महान् पत्नी दोनों ही पूर्णतः पवित्र थे। जयराम स्वामी गुरु कृष्णदास का विवाह भी इसी प्रकार एक नापित-कन्या से हो गया, और उसे अपनी पत्नी की नीची जाति का ज्ञान विवाह के बाद हुआ। परन्तु कृष्णदास की जीवन चर्या इतनी पवित्र थी तथा जनसाधारण उसके प्रति इतना अधिक श्रद्धाभाव रखते थे कि पर्याप्त आलोचना तथा शास्त्रार्थ के पश्चात् अन्त में उस समय के सर्वोच्च धर्मगुरु शंकराचार्य ने भी कोई बाधा प्रस्तुत न करके उसके विवाह को धार्मिक मान्यता प्रदान की। यह बात सर्वविदित है कि विख्यात सन्त एकनाथ ने कभी जाति विभेद को रंचमात्र भी महत्व

नहीं दिया, और ऐसा उन्होंने खुले रूप से किया। एक बार उन्होंने महार जाति के एक भूखे व्यक्ति को अपने घर में भोजन कराया और जब उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, तो वे शुद्धी करण के लिए नदो में स्नान करने तथा अन्य धार्मिक व्यवस्थाओं को पूर्ण करने के लिए तैयार हो गए। इसी समय एक चमत्कार द्वारा यह बात समस्त उपस्थित जनों के समक्ष पूर्णतः सिद्ध हो गई कि सहस्रों तृप्त ब्राह्मणों को भोजन कराने की अपेक्षा एक भूखे महार को आहार देने से अधिक पुण्य होता है, क्योंकि इस पुण्य के प्रभाव से एक नाथ तो एक कोढ़ी को रोगमुक्त करने में सफल हो गए जब कि अन्य धर्म-धुरन्धरों के मंत्रों एवं यज्ञों का, उस कुष्टग्रसित व्यक्ति के रोग पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। अनेक सन्तों के सम्बन्ध में एक अन्य आश्चर्य जनक चमत्कार के विवरण प्राप्त होते हैं, जिनमें से घाँणदेव, एकनाथ और नागनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि जब ब्राह्मणों ने इन सन्तों के यहाँ इस कारण से श्राद्ध-संस्कार कराने से इनकार कर दिया कि वे सामाजिक व्यवस्थाओं का खण्डन करते थे और छूत-अछूत नहीं मानते थे। इस पर इन सन्तों ने अपनी भक्ति के बल पर इन धर्मान्ध एवं कट्टर ब्राह्मणों के मृत पिताओं की आत्माओं का आह्वान किया; जिन्होंने सशरीर उपस्थित हो कर अपने-अपने पुत्रों को उनके धर्मान्ध एवं संकुचित विचारों के लिए धिक्कारा तथा लज्जित किया नागदेवके जीवन-चरित्रमें एक अन्य चमत्कारित घटना का विवरण मिलता है, कि समाज तथा धर्म-गुरु ब्राह्मणों की आँख खोलने के लिए नामदेव के पंढरपुर के भगवान ने नामदेव को, ब्राह्मणों को भोज के लिए आमंत्रित करने का आदेश दिया, और स्वयम् नामदेव के पार्श्व में बैठकर तथा भोजन करके यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की सच्ची भक्ति बाह्याडम्बर से नहीं, बल्कि अन्तस्थल की सच्ची आस्था एवं श्रद्धा से होती है, एक बार नामदेव का भी सामाजिक बहिष्कार हुआ था, जिसके सम्बन्ध में प्रचलित लोक-कथा के अनुसार स्वयं घाँणदेव की आत्मा समाज के ठीकेदार ब्राह्मणों के समक्ष प्रकट हुई थी और उन्हें बहुत धिक्कारा था। इस अवसर पर सन्त घाँणदेव की आत्मा ने ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए कहा था, "ईश्वर के समक्ष न तो कोई ऊँचा है, न कोई नीच; उसकी दृष्टि में सभी जीव समान हैं। अपने मन में उस विचार को कभी प्रश्रय न दो कि मैंने उच्चकुल में

जन्म लिया है और मेरा पड़ोसी निम्नकुल में पैदा हुआ है। गंगा का जल कभी भी अशुद्ध नहीं होता, अछूत माने जाने वाले लोगों के स्पर्श से वायु को छूत नहीं लगती, और न तो अछूतों के संसर्ग से पृथ्वी में ही कोई परिवर्तन होता है जब कि ऊँच नीच सभी गंगा में स्नान करते हैं, एक ही हवा के द्वारा श्वाँस लेते हैं, और उसी पृथ्वी के धरातल पर चलते फिरते हैं।"

सन्तों के जीवन में प्राय: घटने वाली घटनाओं में सम्भवत: कोई भी उतनी मर्मस्पर्शी नहीं है, जितनी कि अछूत महार चोखामेला पर ब्राह्मणों के अत्याचार की घटना, जब कि चोखामेला ने पंढरपुर के देवालय में प्रवेश करने का साहस किया था। जब ब्राह्मणों ने उससे इस प्रकार के धर्म विरोधी कृत्य का कारण पूछा तो चोखामेला ने उत्तर दिया कि उसने स्वेच्छा से देवालय में प्रवेश करने का साहस नहीं किया था, बल्कि उसके भगवान् बलात् उसे भीतर खींच ले गये थे। चोखामेला ने अधिक परेशान किए जाने पर इस प्रकार अपना विचार प्रकट करना प्रारम्भ किया, "उच्च जाति में जन्म लेने से ही क्या होता है, अथवा वाह्याडम्बर एवं अध्ययन से ही क्या होता है जब तक कि तुम्हारे हृदय में ईश्वर के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा नहीं है। भले ही किसी व्यक्ति ने निम्नकुल में जन्म लिया, परन्तु यदि उसके अंतस्थल में ईश्वर की सत्ता के प्रति आस्था है; यदि वह ईश्वर से प्रेम करता है; जीवमात्र की भावनाओं को अपने ही समान समझ कर उनके प्रति सहिष्णुता की भावना अभिव्यक्त करता है, अपने तथा अपने पड़ोसियों के बच्चों में कोई भेद की दीवाल नहीं खड़ी करता और सदैव सत्य बोलता है तो उसकी जाति पवित्र है, और ईश्वर उससे प्रसन्न रहता है यदि किसी व्यक्ति के हृदय में ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था तथा मानवमात्र के प्रति प्रेम की भावना विद्यमान हो तो उससे कभी भी उसकी जाति न पूछो। ईश्वर अपने बच्चों में भक्ति और प्रेम देखता है, और उनकी जाति की कोई चिन्ता नहीं करता"। जैसा कि पाठक अनुमान लगा सकते हैं, ब्राह्मणों का मत, चोखामेला की इस उच्चतर ज्ञान से भरी वक्तृता से रंचमात्र भी परिवर्तित नहीं हुआ, और उन्होंने चोखामेला के, पवित्र देवालय में प्रविष्ट होने की शिकायत उस क्षेत्र के

मुसलमान अधिकारी के पास पहुँचाई, जिसने बाइबिल की कथा के पाइलेट (Pilate) की भाँति ही 'चोखामेला' को इस दुष्कृत्य के लिए दण्डित करने के उद्देश्य से आदेश दिया कि उसे बैलों के पीछे बाँध कर घिसटवाया जाय, और इस क्रूरतापूर्ण दण्ड-विधान को तब तक चलने दिया जाय, जब तक कि तड़प-तड़प कर उस की मृत्यु न हो जाय। परन्तु चमत्कारपूर्ण ढंग से ईश्वर ने अपने उपासक को इस दण्ड से मुक्ति दिलाई और अत्याचारियों को आतंकित एवं आश्चर्य-चकित होना पड़ा; क्योंकि हर सम्भव प्रयत्न करने पर भी बैल अपने स्थान से हिले ही नहीं, मानों किसी अज्ञात शक्ति ने उनके पाँव पृथ्वी में जड़ दिये हो। इस सम्बन्ध में बहिरम भट की कथा भी रोचक नहीं है। वह 'शास्त्री' था और ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त उसके मस्तिष्क को भूख को शान्त कर सकने की क्षमता नहीं रखते थे, अतः उसके इस आशा से मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया कि सम्भवतः इस्लाम का एकेश्वरवाद का सिद्धान्त उसे मानसिक तृप्ती प्रदान कर दे एवं उसके हृदय की प्यास बुझाने में समर्थ सिद्ध हो सके। परन्तु इस्लाम धर्म के सिद्धान्त भी उसकी आत्मा को सन्तुष्टि नहीं दे सके और उसने पुनः ब्राह्मण धर्म को अंगीकार कर लिया। इस प्रकार दो बार धर्म परिवर्तन करने के कारण ब्राह्मण और मुसलमान, दोनों हीं वर्ग उसकी निन्दा करने लगे परन्तु बहिरम ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी कि अब से न तो वह हिन्दू ही है. और न मुसलमान ही। बहिरम भट ने ब्राह्मणों को चुनौती दे दी कि यदि उसमें सामर्थ्य हो तो उसे पक्का ब्राह्मण बना लें, और उसके अंग पर से Circumcision के चिह्न समाप्त कर दें। इसी प्रकार उसने मुसलमानों को भी चुनौती दी कि वे उसके कानों में बनाए गए छिद्रों को यदि पूर्ववत बन्द कर सके तो कर दें, जो कि उसके हिन्दुत्व के चिन्ह थे। अनेक इस्लाम के बन्दों ने भी उस समय अपना धर्म-परिवर्तन करके हिन्दू-धर्म को अंगीकार किया था, ऐसे मुसलमानों में शेख मुहम्मद अग्रगण्य है। उसके मतानुयायी आज भी जिस प्रकार रमजान का रोजा रखते हैं, उसी प्रकार एकादशी का भी व्रत रखते

हैं, और जिस भावना से हज करने के लिए मक्का जाते हैं, उसी भावना एवं श्रद्धा के साथ पढंरपुर को भी अपना तीर्थ मानते हैं। इसी श्रेणी में अनेक अन्य विख्यात सन्त जैसे कबीर, नानक तथा माणिक प्रभु आदि भी आते हैं, जिन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपनी जाति का सदस्य होने का दावा करते हैं, और दोनों ही जाति के लोग समान रूप से उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। ऊपर दिए हुए उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त हैं कि किस प्रकार इन सन्तों ने अपने जीवन को समर्पित करके, जनता की आध्यात्मिक प्रकृति में निहित राष्ट्रवादी सिद्धान्त के स्तर को ऊँचा उठाया था; तथा जाति-भेद एवं धर्म-भेद के आधार पर व्याप्त असहिष्णुता की दूषित भावना को समाप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया था।

सन्तों एवं धर्म के प्रचारकों द्वारा किये गये धर्म के व्यापक दृष्टिकोण के प्रचार का परिणाम इसी तथ्य द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्र की जनता के धार्मिक क्षेत्र में जाति-भेद एवं वर्ग भेद के लिए कोई भी स्थान नहीं रह गया है, और लोगों के सामाजिक सम्बन्धों से ही अब जाति-भेद और ऊँच-नीच का भेद-भाव दिखाई पड़ता है और अब तो इस क्षेत्र में भी जाति-भेद का बन्धन पर्याप्त सीमा तक ढीला हो चुका है। यदि कोई भी व्यक्ति दक्षिणी भारत तथा महाराष्ट्र के ब्राह्मणों की इस दृष्टि से तुलना करे, तो उसके समक्ष यह तथ्य पूर्णरूपेण यथार्थ प्रतीत होगा। दक्षिणी भारत के ब्राह्मणों में अब भी अछूत-प्रथा का विचार रक्खा जाता है, और वे अपनी बस्तियोंकी सड़कों पर अछूतों की छाया नहीं पड़ने देते; जब कि महाराष्ट्र के दक्षिणात्य क्षेत्रों के लोग इस प्रकार के मामलों में बड़ी उदासीनता प्रकट करते हैं। छूत-अछूत के प्रति महाराष्ट्र में व्याप्त यह उदासीनता की भावना उस समय और भी व्यापक रूप में अभिव्यक्त होती है, जब कि प्रतिवर्ष हजारों की तादाद में तीर्थयात्री एक स्थान पर एकत्रित होते और हैं, मेले के अन्तिम दिन, सम्मिलित रूप से ईश्वर का प्रसाद ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार युरोप में लोगों ने यह समझ लिया कि मुक्ति के लिए ईश्वर तथा मनुष्य के बीच पादरी की मध्यस्थता आवश्यक नहीं

है, उसी प्रकार भारत के इस भाग में भी इस सिद्धान्त की सामर्थ्य लगभग समाप्त हो चली कि ईश्वर ने ब्राह्मणों को इस सृष्टि का स्वामी बना कर पृथ्वी पर भेजा है कि वे ही ईश्वर-निर्मित इस धरा के प्रभु हैं और निम्नजाति वालों का कर्तव्य है कि उनकी पूजा तथा सेवा करें। अब उच्च तथा निम्न जाति के स्त्री-पुरुष यह अनुभव करने लगे कि निम्न जातिमें जन्म लेने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतस्थल के प्रेम एवं विश्वास द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

अब हम पुनः यूरोपियन धार्मिक-आन्दोलन तथा महाराष्ट्र के धार्मिक पुनरुत्थान में एक अन्य साम्य की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। यूरोप के धर्म-सुधारकों ने धार्मिक कर्मकाण्डों तथा पादरियों की elibee के विरुद्ध प्रचार करने के साथ-साथ उन स्त्रियों द्वारा सांसारिक बन्धनों का त्याग किए जाने का भी विरोध किया,जो अप्राकृतिक ढंग से व्यवहार करते हुए अविवाहित रह कर, नन (Nuns) के रूप में चर्चा की तथा ईश्वर की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करती थीं। यूरोपीय सुधारकों के इस विरोध के समान भारतीय सन्तों ने भी आत्मपीड़न तथा व्रत-उपवास आदि की प्रचलित व्यवस्थाओं के विरुद्ध अपनी आवाज ऊँची की तथा अर्थ-हीन साधनाओं एवं लम्बी-लम्बी तीर्थ-यात्राओं का भी विरोध किया। अपने इसी मत के अनुरूप ही उन साधकों द्वारा की जानेवाली तांत्रिक साधनाओं का भी विरोध किया, जो 'योग' में विश्वास करते थे और आशा करते थे कि वे अपनी कठोर साधना द्वारा आश्चर्यजनक चमत्कार करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकेंगे; क्योंकि यह विश्वास सर्वत्र व्याप्त था कि सच्चा योगी अनेक प्रकार के चमत्कार कर सकता है। विभिन्न मार्गों के सन्तों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के दृष्टान्तों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि उस समय 'योग' और भक्ति मार्ग में कितनी प्रबल प्रतिद्वन्द्विता थी। उदाहरण के लिए ज्ञाणदेव और चांगदेव में विवाद उत्पन्न हो गया। चांगदेव ने योग के प्रभाव से सिंहों पर सवारी की और सर्पों का कोड़ों की भाँति प्रयोग किया, परन्तु ध्याँणदेव ने अपनी भक्ति के प्रभाव से एक दीवाल पर बैठकर और दीवाल को गतिमान करके चांगदेव को लज्जित किया। इसी

प्रकार ज्ञाणदेव और नामदेव में विवाद उत्पन्न हुआ जबकि ज्ञाणदेव ने योग की एक क्रिया के प्रयोग द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म आकार ग्रहण कर लिया और एक पर्याप्त गहरे कुएँ का सारा जल पी गया, जब कि नामदेव ने अपनी भक्ति के बल पर कुएँ में इतना जल भर दिया कि जल ऊपर से बहने लगा तथा जिससे राह चलते यात्री अपनी तृष्णा शान्त करने लगे। इन छोटी-छोटी कथाओं से महाराष्ट्र के सन्तों एवं धर्म-प्रचारकों के उपदेशों एवं विचारों के एक अंग का अत्यन्त सुन्दर विवरण प्राप्त होता है।

एक विख्यात कथा है कानोबा पाठक की, जिसने अपने व्यवहार द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भक्ति-मार्ग के अवलम्बी जिस प्रकार अपने हृदय को एक ही रँगमें रँग लेते हैं और ईश्वर की अपार सत्ता के समक्ष अपने स्वार्थों एवं हितोंको कोई महत्व नहीं देते वह एकाग्रता योग और साधना में विश्वास करनेवालों में नहीं आ सकती। कथा इस प्रकार है कि कानोबा बच्चों से बहुत प्रेम करता था और सदैव उनसे घिरा रहता था। इस पर बनारस के एक ब्राह्मण ने उसे माया में लिप्त मनुष्य कहकर उसे बहुत धिक्कारा। कानोबा ने अपनी निर्लिप्तता का प्रमाण देने के लिए अपने बच्चों को ही कुएँ में डाल कर अपने आलोचक ब्राह्मण को स्तब्ध कर दिया, और आश्चर्य की बात तो यह थी कि ऐसा करते समय वह इतनी उदासीन मुद्रा धारण किये हुए था मानों कुएँ में अपना बच्चा नहीं, बल्कि कंकड़-पत्थर फेंक रहा हो। अपने इस निर्लिप्त आचरण से उसने सिद्ध कर दिया कि भक्तों में निहित रुष्ट और प्रसन्नता के प्रति उदासीनता का भाव किन्हीं अन्य मार्गावलम्बियों में नहीं मिल सकता। एकनाथ अपने जीवन-पर्यन्त अपनी पत्नी एवं अपने बच्चों के साथ रहकर गृहस्थ-धर्म का पालन किया, और ऐसा ही तुकाराम और नामदेव ने भी किया; यद्यपि उनका पारिवारिक जीवन एकनाथ की भाँति सुखमय नहीं था। इसी प्रकार बोधले बाबा, चोखामेला, दामाजी पन्त, भानुदास, दोनों कुम्हार सन्त तथा अन्य अनेक सन्त भी अपने परिवार के साथ ही रहते थे। तत्कालीन विचारधारा के अनुसार ईश्वर की खोज में घर-बार छोड़ देने की अपेक्षा परिवार में रह कर ही ईश्वर की उपासना करने को अधिक महत्व दिया जाता था; उदाहरणार्थ जब ज्ञाणदेव का पिता बिना अपनी पत्नी की सहमति के ही सन्यासी हो गया, तो उसके गुरु

रामानन्द ने उसे पुनः घर लौट कर अपनी पत्नी के साथ जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया था। इन सभी घटनाओं से सिद्ध होता है कि तत्कालीन सन्त एवं धर्म प्रचारक पारिवारिक जीवन की आवश्यकता के सम्बन्ध में अत्यन्त दृढ़ आस्था रखते थे और सांसारिक संघर्षों से भागकर ईश्वर की उपासना में आत्मपीड़न की पूर्ण प्रचलित प्रथा के रूप में व्याप्त राष्ट्रीय निर्बलता को दूर करने के लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में स्त्री सन्तों की जीवनगाथाएँ विशेष महत्व रखती हैं। इन जीवनियों से ज्ञात होता है कि ईश्वर के प्रति उनकी दृढ़ आस्था एवं अटूट भक्ति के कारण अनेक आपत्ति पूर्ण अवसरों पर उन्हें ईश्वरीय सहायता प्राप्त होती थी ईश्वर घरेलू कार्यों में उनकी सहायता करता था, और विभिन्न प्रकार के छद्मवेषों द्वारा उन्हें उतनी स्वतंत्रता दिला देता था जितने से कि वे उसकी सेवा भी कर सकें, और उनके परिवार वालों एवं विद्वेषी सम्बन्धियों को यह ज्ञान भी न हो सके कि वे घर से अनुपस्थित हैं। कभी कभी इन घटनाओं के वर्णनों से यह शंका होने लगती है कि ईश्वरीय सहायता को बहुत सस्ता बना दिया गया है, परन्तु यह दोष उन उच्चतर नैतिक आदर्शों के समक्ष छिप जाता है जो इन वर्णनों में भरे पड़े है। इन सन्तों एवं धर्म प्रचारकों ने विवाहित एवं पारिवारिक जीवन की पवित्रता को अत्यधिक महत्व दिया तथा उसका प्रचार किया एवं इस प्रकार भूतकालीन सन्यास प्रथा के विरुद्ध पवित्र पारिवारिक जीवन की महत्ता स्थापित की।

आधुनिक यूरोपीय इतिहास के समस्त विद्यार्थियों को यह जानकारी अवश्य होगी कि धर्म-सुधारकों ने जो सफलताएँ प्राप्त की, उनमें से दो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—उन्होंने अपने देश के मस्तिष्क को सीमित अध्ययन क्षेत्र के पुरातन बन्धन से मुक्ति दिलाई, तथा उस समय अत्यधिक महत्वपूर्ण समझी जाने वाली लेटिन भाषा के कठोर नियंत्रण को समाप्त करके अपनी राष्ट्रीय भाषा को प्रोत्साहित किया जब कि उस समय तक समस्त श्रेष्ठ पुस्तकें लेटिन भाषा में ही लिखी और पढ़ी जाती थीं। इन धर्म-सुधारकों की सहायता से ही यूरोपीय इतिहास में प्रथम बार, बिना ऊँच नीच के भेद भाव के, 'बाइबिल' प्रत्येक घर में पहुँच सकी। इस धार्मिक आन्दोलन के

पूर्व चर्च से सम्बन्धित अधिकारी तथा उच्चकुलीन लोग शिक्षा तथा ज्ञान के एकाधिकारी बने हुए थे, परन्तु पुनर्जागरण ने इस अधिकार की नींव को ही हिला दिया। भारतवर्ष में भी स्वतंत्रता के प्रथम बीज इसी प्रकार बोए गए। संस्कृत के धुरन्धर आचार्य, इस अभूतपूर्ण क्रान्ति पर अत्यधिक आश्चर्यान्वित हुए जब उन्होने देखा कि इन सन्तों और धर्म प्रचारकों ने अपने प्रान्तों की भाषाओं में उपदेश दिया, और अपनी रचनाओं को भी अपनी ही भाषा में लिखा। इस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा अधिकृत, तथा संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध ज्ञान के बन्धन से मुक्त होकर उन्होने ऊँच नीच, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी के लिए अपरिमित ज्ञान भण्डार के बन्द कपाट खोल दिए। इस क्षेत्र में अत्यधिक संघर्ष और पर्याप्त कष्टों के बाद ही इन सन्तों को अन्तिम विजय प्राप्त हो सकी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस निषिद्ध क्षेत्र में प्रवेश करने का साहस सर्व प्रथम ज्ञानदेव ने किया, और धर्म-प्रचार के लिए अपनी मातृ-भाषा का आश्रय लिया। उसके पश्चात् एकनाथ और रामदास, नामदेव और तुकाराम, बामनपण्डित और मुक्तेश्वर, श्रीधर और मोरोपन्त आदि ने उसके इस साहसिक प्रयास का अनुसरण किया। ऊपर दी हुई सूची के अन्तिम चार व्यक्ति धर्म-गुरुओं की अपेक्षा लेखकों और कवियों के रूप में अधिक बिख्यात हुए परन्तु उन्होंने भी उसी स्रोत से प्रेरणा प्राप्त की जिससे अन्य सन्त प्रेरित हुए थे। ये प्रारम्भिक मराठा लेखक यह भली-भाँति जानते थे बुद्धकालीन प्रभाव के तिरोहित होने के पश्चात् आधुनिक (मुगलकालीन) भारत वर्ष से वेदों एवं शास्त्रों का प्रभाव भी कम हो चला था, और उनका स्थान 'रामायण', 'महाभारत', 'भागवत पुराण' तथा 'गीता' जैसे धर्मग्रंथों ने ले लिया था, अतः अपने प्रचार के मार्ग को सुगम बनाने के लिए उन्होंने इन ग्रंथों का अपनी भाषा में अनुवाद किया तथा उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ कर दिया। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम अपने कदम बढ़ाने वाले सन्त थे एकनाथ तथा तुकाराम, जिनमें से प्रत्येक को ब्राह्मणों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। उनके द्वारा रचित ग्रंथों को, यूरोप की भाँति, जलाया नहीं गया बल्कि उन्हें जल में प्रवाहित करा देने की व्यवस्था इन द्वेषी ब्राह्मणों द्वारा की गई। प्रचलित लोककथाओं के अनुसार जल के देवताओं ने इस महत्वपूर्ण

ग्रंथों को नष्ट नहीं होने दिया; जल में फेंके गए ये ग्रंथ न तो डूबे, और न भीगे, और इस प्रकार ये ग्रंथ तथा उनके रचयिता और भी अधिक विख्यात हो गए। वामन पण्डित संस्कृत का ख्याति प्राप्त विद्वान था, प्रारम्भ में वह जनसाधारण की भाषा में लिखने अथवा बोलने में हिचकिचाहट प्रगट की क्यों कि पंडित होते हुए, साधारण भाषा में रचना करना उसे अनुपयुक्त प्रतीत हुआ, परन्तु जब वामन पण्डित, रामदास के सम्पर्क में आया तो उसे अपनी त्रुटि स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। इसी प्रकार साल्या रसाल नामक एक ब्राह्मण— जिसने 'रामायण' का अनुवाद किया था—अपने उच्चतर ज्ञान पर बहुत गर्व करता था परन्तु तब उसे बहुत लज्जित होना पड़ा जब उसकी आराध्या देवी ने स्वप्न में उसे आदेश दिया कि अभी तुम्हारा रचित ग्रंथ शुद्ध नहीं है, अतः शुद्धीकरण के लिए उसे नामदेव नामक दर्जी के पास भेज दो। कहा जाता है कि ब्राह्मणों को लज्जित करने के लिए ग्याँणदेव ने चमत्कार द्वारा एक भैंस के मुख से वेद के मंत्रों का उच्चार कराया था। सम्भवतः यह कथा व्यंग्यात्मक रूप से उन लोगों की योग्यता, क्षमता तथा मनोदशा का वर्णन करती है जो वेद के मंत्रों को रट कर ही अपनी योग्यता पर अभिमान करने लगते थे, चाहे उनकी समझ में उन मंत्रों का अर्थ तथा महत्व आए अथवा न आए।

इस प्रकार हम आजकल संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं की मान्यता के दावों का जो संघर्ष देख रहे हैं, उसका आधार बहुत पुराना है; बहुत पहले से ही जननेता सार्वजनिक भाषा के रूप में संस्कृत की अपेक्षा क्षेत्रीय भाषाओं को अधिक महत्व देते रहे हैं यद्यपि पुरातन वादी तथा संस्कृत प्रेमी ब्राह्मण संस्कृत भाषा के गौरवपूर्ण अतीत की दुहाई देकर इन जननेताओं की आलोचना करते रहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनेक शताब्दियों पूर्व ही इस विवादग्रस्त विषय का निर्णय देशी भाषाओं के पक्ष में हो चुका है, और पुरातन वादी इस निर्णय के विरोध में चाहे जो भी तर्क दें, परन्तु भाषा की प्राथमिकता सम्बन्धी प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है, और यह उत्तर यही है जो मध्यकालीन सन्तों एवं धर्म प्रचारकों ने संस्कृत को अपने कार्य के लिए अनुपयुक्त समझते हुए, उसका आश्रय छोड़कर, अपनी

समस्त रचनाओं को अपनी मातृभाषा में लिख कर दिया था। उन्होंने अपनी मातृभाषा को विकसित करने एवं समृद्ध बनाने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। इन तथ्यों को देखते हुए यह निःसंकोच-रूपसे कहा जा सकता है कि भारत में लोकभाषाओं की आधुनिक प्रगति, इन सन्तों के तथा धर्म प्रचारकों के परिश्रम का ही परीणाम है; यह तथ्य भी स्पष्ट एवं निर्विवाद है कि जिन प्रान्तों ने धार्मिक सुधार के क्षेत्र में सर्वाधिक विश्वास रखने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की, उन्हीं प्रान्तों में लोकभाषाओं का सर्वाधिक स्वस्थ विकास भी हुआ।

जिस समय यूरोप में रोमन कैथोलिक चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचारों का विरोध प्रारम्भ हुआ, उस समय कैथोलिक चर्च में मूर्तिपूजा और सन्त-पूजा अन्तिम सीमा तक पहुँच चुकी थी; और जिस ढंग से प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों ने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई, उससे यूरोप के धार्मिक वातावरण में एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन की झलक मिली। भारत के धार्मिक पुनर्जागरण के इतिहास का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि यहाँ भी मूर्तिपूजा और पूर्व प्रचलित कर्मकाण्डों के विरुद्ध प्रचार किए गए, परन्तु यहाँ इस आन्दोलन ने वह (iconoclestic) रूप नहीं ग्रहण किया जिसे प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों, विशेष कर उनकी अधिक कट्टर श्रेणी ने प्रश्रय दिया था। महाराष्ट्र के सन्तों एवं धर्म सुधारकों ने, न केवल सिद्धान्ततः, बल्कि अभ्यास रूप में भी (Polytheistic) उपासना की निन्दा की। प्रत्येक सन्त ने अपने इच्छित आकार एवं रूप में ईश्वर के अवतार की कल्पना कर लिया था, और उसी रूप में ईश्वर की उपासना करते थे। उदाहरणार्थ रामदास, रामको ईश्वर का पूज्य रूप एवं अवतार मानते थे, और राम को ही आराध्य देव मानते थे; एकनाथ और जयराम ईश्वर की उपासना कृष्ण के नाम से करते थे; तुकाराम, चोखामेला और नामदेव विठोबा को अपना आराध्य मानते थे; नरहरि सोनार और नागनाथ, शिव के उपासक थे. जनार्दन स्वामी और नरसिंह सरस्वती, ईश्वर को दत्तात्रेय के नाम से पूजते थे; मोरिया गोसावी और गणेशनाथ, गणपति के रूप में ईश्वर-पूजा करते थे, इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर ली थी, और अपने विशेष ढंग से अपने भगवान को प्रसन्न करने का यत्न करते थे। सन्तों की

जिन जीवनियों को हमने इस अध्याय के विवरणों का मुख्य स्रोत माना है, उनमें इन सन्तों एवं ईश्वर के रूपों के सम्बन्ध में अनेक विचित्र कथाएँ देखने को मिलती हैं जिनके अनुसार जब सन्त दूसरे देवालयों में ईश्वर का दर्शन करने के लिए जाते थे तो वे देवालय में स्थिति ईश्वर के रूप की आराधना करना स्वीकार नहीं करते थे, जिसके परिणाम स्वरूप, अपने भक्तों की सम्मान-रक्षा के लिए भक्तवत्सल भगवान् दूसरे देवालयों में भी वही रूप धारणकर लेते थे जिस रूप में ये सन्त ईश्वर को मानते थे। ये सन्त ईश्वर को अलग-अलग नामों से पुकारते थें, फिर भी वे एक ही ईश्वर में विश्वास करते थे जो सर्व-शक्तिमान एवं सर्वव्यापी था। वास्तव में इस धार्मिक आन्दोलन का प्रथम एवं सर्वप्रमुख सिद्धान्त ही यही था कि ईश्वर एक है, जो समस्त ब्रह्माण्ड का एकमात्र स्वामी है। मध्यकाल का प्रत्येक सन्त इस मान्यता को स्वीकार करता था, हृदय से मानता था, और इसके विरोध में एक भी तर्क सुनने के लिए तैयार नहीं था। इसी के साथ साथ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस देश में (iconoclestic) की भावना कभी भी यहाँ के धार्मिक रंगमंच पर कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सकी; हमारे देश में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं—ईश्वर की उपासना वैयक्तिक रुचि के अनुसार विभिन्न रूपों में की जाती थी, और यह विश्वास किया जाता था कि उपासना के ये सभी रूप अन्त में, जिस अन्तिम शक्ति में लीन हो जाते हैं, वह 'ब्रम्हा' है। भारतीय धार्मिक परम्परा में यह विश्वास बहुत पुरातन काल से प्रचलित था, यहाँ तक कि वैदिक काल में भी, जब यज्ञ-हवन आदि किए जाते थे तो इन्द्र और वरुण मारुति और रुद्र आदि देवताओं का अलग से आह्वान किया जाता था, परन्तु यह विश्वास किया जाता था कि ये सभी देवता, उसी परब्रह्म पारमात्मा के विभिन्न रूप हैं, जो अन्त में उसी सृष्टिकर्त्ता में विलीन हो जाते हैं। भारतीय धार्मिक परम्परा के इस पुरातन विश्वास से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो उठता है कि मध्य-कालीन सन्त एवं धर्म प्रचारक मूर्ति पूजा के प्रश्न के प्रति उतना उदासीन भाव क्यों धारण किए हुए थे। जब कुछ लोग यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि ये सन्त अत्यन्त आपत्तिजनक रूप से मूर्तिपूजक थे, तो वास्तव में उपरोक्त बातों की उपेक्षा कर जाते हैं और

केवल एकांगी विचार करते हुए इन सन्तों के विचारों का गलत रूप प्रस्तुत करते हैं। ये सन्त पत्थरों कंकड़ों की पूजा नहीं करते थे। यह तथ्य तो पूर्णतः सिद्ध किया जा चका है कि वैदिक काल में मूर्तिपूजा का अस्तित्व ही नहीं था। मूर्तिपूजा का अविर्भाव अवतारवाद के साथ ही हुआ, जिन महापुरुषों को जनसाधारण ने ईश्वर का अवतार मान लिया, उनकी मूर्तियाँ बनाई गईं, और मूर्ति पूजित होने लगी। मूर्ति-पूजा को विशेष प्रोत्साहन दिया जैन और बुद्ध धर्मावलम्बियों ने जो शीघ्र ही अपने सन्तों (महावीर और बुद्ध) की प्रतिमा बनाकर उनकी उपासना करने लगे। धीरे-धीरे यह प्रथा विस्तार प्राप्त करती गई, और प्राचीन जंगली जातियों के देवताओं एवं उनकी मूर्तियों को आर्यों द्वारा मान्यता प्रदान की गई, और उनके देवताओं को आर्यगण अपने ईश्वर के विभिन्नि अवतार मानने लगे। अस्तु, मध्यकालीन सन्त और धर्मप्रचारकों ने पुरातन परम्पराओं के बन्धन से स्वयं को मुक्त कर लिया। तथा ईश्वर के सम्बन्ध में, जन-साधारण को प्रचलित परस्पर विरोधी मान्यताओं के प्रति उदासीनता प्रकट करते हुए वे जनसाधारण से ऊपर उठे। मूर्तिपूजा का पूर्णतः खण्डन नहीं किया गया, परन्तु केवल उन्हीं मूर्तियों को मान्यता दी गईं जिनमें यह भावना निहित थी कि ईश्वर एक है और वह सर्व शक्तिवान है साथ हो अनेक अगों में प्रचलित असंख्य देवताओं एवं मूर्तियों का बड़ा विरोध भी किया गया। तुकाराम और रामदास ने जंगली जातियों तथा प्रत्येक गाँव में पूजित भिन्न-भिन्न देवताओं तथा उपासना की भयंकर एवं विचित्र रीतियों एवं बलियों का निन्दा करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। भानुदास के जीवन-चरित्र में यह उल्लेख मिलता है कि एक बार भानुदास ने विद्यानगर के राजा से कहा कि "हे राजन्, तुम जिस देवी को उपासना करते हो, वह तो मेरे पंढरपुर के भगवान की सेवा करती है, और उनके मन्दिर में झाड़ू लगाती है।" और राजा पंढरपुर के देवालय में गया, तो उसने ऐसा ही देखा। दो अन्य सन्तों की जीवनियां में भी ऐसे विवरण मिलते हैं कि एक बार सन्तों ने हरी के नाम पर देवी काली को चढ़ाई जानेवाली मनुष्यों और पशुओं की बलि को समाप्त करने के लिए इतना कड़ा विरोध किया कि काली देवी

अत्यन्त भयभीत हो गई, और अपने उपासकों को सदा-सर्वदा के लिए बलिदान की प्रथा को समाप्त कर देने का आदेश दे दिया। इन दृष्टान्तों से काफी सीमा तक स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों ने भक्ति के माध्यम के रूप में। मूर्तिपूजा का जो आश्रय ग्रहण किया था, उसमें उनका क्या ध्येय निहित था और जब तक हम इस महत्व पूर्ण तथ्य को अपने मस्तिष्क में न रक्खें, यह सम्भव नहीं है कि हम इन सन्तों एवं धर्म गुरुओं की वास्तविक महत्ता को समझ सकें।

अब हम ऐसे तथ्य का उल्लेख करेंगे, जो भारत के धर्म-सुधारकों को उन धर्म-सुधारकों को भिन्न स्तर पर ला खड़ा करता है, जो लगभग उसी काल में प्रोटेस्टेन्टों के रूप में युरोप में लगभग उसी तरह का कार्य सम्पन्न कर रहे थे, जैसा कि ये सन्त भारत में कर रहे थे। भारत में वैदिक काल में तथा उसके पश्चात् भी आर्यगण जिन देवताओं की उपासना करते थे वे प्रेम और प्रकाश-- मधुरता एवं तेज, आदि गुणों के मूर्तिमान स्वरूप थे। ऐसी बात नहीं है कि उस काल में लोग भयंकर देवों को मान्यता नहीं देते थे; उस समय भी वरुण और रुद्र जैसे दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता था, जिसके नाम भयोत्पादक थे, तथा जिनके स्मरणमात्र से मस्तिष्क भयाभिभूत हो जाता था। इस प्रकार प्राचीन काल से ही प्रेम तथा भय उत्पन्न करने वाले देवताओं की शक्ति को मान्यता दी जाति थी; परन्तु सामान्य जन-प्रवृत्ति प्रममार्ग की ही ओर थी और लोग ईश्वर की तेजवान और प्रेमपूर्ण प्रकृति का अधिक चिन्तन करते थे। उनकी रुचि Shemistic Idea के बिलकुल विपरीत थी, जो अपने ईश्वर को इतना प्रभावशाली एवं भयोत्पादक मानते थे कि उसके ईश्वर के तेज को केवल बादलों के बीच से ही देखा जा सकता था; नंगी आँखें उस तेज को सहन नहीं कर सकती थी; उसके मतानुसार उनका ईश्वर मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलताओं को क्षमा नहीं करता था, और एक ऐसा न्यायाधीश था जो पारितोषिक देने की अपेक्षा दण्ड देने में ही अधिक विश्वास रखता था; यही नहीं, जब उनका ईश्वर किसी को पारितोषिक भीं देने लगता था, तो पारितोषिक लेनेवाला व्यक्ति अपने ईश्वर

के भय से काँपता रहता था, मानों वह पारितोषिक नहीं, दण्ड प्राप्त कर रहा हो।

जितने भी Shemistic धर्म हैं, उन सबका आधारभूत सिद्धान्त यही है, और इस बात का श्रेय ईसाई-धर्म को ही दिया जाना चाहिए, जिसने जेसस क्राइस्ट के रूप में, ईश्वर के पुत्र के अवतार की कल्पना करके, तथा मानवी कार्यों में दैवी हस्तक्षेप की भावना का प्रचार करके ईश्वर तथा मनुष्य के बीच की भय से भरी हुई इस गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया, और पर्याप्य अंश में सफलता भी प्राप्त की। बाइबिल के जेसस क्राइस्ट ने मानव क कल्याण के लिए कष्ट सहन किये और उनके पापों को क्षमा रकने के लिए उनकी तरफ से ईश्वर से प्रार्थना की। परन्तु ग्रीस या रोम या भारत के आर्य-धर्मो में इस दैवी हस्तक्षेप को कभी भी आवश्यक नहीं समझा गया। हमारे धर्म में ईश्वर को न्यायाधीश, आर्यों के लिए दण्डित करनेवाला या शासक न मानकर उसे माता और पिता, भ्राता एवं मित्र के रूप में माना गया है। हिन्दू धर्मानुसार, यह बात नहीं है कि ईश्वर न्याय नहीं करता या शासन नहीं करता; वह न्याय भी करता है, शासन भी करता है, और दण्ड भी देता है, परन्तु उसी भावना के साथ, जिस भावना एवं प्रेम के साथ माता-पिता अपने सन्तानों को डाँटते, फटकारते एवं दण्ड देते हैं। जिस प्रकार एक साधारण मनुष्य अपने नालायक पुत्र के द्वारा पश्चाताप प्रकट किये जाने पर उस पर अपना प्रेम एवं स्नेह बरसाता है, उसी प्रकार जब अधम से अधम, और पापी से पापी मनुष्य भी अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप प्रकट करता हुआ ईश्वर की शरण में जाता है, तो वह दोनों बाँहें पसार कर पश्चाताप-दग्ध पापी को अपने अंक में ग्रहण कर लेता है। कट्टरपंथी ब्राह्मणवाद में ईश्वर की इस उदारता का वर्णन उतने स्पष्ट रूप में नहीं प्राप्त होता, जितना कि सन्तों एवं धर्म-प्रचारकों के जीवन-चरित्रों, उनके उपदेशों एवं उनके मर्मस्पर्शी अनुभवों द्वारा अभिव्यक्त होता है। अनेक सन्तों ने दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार किया है कि वे ईश्वर का दर्शन कर सकने में समर्थ थे, उन्होंने ईश्वर से वार्तालाप किया था, ईश्वर के साथ चले-फिरे थे और प्रत्येक प्रकार का सानिध्य प्राप्त किया था। अपनी समाधिस्थ अवस्था क उच्चतर क्षणों में ईश्वर के

सम्बन्ध में इन सन्तों ने जो अनुभव प्राप्त किए, उसके अनुसार ईश्वर बोलता नहीं, परन्तु उन्हीं के अनुसार उन्होने अपने समक्ष ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करके उसी प्रकार की आत्म-संतुष्टि का अनुभव किया, जिस प्रकार कि साधारण मनुष्य अपने किसी प्रियजन को देखकर सन्तोष प्राप्त करते हैं। योगियों और वेदान्तियों ने अपने अपने दिवास्वप्नों में ईश्वर का सानिध्य प्राप्त किया और ईश्वर में लीन हो गये—ऐसे विवरण भी उपलब्ध हैं; परंतु नागदेव और तुकाराम, एकनाथ और घाणदेव जैसे सन्तों को ईश्वर के साथ इस अप्रत्यक्ष एवं कठिन सम्पर्क से कोई संतोष नहीं प्राप्त हुआ; क्योंकि ईश्वर के साथ एक होने की भावना उनके चेतन-जीवन के प्रत्येक क्षण में उनके हृदय में नहीं रहती थी; और इस रीति से केवल अचेतन अवस्था में ही ईश्वर से सम्पर्क स्थापित हो सकता था। अन्त में अपनी भक्ति के बल पर उन्होंने ईश्वर से ऐसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जो योग और वेदान्त के अनुयायियों की कल्पना से भी परे था। इन सन्तों के साथ जिन चमत्कारों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उस पर विश्वास करना या न करना मनुष्यों की हृदयंगम श्रद्धा एवं संस्कार पर निर्भर है; परन्तु जिस दृढ़ स्वर से सन्तों ने ईश्वर के साथ अपने सम्पर्क का वर्णन किया है, उस पर तो हम अविश्वास कर ही नहीं सकते। ईसाइयों के भू-क्षेत्र में जेसस क्राइस्ट के जीवन और मरण और उनके चरित्र के विषय में जो प्रेम संचित है, उस प्रेम का अनुभव हमारे देश के सन्तों एवं भक्तों ने ईश्वर को अपने हृदय में ही धारण करके, तथा अपने दैनिक जीवन में ईश्वर के साथ निरन्तर सम्पर्क रख कर किया है और ईश्वर के प्रति अपने अपार प्रेम को उन्होंने जन-साधारण में खुले तथा स्वतंत्र हृदय से वितरित किया है। ईश्वर के साथ इन सन्तों का सम्पर्क आँख या कान था या स्पर्श के अनुभवों से भी अधिक प्रत्यक्ष था। भारतीय सन्तों एवं भक्तों का समस्त गौरव इस सम्पर्क में निहित है; यह एक ऐसी सम्पत्ति है, जो हमारे देशवासियों के हृदय में पुरातन काल से सँजोई हुई और सभी व्यक्ति, चाहे उच्च हो अथवा निम्न, पुरुष हों अथवा नारी, केवल इन सन्तों के जीवन-चरित्रों में निहित इस अमूल्य सम्पत्ति द्वारा ही सान्त्वना प्राप्त करते हैं।

ईश्वर तथा मनुष्य के घनिष्ट सम्बन्धों के इस सिद्धान्त के फल-स्वरूप ही वैष्णवों में भक्ति-मार्ग को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा और यह विश्वास किया जाने लगा कि ईश्वर के सम्बन्ध मे अधिकतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा भव-सागर से मुक्ति पाने के लिए भक्ति-मार्ग से श्रेष्ठ कोई भी साधन नहीं है। महीपति के द्वारा लिखे गये सन्तों के जीवन-चरित्रों में एक भी सन्त का जीवन-चरित्र ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें भक्ति और भाव पर अत्यधिक जोर न दिया गया हो तथा ईश्वर-प्राप्ति के अन्य मार्गों जैसे पूजा के बाह्याडम्बर और विभिन्न प्रकार की धार्मिक रीतियाँ, तीर्थ-यात्राएँ आत्मपीड़न, तप, व्रत, अध्ययन और चिंतन की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी न सिद्ध किया गया हो। सन्तों के मतानुसार ईश्वर-प्राप्ति के ये बाह्य उपाय केवल शरीर अथवा मस्तिष्क से सम्बन्धित हैं जब कि ईश्वर आत्मा की भावना एवं प्रेम को अधिक महत्व देता है और अपने भक्तों की ईश्वर-सेवा में निमग्न देखकर सन्तुष्ट होता है। विभिन्न प्रकार के बाह्याडाम्बरों एवं धार्मिक रीतियों को तो उसी प्रकार पूरा किया जा सकता है जिस प्रकार कि हम क्षुधा का अनुभव करके भोजन द्वारा तथा तृष्णा का अनुभव करके जल द्वारा स्वयं को संतुष्ट कर लेते हैं, ये क्रियाएँ उसी प्रकार स्वाभाविक हैं, जिस प्रकार श्रमसाध्य कार्य के पश्चात् निद्रा का अनुभव होना; और इनकी पूर्ति के लिए हमें आवश्यक रूप से चिन्तन नहीं करना पड़ता। ईश्वर में लीन हो जाने को सर्वोत्तम वह अवस्था मानी जाती है, जब इन्द्रियाँ व्यक्ति को प्रत्येक दिशा से घेरे हुए ईश्वर की उपस्थिति रूपी विशाल समुद्र में डूब जाती हैं और व्यक्ति अपने भीतर और बाहर सर्व ईश्वर के रंग में रँगा हुआ अनुभव करता है, जैसा कि कबीर ने कहा है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी होई लाल।

जब हम अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित करके उसकी इच्छा को ही सर्वोपरि मानकर, अपना जीवन उसके चरणों की सेवा में ही न्यौछावर कर देते हैं, तो यह श्रेष्ठतम आत्मत्याग तथा सर्वाधिक महत्व पूर्ण दान है। सर्वश्रेष्ठतर या आत्मपीड़न वही है, जिससे आत्मा

ईश्वर के समक्ष पूर्णतः विनम्र हो जाय, सर्वश्रेष्ठ चिन्तन वही है जिससे हम अपनी समस्त शक्तियों द्वारा ईश्वर का गुणगान करें। हमारे लिए यह उपलब्धि महत्वपूर्ण नहीं है कि हम में ज्ञान या योग की शक्तियाँ हैं, या हम स्वस्थ और समृद्ध हैं हमें तो मुक्ति (जीवन मरण के बन्धन से मुक्त होना) की भी कामना केवल मुक्ति के लिए नहीं करनी चाहिए। हमें कामना करनी चाहिए कि हमारे अन्तस्थल में ईश्वर-प्रेम की भावना से सदैव परिपूर्ण रहे और हम उसके कार्यों उसकी सृष्टि, तथा उसके द्वारा बनाए गए मनुष्यों पशुओं तथा अन्य जीवों के प्रति स्नेह भाव रक्खे। एक बार नामदेव कुल्हाड़ी से एक पेड़ की छाल छुड़ा रहा था। जब उसकी कुल्हाड़ी का वार वृक्ष के तने पर पड़ा तो उसे लगा कि तने से रक्त प्रवाहित हो रहा है, उसने वृक्ष पर कुल्हाड़ी चलाना बन्द कर दिया और वृक्ष पर पेड़ कुल्हाड़ी के वार से वृक्ष को कितना कष्ट हुआ होगा उसका अनुभव करने के लिए उसने उतने ही जोर से अपने पेरों पर कुल्हाड़ी से वार किया। शेख मुहम्मद का पिता कसाई का धन्धा करता था। एक उसने अपने लड़के शेख मुहम्मद को इसी धन्धे के लिए भेजा। जब शेख मुहम्मद ने पशु को काटने के लिए छुरा उठाया तो वह इस चिन्ता में पड़ गया कि इस प्रकार हलाल किए जाने पर इस निरपराध एवं मूक पशु को कितना कष्ट होगा; अन्त में उसके कष्ट का अनुभव कमाने के लिए शेख मुहम्मद ने छुरे से अपनी ही उगँली काट डाली, जिससे उसे इतना कष्ट हुआ कि उसने तत्काल इस क्रूरता पूर्ण व्यवसाय से तौबा कर ली, साथ ही इस प्रपंचपूर्ण सांसारिक जीवन का परित्याग कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया जहाँ अपने जीविकोपार्जन के लिए दूसरों पर इतना अन्याय करना पड़ता है। जब तुकाराम खेतों की रखवाली करने के लिए भेजे गए तो खेत में बैठी हुई चिड़ियाँ उसे देखते ही उड़ गई यद्यपि तुकाराम उनके चुगने में बाधा नहीं डालना चाहता था; उसने अनुभव किया कि मुझमें अवश्य ही कोई दोष होगा, नहीं तो मेरे शुद्ध विचारों के बावजूद भी चिड़ियाँ क्यों उड़ जाती। जो लोग इस सन्तों जैसे वातावरण में नहीं चले हैं, उनके लिए सन्तों की यह उच्च आध्यत्मिकता एवं अहम् के पूर्ण समर्पण की भावना पर सहज ही में विश्वास कर लेना सम्भव न ऐसा, बल्कि वे तो इन घटनाओं एवं विचारों को अवास्तविक ही

मानेंगे। परन्तु जिनके हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा जीवों के प्रति प्रेम है उन्हें इस विचारों की सत्यता पर सन्देह हो ही नहीं सकता; साथ ही यह तथ्य भी शंका से परे एवं निर्विवाद है कि उच्चतर आध्यात्मिकता के राष्ट्रीय आदर्श को इन्हीं साचों द्वारा आकार प्राप्त हुआ था। हम यह कह सकते हैं कि जिस काल में हम अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसमें अपनी रक्षा के लिए एक सुदृढ़ रीढ़ और अत्यधिक विरोधक शक्ति आवश्यक है परन्तु दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के सन्तों के जीवन चरित्रों का वर्णन करते समय, हम उनके विचारों एवं इच्छाओं में अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं का समावेश नहीं कर सकते; वर्तमान युग तथा सन्तों एवं धर्म-प्रचारकों के युग की आकांक्षाओं एवं विचारधाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि हम अपने और उनके जीवन में कोई मेल ही नहीं बैठा सकते।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना अत्यन्त रोचक होगा कि इन सन्तों के विचार क्या थे, वे किस प्रकार अपनी बात कहते थे, तथा जब वे तलवार की नोंक पर फैले हुए इस्लाम जैसे धर्म के सम्पर्क में आए तो उन्होंने किस प्रकार इस सम्पर्क दोष से आत्मरक्षण किया, किस प्रकार अपनी कठिनाइयों का सामना किया और उन पर विजय प्राप्त की। नामदेव, रामदास, एकनाथ, तथा अन्यान्य सम-कालीन सन्तों के जीवन चरित्र इस प्रकार की घटनाओं से भरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अनेक इस्लाम धर्मावलम्बियों ने धर्म-परिवर्तन किया और हिन्दू धर्म को ग्रहण किया; उन्होंने केवल धर्म परिर्तन ही नहीं किया बल्कि हिन्दू-धर्म के प्रति प्रेम एवं भक्ति के बल पर उन्होंने जन-साधारण में इतनी लोकप्रियता अर्जित कर ली कि हिन्दू ग्रंथकार अपने ग्रंथों के प्रारम्भ में हिन्दू सन्तों के साथ उनके नाम का भी स्मरण करने लगे। जन-साधारण में लोकप्रिय मुस्लिम से हिन्दू बने सन्तों के उदाहरण के रूप में शेख मुहम्मद और कबीर के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। मुसलमानों पर हिन्दू धर्म के इस प्रभाव के विपरीत दूसरी तरफ एकनाथ और तुकाराम जैसे हिन्दू सन्त मुसलमान धर्म से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने

उर्दू भाषा में अपनी कविताएँ लिखी जो इस्लाम धर्म के रँग में इस सीमा तक रँगी हुई थी कि कट्टर से कट्टर मुसलमानों को भी इन कविताओं की आलोचना कर सकने का कोई मसाला न मिल सका। जब सन्त रामदास का ऊधव नामक शिष्य बेदर में विपत्ति में फँस गया तो रामदास ने भी उर्दू में ही कविता लिखकर अपने शिष्य को मुक्ति दिलाई। बेदर के सुल्तानों की सेवा में नियुक्त दामा पन्त की कथा भी सर्वविदित है। एक बार, जब कि राज्य में अकाल पड़ा हुआ था और अन्नाभाव से जनता तड़प तड़प कर जान दे रही थी तो दामा जी पन्त ने गरीबों के लिए राज्य के अन्न भण्ढार के द्वार खोल दिए, और जब इस अनाधिकार चेष्टा के लिये उससे स्पष्टीकरण की माँग की गई; और राजदण्ड की नौबत आ पहुँची तो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण तथा अप्रत्याशित रूप से राज्यकोष में, भण्डार के वितरित अन्न के बराबर मूल्य जमा कर दिया गया और वह मुक्त हो गया। जब भी इन सन्तों को अपने मुसलमान शासकों का कोपभाजन होना पड़ा तो दैवी सहायता द्वारा वे उनकी वक्र दृष्टि से रक्षित होते रहे, उन्होंने सक्रिय विरोध तथा संघर्ष द्वारा नहीं, बल्कि ईश्वर की सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति आत्म समर्पण की भावना द्वारा अपना अस्तित्व बनाए रक्खा। उस समय वातावरण भी हो कुछ ऐसा बन गया था कि अल्लाह और राम, दोनों को ही हिन्दू मुस्लिम, सभी की श्रद्धा प्राप्त थी और दोनों धम के मतावलम्बियों में पारस्परिक सहिष्णुता की भावना पूर्ण रूपेण जागृत थी; हिन्दू और मुसलमान दोनों ही राम और रहीम को एक मानकर पूर्णश्रद्धा एवं भक्ति के साथ उनका स्मरण करते थे, हिन्दुओं और मुसलमानों में व्याप्त धार्मिक संगठन की यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती थी, और जिस समय शिवाजी भारत के ऐतिहासिक रंगमंच पर उपस्थित हुआ, उस समय तक यह धार्मिक एकता परिपूर्णता की सीमा तक पहुँच चुकी थी यद्यपि यदा कदा, मुसलामानों की कट्टर धर्मांधन्ता तथा सनकीपन के उदाहरण भी उपस्थित होते ही रहते थे।

इस प्रकार ऊपर के पृष्ठों में हमने उस धार्मिक आन्दोलनों के

प्रत्येक महत्वपूर्ण अंग का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जो पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न घाँणदेव के जीवन काल से प्रारम्भ हुआ, और जिसकी धीमी प्रगति के प्रत्यक्ष चिन्ह पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक सरलतापूर्वक ढूँढ़े जा सकते हैं। इस आन्दोलन की अवधि में जिस साहित्य की रचना की गई, वह देश की लोक-भाषाओं के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस महत्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन का सर्वाधिक उल्लेखनीय अंग यह है कि इसने हिन्दू धर्म में बुराई की अन्तिम सीमा तक व्याप्त जाति-भेद एवं छुआ-छूत की सकुँचित भावनाओं को दृढ़ चुनौती दी, और पर्याप्त अंशों तक सफलता प्राप्त की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप शूद्रों में भी धार्मिक नवचेतना का जागरण हुआ और उन्होंने सामाजिक महत्व प्राप्त करने के साथ साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति की। इस धार्मिक पुनर्जागरण का दूसरा महत्वपूर्ण अंग यह था कि इस काल में सांसारिक बन्धनों को त्यागकर सन्यास ग्रहण करने वाले पलायनवादियों की अपेक्षा सात्विक रूप से गृहस्थ धर्म का पालन करने वालों को अधिक महत्व दिया गया एवं बान प्रस्थ आश्रम के विपरीत ग्राहस्थ्य धर्म तथा परिवार की पवित्रता का गुणगान किया गया; साथ ही स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ तथा समाज में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षा कृत अधिक सम्मानपूर्ण हो गई। इस आन्दोलन ने देश में मानवतावाद के लिए उचित वातावरण उत्पन्न किया, साथ ही साथ दो परस्पर-विरोधी धर्म-मतावलम्बियों में एक दूसरे के धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना पैदा करने का श्रेय प्राप्त किया। उस जनजागरण ने इतिहास में पहली बार हिन्दू मुस्लिम एकता का महामंत्र फूँका और पर्याप्त सीमा तक यह एकता बढ़ाने में सफलता भी प्राप्त की। इस धार्मिक नवजागरण के फलस्वरूप पूर्वकाल से प्रचलित धार्मिक बाह्याडम्बरों एवं जटिल क्रियाकलापों पर कुठाराघात किया, तीर्थ यात्राओं एवं व्रतों को महत्व हीन सिद्ध किया, अध्ययन एवं चिन्तन के महत्व को क्षीण किया और हृदय के प्रेम और भक्ति द्वारा की जाने वाली ईश्वर पूजा को ही ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग बताया। इस आन्दोलन ने एकेश्वरवाद का प्रचार करके असंख्य देवताओं की कल्पना, तथा अत्यधिक सीमातक पहुँची हुई देवों की पूजा तथा व्याप्त कुप्रथाओं

को रोका। इस प्रकार इन समस्त ढंगों से इस धार्मिक पुनर्जागरण ने विचार और सक्रियता के क्षेत्रों में राष्ट्र के सामान्य स्वर को पर्याप्त सीमा तक ऊँचा उठाने का सफल प्रयत्न किया, साथ ही भारत के इतिहास में प्रथम बार, विदेशी शक्ति के स्थान पर, देश में पुनः एक संगठित देशी राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक पृष्ठ भूमि तैयार करने में किसी भी अन्य तत्व से अधिक महत्व पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मेरे विचार से महाराष्ट्र के सन्तों द्वारा प्रचारित धर्म के मुख्य अंग यही है, और सम्भवत इन्ही अंगों को दृष्टि में रखकर सन्त रामदास ने शिवाजी के पुत्र को यह परामर्श दिया था कि वह अपने पिता के पदचिन्हों का अनुसरण करे, और उस धर्म का प्रचार करे जो सहिष्णु एवं उदार है तथा गम्भीर रूप से आध्यात्मिक होते हुए भी Iconclaitie नहीं है।

नवाँ अध्याय

गिंगी

शिवाजी के शासन काल में भी, कुछ ही लोगों ने मराठा इतिहास के उस द्वितीय महान संकट को अनुभव किया जो शिवाजी की अकाल मृत्यु के कारण दक्षिण में उत्पन्न हो गया था। वास्तव में शिवाजी की मृत्यु ने जिस महान संकट को जन्म दिया था, वह राजनैतिक दृष्टिकोण से मराठा इतिहास के प्रथम संकट की अपेक्षा कहीं अधिक विपत्तिपूर्ण था। मराठा इतिहास में प्रथम महान संकट कालीन स्थिति उस समय उत्पन्न थी जब कि शिवाजी ने बिना किसी शर्त राजा जयसिंह के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था और दिल्ली दरबार की यात्रा की थी जहाँ कुटिल मुगल सम्राट औरंगजेब ने उसका अपमान करके उसे कारागार में डाल दिया था। परन्तु बन्दी हो जाने के पश्चात् शिवाजी ने अपनी प्रतिभा तथा अपने सौभाग्य द्वारा न केवल मुगल कैद से भाग निकलने में सफलता प्राप्त की थी, बल्कि औरंगजेब को यह मानने पर विवश कर दिया था कि दक्षिण में भी उसके रूप में एक ऐसी शक्ति थी जिसका सर्वनाश कर दिए जाने के पूर्व तक किसी भी मूल्य पर उससे सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक था। दक्षिण के सम्बन्ध में औरंगजेब की कपटपूर्ण योजना से शिवाजी भली-भाँति परिचित था और अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्षों में उसने अपना सारा समय अपने राज्य के संगठन में लगाया ताकि मराठे, मुगलों के अन्तिम आक्रमण का प्रतिरोध कर सकें और मुगलों की कुचेष्ठाओं को असफल बना सकें। यद्यपि दक्षिण के मुस्लिम राज्यों में पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता चलती रहती थी, और शिवाजी तथा इन मुस्लिम शासकों के सम्बन्ध भी कटुतापूर्ण ही थे, फिर भी मुगलों का सामना करने के उद्देश्य से शिवाजी ने समस्त पुराने विवादों को भूलते हुए बीजापुर और गोलकुण्डा के राजाओं को मुगलों के विरुद्ध संघबद्ध होने के लिए प्ररित किया; उसने इन दोनों ही राज्यों के साथ आक्रामक

एवं प्रतिरक्षात्मक सन्धियाँ की, और इन दोनों ही राज्यों ने शिवाजी के साथ हुई सन्धियों से समय-समय पर मुगल सेनापतियों के आक्रमणों को विफल करने में लाभ उठाया, और शिवाजी के सहयोग के बदले में उसे प्रति वर्ष कर देना स्वीकार किया।

ऐसा लगता है मानो शिवाजी को पहले से ही भविष्य में घट सकने वाली घटनाओं का आभास मिल गया था क्योंकि उसने अपनी विजयों एवं सन्धियों द्वारा दक्षिण की कावेरी नदी की घाटी में एक ऐसी सुरक्षा पंक्ति का निर्माण कर डाला था जहाँ कि वह विपत्ति में फँस जाने पर पूर्ण सुरक्षित रूप से आश्रय ग्रहण कर सकता था। सह्याद्रि की श्रेणियों तथा अन्य पर्वतीय भागों में स्थित सुदृढ़ दुर्गों की मरम्मत सदैव होती रहती थी। उसने अपनी द्वितीय सुरक्षा पंक्ति का निर्माण जहाजी बेड़े के रूप में किया था जिसका संचालन उसके योग्यतम सेनापतियों के हाथ में रहता था। सुरक्षात्मक दृष्टि से उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने अपने अनुयायियों व सहचारों को पर्याप्त लम्बी अवधि में कुछ इस प्रकार का अनुशासन बद्ध प्रशिक्षण किया था कि कहीं भी और किसी भी स्थिति में वे उसके नेतृत्व में शंका नहीं प्रकट करते थे। और उसकी इच्छाओं को निर्दोष स्वामिभक्ति एवं सफलता की भावना से प्राणों के मूल्य पर भी पूर्ण करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। शिवाजी ने अपने राज्य में स्थित समस्त वर्गों में स्वाधीनता की भावना भर दी थी और उनके हृदय में अपने प्रति अटूट एवं अनन्य श्रद्धा उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की थी। उसकी ये उपलब्धियाँ ही उसकी शक्ति का मुख्य स्तम्भ बनी हुई थी और उसके मित्र और शत्रु सभी एक स्वर से यह स्वीकार करते थे कि वह दक्षिणी भारत का सर्व शक्ति मान शासक था।

उसकी मृत्यु अचानक और अकाल हुई, जिसके कारण उसे अपने राज्य और अपने उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था करने का अवसर प्राप्त न हो सका। उसका ज्येष्ठपुत्र व्यवहार में अत्यन्त अकुशल तथा आचरण भ्रष्ट सिद्ध हुआ, उसने अपने पिता के आदेशों की अवहेलना की और आत्म स्वातंत्र्य का हनन करके मुगल सेनापतियों का संरक्षण एवं आश्रय ग्रहण किया। जब सम्भा जी मुगलों के शिविर से अपने राज्य में वापस लौट कर आया तो

उसे पनहाला दुर्ग में कड़े पहरे में रक्खा गया। शिवाजी की राजधानी रायगढ़ के मंत्रियों ने यह अनुमान लगा लिया था कि सम्भा जी शिवाजी का उत्तराधिकारी होने की योग्यता एवं क्षमता नहीं रखता; वे जानते थे कि अपने भ्रष्ट चरित्र और दुराचरण के कारण वह उसके महान् कार्य को उचित रूप से संचालित करने में असमर्थ है जिसे शिवाजी ने प्रारम्भ किया था अतः इन मंत्रियों ने उसे पदच्युत करके शिवाजी के कनिष्ठ पुत्र राजाराम को सिंहासन पर बैठाने का निश्चय कर लिया। इस अवसर पर जल्दबाजी से काम लेकर रायगढ़ के मंत्रियों ने एक महान भूल कर दी उन्होंने इस प्रकार का निश्चयात्मक एवं क्रान्तिकारी कदम उठाने के पूर्व सेना का विश्वास प्राप्त कर लेने की ओर ध्यान नहीं दिया। सेनापति हम्बीर राव मोहिते को उन्होंने अपनी मंत्रणा में सम्मिलित नहीं किया जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि उनकी सारी योजना धूल में मिल गई। सम्भा जी ने सेना का सहयोग प्राप्त करने में सफलता पाई और सेना के ही बल पर ही बनहाला दुर्ग के कारागार से निकल भागने में सफल हो गया। रायगढ़ में स्थित मंत्रियों ने उसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु सेना बल से सम्भा जी ने उन पर विजय प्राप्त की और गढ़ी पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सफलता प्राप्त कर लेने पर उसने जिस क्रूरता का परिचय दिया उससे यह पूर्णतः सिद्ध हो गया कि उसमें वह क्षमता नहीं है कि वह भविष्य कालीन संकटों में देश का नेतृत्व भार ग्रहण कर सके। उसने अपनी सौतेली माँ को भूखों मार डाला वृद्ध पेशवा को कारागार में झोंक दिया, वृद्ध सचिव और सुमन्त को भी बन्दी बनाया और शिवाजी के निजी वृद्ध मंत्री को मौत के घाट उतार दिया। उसके सम्पूर्ण शासन काल में क्रूरता पूर्ण कृत्यों की नग्न पिशाच लीला होती रही जिसके फलस्वरूप उसने शीघ्र ही स्वयं को उन महत्वपूर्ण सरदारों की स्वामिभक्ति एवं सहानुभूति से वंचित कर लिया जो उसके पिता के अनन्य सहायक रहे थे। वास्तव में सम्भा जी बीर था और उसके क्रूरतापूर्ण कृत्यों के बावजूद भी मराठों ने कुछ समय के लिए ऐसा अनुभव किया कि वह शिवाजी द्वारा स्थापित महान मराठा साम्राज्य के सम्मान को अक्षुण रक्खेगा और पड़ोसी राज्यों को सर नहीं उठाने देगा। परन्तु उनकी आशाएँ पूरी न हो सकीं। सम्भा जी सुरा और कामिनी के जाल में इस बुरी

तरह बद्ध हो गया कि उसकी सारी स्वाभाविक वीरता विलासिता के समुद्र में डूब गई और अपने एक मात्र विश्वस्त प्रियपात्र कलुष के परामर्श से प्रेरित होकर वह भूतों पिशाचों को सिद्ध करने के प्रयत्नों में लीन हो गया। सम्भा जी के शासन काल का अधिक विस्तृत विवरण देने का प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि यह कथन निरर्थक ही है कि सम्भा जी ने मराठा राज्य पर कभी शासन भी किया था। उसके शासनकाल में अष्ट प्रधान लगभग नगण्य हो गए थे और उनके हाथों में शासन व्यवस्था का रंचमात्र भी उत्तर दायित्व नहीं था। उसके पिता द्वारा स्थापित समस्त प्रशासनिक एवं सैनिक व्यवस्थाएँ उपेक्षित कर दी गई थी; सैनिक नियमित रूप से वेतन नहीं पाते थे पर्वतीय दुर्गों की न तो मरम्मत ही की जाती थी और न उनकी सुरक्षा का ही कोई उचित प्रबन्ध था और जिलों की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार सर्वाधिक बोली बोलने वाले को दे दिया जाता था। सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी और यही वह समय था जब कि औरंगजेब पूर्णरूप से सुसज्जित तीन लाख सैनिकों की विशाल सेना के साथ दक्षिण की ओर इस दृढ़ संकल्प के साथ प्रस्थान किया, इस बार वह दक्षिण के हिन्दू एवं मुसलमान शासकों को अपने अधीन करके मुगल सम्राटों की चिर संचित अभिलाषा को पूर्ण करने की सफलता प्राप्त करेगा। इस महान और असाध्य माने जाने वाले कार्य की पूर्ति के लिए औरंगजेब ने हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण धन जन शक्ति तथा एक तरफ काबुल तथा कन्धार से लेकर दूसरी तरफ बंगाल तक के समस्त संसाधनों को एकत्रित किया था। जिनका संचालन उसके योग्यतम हिन्दू एवं मुसलमान सेनापतियों के हाथ में था। इसी समय औरंगजेब का एक पुत्र अपने पिता से रुष्ट होकर सम्भाजी से आ मिला परन्तु इस महान् संकट से त्राण पाने का यह सुनहरा अवसर भी सम्भा जी ने छोड़ दिया। शिवाजी के पुराने मंत्री औरंगजेब की इन तैयारियों को देखकर अत्यधिक चिन्तित हुए, उन्होंने सम्भा जी को सर पर खड़ी इस महान विपत्ति के प्रति सचेष्ट करने के लिए बहुतेरे प्रयत्न किये पर सुरा सुन्दरी के अथाह सागर में डूबे सम्भाजी के कानों पर जूँ भी न रेंगी। उधर औरंगजेब की सेनाएं दक्षिण की ओर विजय पताका फहराती हुई बढ़ती ही आ रही थी। अपने दक्षिण-

अभिमान के तीन वर्षों में ही औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर अधिकार कर लिया था और बीजापुर की स्वतंत्रता भी छीन ली थी। अब मुगल सेनाएँ मराठा राज्य में घुसी असहाय एवं निश्चेष्ट अवस्था में पड़े हुए सम्भाजी को मुगलों ने पकड़ लिया और अत्यन्त क्रूरता पूर्वक उसका सिरोच्छेद कर दिया। मराठा साम्राज्य के समस्त मैदानी भागों को मुगल सेनाओं ने रौंद डाला शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् पर्वतीय दुर्गों की मरम्मत एवं सुरक्षा की व्यवस्था की भी पूर्ण उपेक्षा की गई थी; अतः ये दुर्ग भी एक के बाद एक मुगलों के हाथ में पड़ गए जिसके लिये उन्हे कही भी संघर्ष नहीं करना पड़ा। अन्त में शिवाजी की राजधानी रायगढ़ पर भी मुगलिया झण्डा फहराने लगा और सम्भाजी की पत्नी तथा उसके पुत्र को कैद करके औरंगजेब के शिविर में पहुँचा दिया गया। इस प्रकार औरंगजेब के दक्षिण अभियान के पाँच वर्षों के भीतर ही उसका वह महान तथा महत्वाकांक्षा पूर्ण स्वप्न साकार हो गया। जिसे वह अपने जीवन के प्रारम्भ से ही सजाए हुए था।

अब नर्मदा और तुगंभद्रा नदियों के बीच स्थित समस्त क्षेत्र उसके चरणों में पड़ा हुआ था। ऐसा प्रतीत होने लगा कि शिवाजी द्वारा प्रशिक्षित सैनिकों तथा सरदारों का आमरण प्रयत्न व्यर्थ हो गया, और अब मराठा साम्राज्य पुनः न पनप सकेगा। मराठों की जिस निष्क्रियता को समाप्त करने के लिए शाह जी और शिवाजी ने साठ वर्षों से भी अधिक समय तक सतत् संघर्ष किया था वह निष्क्रियता पुनः सम्पूर्ण देश पर राज्य करने लगी और विपत्ति की अन्तिम बाढ़ मराठों के बचे खुचे साहस और देश प्रेम की भावना को भी मराठों की स्वतंत्रता के साथ ही बहा ले गई। अब देश में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं दिखायी पड़ रही थी जो मुगलों का सामना करने में समर्थ होती और उनके बढ़े हुए कदमों को पीछे ढकेल सकती। बीजापुर और गोलकुण्डा के पुराने शासक कैदी के रूप में दूरस्थ देशों में पड़े अपनी साँसे गिन रहे थे। सम्भाजी का पुत्र अभी किसी भी योग्य नहीं था और फिर वह औरंगजेब के शिविर में बन्दी के रूप में पड़ा हुआ था।

परन्तु इसी समय जब कि देश का भाग्य नक्षत्र अस्ताचल में डुबा जा रहा था और लगता था कि अब शिवाजी द्वारा स्थापित

मराठा राज्य के पुनः उदित होने की कोई आशा नहीं रह गई है, इन्हीं विपत्तियों से प्रेरित तथा उत्साहित होकर मराठा देश भक्तों का एक दल पुनः दीवानों की भाँति मैदान में आ कूदा। इस दल के प्रायः सभी सदस्यों ने शिवाजी की पाठशाला में प्रशिक्षण प्राप्त किया था। यद्यपि इन वीरों के पास कोई संसाधन नहीं थे और न गाँठ में ही एक छदाम था, फिर भी उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि देश को स्वतन्त्रता को पुनः वापस लाएँगे और औरंगजेब की विशाल वाहिनी को पुनः हिन्दुस्तान वापस भेज देंगे। इन दीवाने देश भक्तों का नेतृत्व कर रहा था शिवाजी का कनिष्ठ पुत्र राजाराम, जो शम्भाजी के शासनकाल में अपने बड़े भाई का कोपभाजन बनकर रायगढ़ के कारागार में पड़ा हुआ था। जिस समय मुगलों द्वारा सम्भाजी का बध किया गया, सौभाग्य से रायगढ़ पर मुगलों का अधिकार होने से पूर्व ही राजाराम रायगढ़ से निकल भागने में सफल हो गया। इस समय राजाराम की आयुमात्र बीस वर्ष थी, परन्तु उसने अपने पिता के अधिकांश गुणों को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था विशेषकर शिवाजी का साहस एवं कौशल, बुराइयों एवं दुराचरण से मुक्ति, और उसकी स्वभावगत उदारता और विनम्रता राजाराम में प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होते थे। राजाराम को उत्तराधिकार में अपने पिता से जो सर्वश्रेष्ठ गुण मिला, वह था अपने देशवासियों में अपने प्रति अटूट विश्वास की भावना उत्पन्न करने की क्षमता।

सम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठा सिंहासन का वास्तविक उत्तराधिकारी था सम्भाजी का पुत्र शाहू, परन्तु चूँकि इस समय शाहू औरंगजेब की कैद में था अतः उसके संरक्षक के रूप में राजाराम ने मराठा राज्य का संचालन भार अपने हाथों में ले लिया; उसके हृदय में राजसिंहासन के प्रति कभी भी लोभ उत्पन नहीं हुआ और जीवन भर, उसने सिंहासन पर बैठने की कामना नहीं की। वह सदैव शाहू के उत्तराधिकार का सम्मान करता रहा। इस संघष के प्रारम्भ में राजाराम का मुख्य परामर्शदाता था प्रहलाद नीराजी, जो कि शिवाजी के शासनकाल पदासीन 'न्यायाधीश' नीराजी रावजी का पुत्र था। जब तक शम्भाजी जीवित

रहा, प्रहलाद नीराजी की प्रतिभा का कोई उपयोग नहीं किया जा सका और वह उपेक्षित और पदच्युत होकर केवल दूर से तमाशा देखता रहा। वह अपने समय में मराठों में सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध था। मिस्टर ग्रान्ट डफ़ ने ब्राह्मणों की निन्दा करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है, परन्तु इस तथ्य को वह भी स्वीकार करता है कि प्रहलाद एक असाधारण प्रतिभावान व्यक्ति था और अपने स्वार्थ का परित्याग करने की दृष्टि से तत्कालीन ब्राह्मण राजनयिकों में अतुलनीय था। राजाराम की भाँति ही प्रहलाद नीराजी की मृत्यु भी उसी समय हो गई जब कि महाराष्ट्र की सुरक्षा का कार्य आधे अंशों तक ही पूरा हो सका था।

परन्तु मरते समय भी उसे यह सन्तोष रहा कि जो भयानक संकट उसके देश को आक्रान्त किए हुए था, उसे काफी सीमा तक टाला जा चुका था तथा उचित अवसर प्राप्त होते ही अन्तिम विजय की आशा भी निश्चित हो चुकी थी। देशभक्तों की इस टोली का एक दूसरा प्रमुख सदस्य था रघुनाथ पन्त हनुमन्ते। वह शाहजी की कर्नाटक स्थिति जागीर के सबसे पुराने ब्राह्मण कारकुन का पुत्र था और वे अपनी निःस्वार्थपटता एवं स्वतन्त्रता की भावना के लिए विख्यात था। उसने तंजौर में वेणको जी और रायगढ़ में सम्भाजी के दुर्व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध को देखा था और दोनों को उचित मार्ग पर लाने का असफल प्रयास किया था, और जब मुगलों के रूप में आए महान् संकट से महाराष्ट्र की पग-पग भूमि दहल उठी तो वह प्रहलाद नीराजी द्वारा बनाई गई योजना में सम्मिलित हो गया और राजाराम तथा उसके सहायकों का उचित स्वागत करने के लिए शाहजी की तंजौर की जागीर में स्थित गिंगि नामक दुर्ग की मरम्मत कराने एवं सुरक्षा की व्यवस्था करने में व्यस्त हो गया। शिवाजी के प्रथम पेशवा मोरोपन्त पिंगले के पुत्र नीलो मोरेश्वर को पहले ही गिंगी दुर्ग का दुर्गपति बनाकर दुर्ग की मरम्मत एवं सुदृढ़ किलेबन्दी कराने के लिए भेज दिया गया था। छिटपुट उपद्रवों एवं गुरिल्ला प्रणाली से मुगलों को अलंकित करने के उद्देश्य से कुछ ब्राह्मण सरदारों को दक्षिण में ही छोड़ देने का निश्चय किया गया था। ऐसे ब्राह्मण सरदारों

में सर्वप्रमुख था रामचन्द्र पन्त अमात्य जिसका परिवार आज दिन कोल्हापुर में स्थित बावड़ा में विद्यमान है। रामचन्द्र पन्त आबाजी सोनदेव का पुत्र था जो कि शिवाजी के काल में मोरोपन्त पिंगले के साथ शिवाजी का प्रमुख परामर्शदाता रह चुका था। साथ ही सैनिक अभियानों में भी काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। राजाराम रामचन्द्र पन्त पर इतना अधिक विश्वास करता था कि उसे परिस्थितियों के अनुसार स्वेच्छा से कार्य करने का पूर्ण अधिकार दे दिया गया था। राजाराम ने अपनी पत्नी को भी उसी के संरक्षण में छोड़ दिया था; उसके साथ ही साथ दक्षिण की ओर नियुक्त किए गए अन्य मराठा सरदारों ने भी अपने परिवारों को उसी के संरक्षण में विशालगढ़ में छोड़ दिया था।

इस प्रकार रामचन्द्र पन्त अमात्य को दक्षिण में मराठा राज्य का प्रतिनिधि बनाकर पूर्ण अधिकार के साथ दक्षिण में छोड़ दिया गया था, और दक्षिण में प्रत्यक्षरूप से वही एक ऐसा सरदार था जिसने मुगलों की अधीनता नहीं स्वीकार की थी। इस सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय ब्राह्मण सरदारों में से एक हैं शंकराजी मल्हार जिसे प्रारम्भ में शम्भाजी द्वारा 'सचिव' के पद पर नियुक्त किया गया था। उसने भी गिंगी में एकत्रित होनेवाले देशभक्त सरदारों का साथ दिया, और कुछ समय तक इन सरदारों के साथ गिंगी में रहने के पश्चात् वह बनारस चला गया। जब शाहु के हाथ में पुनः शक्ति आई तो उसने सइयदों एवं मराठों में सन्धि की व्यवस्था करा कर मराठा राज्य की उल्लेखनीय सेवा की। इस संकटकाल में जो ब्राह्मण सरदार प्रथम बार प्रभावशाली हुए उनमें से एक था परशुराम त्र्यम्बक, जो किन्हई का कुलकर्णी था।

उसका परिवार पन्त प्रतिनिधि परिवार के नाम से आज भी सतारा में स्थित अवन्ढ (oundh) में, तथा शंकराजी नारायण का परिवार पन्त सचिव परिवार के नाम से भोट में आज भी विद्यमान है। ये दोनों ही सरदार रामचन्द्र पन्त के प्रमुख सहायक थे, और अपने कार्यों द्वारा उन्होने अपने प्रति अपने देशवासियों के विश्वास की पूर्ण रक्षा की। यह तो हो गया संकटकाल में प्रभाव प्राप्त करने वाले ब्राह्मण सरदारों का विवरण, जहाँ तक तत्कालीन प्रभावशाली मराठा

सरदारों का प्रश्न है, सन्ताजी घोरपड़े एवं धनाजी जाधव अत्यन्त ही उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों के लिए नियुक्त किए गए थे। उन्होने सर्व-प्रथम हम्बीरराव मोहिते के सेनापतित्व में अपने नामों को उल्लेखनीय बनाया था जब कि सन् १६७४ में पनहाला के दुर्ग में हुए युद्ध में लगभग निश्चित पराजय को उन्होंने विजय के रूप में परिणित कर दिया था। लगभग तीस वर्षों तक उन्होंने मराठा सेना की कीर्ति को अक्षुण बनाए रक्खा और अपनी वीरता से सम्पूर्ण मुगल सेना को आश्चर्य चकित कर दिया। यद्यपि ये दोनों सरदार भी राजाराम, प्रहलाद नीराजी तथा अन्य सरदारों के साथ गिंगी पहुँच गए थे परन्तु राजाराम एवं उसके परामर्शदाताओं ने देश की मुक्ति के लिए जो योजना तैयार की थी उसके अनुसार यही निश्चित किया गया कि ये दोनों सरदार दक्षिण की ओर लौट कर मुगलों से संघर्ष करें और ऐसी व्यवस्था करें कि मुगल कर्नाटक और गिंगी की ओर अपने कदम न बढ़ा सकें। इस समय आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो चुकी थी कि ये सरदार बिना धन अथवा किन्हीं अन्य संसाधनों के समरांगण पर में कूद पड़े थे; इन्हें स्वयम् ही सैनिकों का संगठन करना था, सैनिकों के लिए अश्व, खाद्यसामग्री; युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य सामग्री, और धन की व्यवस्था करने के कार्य इन्हीं सरदारों के ऊपर छोड़ दिए गए थे, अतः इन सरदारों द्वारा, स्वाभाविक रूप से, धन एकत्रित करने के लिए अनेक अनैतिक कार्य भी किए गए। वे मुगलों की समस्त शक्ति के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, और अपनी युद्ध प्रणाली द्वारा उन्होंने शीघ्र ही मुगल सेना को इतना आतंकित कर दिया कि शताब्दी समाप्त होने के पूर्व ही मराठे अपने देश को पर्याप्त सीमा तक स्वतंत्र कर चुके थे और अपनी पूर्ण संगठित शक्ति से गुजरात, मालवा, खानदेश और बरार तक धावा मारने लगे थे, और इस प्रकार हर दिशा में उन्होंने मुगल सेना को पीछे हटने के लिए बिवश कर दिया था। दुर्भाग्य से इस स्वातंत्र्य-युद्ध के समाप्त होने के पूर्व ही, अपने किसी व्यक्तिगत शत्रु द्वारा छलपूर्वक सन्ताजी की हत्या कर दी गई; परन्तु उसकी मृत्यु से, उसे सौंपा गया कार्य बन्द नहीं हुआ। उसके तीन भाइयों ने उसका कार्यभार कुशलता पूर्वक सम्भाल लिया और मुगलों के साथ संघर्ष जारी रक्खा, अपनी ही शक्ति द्वारा वे गूटी एवं सून्दू में

अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए। धनाजी शाहू के राज्यारोहण तक मराठों के बीरतापूर्ण एवं साहसिक कृत्यों को देखने के लिए जीवित रहा।

राजाराम के नेतृत्व में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले अन्य मराठा सरदारों में खण्डेराव डाभादे का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका पिता टलेगांव का पटेल था और शिवाजी की सेवा में नियुक्त था। खण्डेराव उन सरदारों में सम्मिलित था जो राजाराम के साथ गिंगी गए थे, और दक्षिण की सीमा के बाहर, मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत स्थित प्रान्तों जैसे गुजरात और खानदेश में मुगलों के साथ युद्ध छेड़ने वाला प्रथम सरदार था। उसके सहायकों में से एक ने—जो कि धार और देवास के पवार परिवार का संस्थापक था—मालवा तक धावा किया था। खण्डेराव उन लोगों में से एक था जो उस समय तक जीवित रहे थे, और बालाजी विश्वनाथ के साथ दिल्ली गए थे जब कि वह मुगल सम्राट से शाहू के लिए 'चौथ' 'और' सरदेशमुखी की 'सनदें लेने के लिए मुगल दरबार में गया था। इस स्वातंत्र्य युद्ध में भाग लेने वाले तथा ख्याति प्राप्त करने वाले कतिपय अन्य मराठा सरदारों में हम आहबले, सिदोजी नायक निम्बलकर नागपुर के राज्य के संस्थापक परसोजी भोंसले और नेमाजी शिन्दे के नामों का उल्लेख कर सकते हैं। थोराट, Thorate घाडगे, थोके, Thokes महार्णव, पांढरे, काकड़े, पारणकर, बाँगर, कडू kadu तथा कतिपय अन्य सरदार इस लम्बी अवधि तक चलने वाली युद्ध के फलस्वरूप अत्यन्त अनुशासित ढंग से प्रशिक्षित हुए थे तथा उन्होंने अपने देश की अनन्य तथा उल्लेखनीय सेनाएँ की थीं। राजाराम तथा उसके परामर्शदाताओं ने मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत स्थिति प्रान्तों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने की जो योजना बनाई थी; उसे कार्यरूप में परिणत करने का भार इन्हीं नवोदित सरदारों कों सौंपा गया। इसी योजना के अनुसार परसोनी भोंसले को गोंडबन और बरार के क्षेत्रों से चौथ वसूल करने की सनद प्राप्त की। निम्बलकरों को चौथ वसूलने के लिए गगंथड़ी का क्षेत्र सौंपा गया; और डाभाडे परिवार को गुजरात और खानदेश से चौथ वसूलने का अधिकार दिया गया। कर्नाटक तथा

हाल ही में जीते गए मुगल साम्राज्य के प्रान्तों में अन्य सरदारों की व्यवस्था कर दी गई।

ब्राह्मण एवं मराठा सरदारों के पश्चात् इस क्रम में तीसरा स्थान प्रभु सरदारों का है जिसमें से दो के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। पहला व्यक्ति है खण्डो बल्लाल चिटनिस जो कि शिवाजी के प्रमुख परामर्शदाताओं में से एक बालाजी अवजी का पुत्र था। शम्भाजी के शासन काल में खण्डो बल्लाल के पिता और चाचा दोनों की अत्यन्त क्रूरतापूर्वक हत्या कर दी गई परन्तु वह स्वयम् सम्भाजी के प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शित करता रहा। सम्भाजी तथा पुर्तगालियों के बीच हुए युद्धों में भी उसने अत्यन्त कुशलता का प्रदर्शन किया था और इन्हीं कारणों से वह सम्भाजी का कृपापात्र बना हुआ था। सम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् उसने भी उन सरदारों का साथ दिया जो राजाराम के साथ गिंगी गए थे। एक बार जब कि राजाराम सहित अन्य सरदार छद्मवेष मारे-मारे फिर रहे थे और बेल्लारी का मुसलमान सूबेदार सन्देहवश इन लोगों को कैद करने करने की पूर्ण योजना बना चुका था कि इसी समय खण्डो बल्लाल को सम्भावित विपत्ति की भनक मिल गई। उसमें अत्यन्त उल्लेखनीय आत्मत्याग का परिचय देते हुए अपने साथियों को आगे भेज दिया और स्वयम् वहीं रुक गया। मुगल सूबेदार ने उसे कैद कर लिया और राजाराम आदि का पता पाने के लिए उसे अत्यन्त कठोर यंत्रणाएँ दीं परन्तु किसी भी प्रकार मुगल उसके हृदय की दृढ़ स्वामिभक्ति की भावना को हिला नहीं सके, और वह अडिग रहकर उनकी यातनाएँ सहन करता रहा। कुछ समय पश्चात्, जब राजाराम गिंगी के दुर्ग में बुरी तरह घिर गया तो खण्डो बल्लाल ने उसे दुर्ग में से सुरक्षित रूप से निकल भागने की व्यवस्था करने के लिए मुगल सेना के कुछ मराठा सरदारों को फोड़ कर अपनी ओर मिला लिया, और इस नई मित्रता को स्थायी बनाने के लिए उसने कोंकण में स्थिति अपने 'वतन' को भी मुगल सेना के इन मराठों के हाथ सौंप दिया। खण्डो बल्लाल चिटनीस वह दिन देखने के लिए भी जीवित रहा जब कि भूतपूर्व स्वामी सम्भाजी का पुत्र शाहू सतारा लौटा और

अपने पैतृक सिंहासन पर आसीन हुआ। इस स्वातन्त्र्य युद्ध में एक अन्य प्रभु सरदार ने गौरव और यश प्राप्त किया जिसका नाम था प्रयाग जी। जिस समय स्वयम् औरंगजेब ने मुगल सेना के साथ सतारा को आरा, प्रयागजी ने महीनों मुगल सेना की बाढ़ को रोक रखकर औरंगजेब को आश्चर्य में डाल दिया था।

उपरोक्त वर्णन में हमने उन प्रमुख ब्राह्मण मराठा एवं प्रभु सरदारों तथा देशभक्तों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त गम्भीर संकट रूपी प्रबल झंझावात के प्रबल प्रवाह में आशाध्रुव बनकर अडिग एवं अचल रहे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्राणपण से संघर्ष करने का दृढ़ संकल्प किया। जीवन पर्यन्त वे इतने व्यस्त रहे कि उन्हें चैन की साँस लेने का भी अवसर नहीं प्राप्त कर सके; इसी व्यस्तता के कारण जब वे दक्षिण में अपनी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करने में असमर्थ रहे तो वे और भी दक्षिण की ओर बढ़ गए और गिंगी को अपना प्रमुख केन्द्र बनाया। यहीं राजाराम ने अपने पिता के पदचिन्हों पर चलते हुए अष्ट प्रधानों की नियुक्ति की, यहीं उसका दरबार लगने लगा, और पूर्ण सत्ता-सम्पन्न राजा की भाँति उसने उन लोगों को इनाम तथा जागीर देना भी प्रारम्भ कर दिया जिन्होंने उसकी महत्त्वपूर्ण सेनाएँ की थीं, साथ ही मुगलों को देश से निकाल बाहर करने के लिए उसने अपने सेनानायकों को द्विगुणित उत्साह के साथ संघर्ष करने का आदेश दिया। स्थानीय सरदारों को भी पूर्ण अधिकार के साथ अपनी अपनी सेनाओं को संगठित करने तथा केवल हाल ही में मुगलों से जीते गए दक्षिण के छः प्रान्तों में ही नहीं बल्कि मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत स्थित पुराने प्रान्तों में भी चौथ और सर-देशमुखी वसूल करने का निर्देश दे दिया गया। मराठों के इन उपद्रवों को देखकर औरंगजेब को शीघ्र ही ही यह पता चल गया कि यदि वह शीघ्र ही गिंगी में स्थापित नए शक्ति-केन्द्र में एकत्रित मराठा सरदारों की संगठित शक्ति का दलन नहीं कर लेना तो उसकी पिछली दक्षिण विजय उसके लिए हानिप्रद ही सिद्ध होगी। दक्षिण में मराठों के साथ हुए युद्धों में जुल्फिकार खाँ ने

बहुत ख्याति प्राप्त की थी, और मुगल सेना में दक्षिण-विजेता के रूप में उसका बड़ा मान था, अतः औरंगजेब ने गिंगी पर घेरा डालने के लिए उसी को चुना; अनन्तः जुल्फिकार खाँ ने विशाल वाहिनी के साथ १६६१ में गिंगी के दुर्ग पर घेरा डाल दिया।

परन्तु गिंगी दुर्ग की किलेबन्दी अत्यन्त सुदृढ़ थी, और इस दुर्ग की रक्षा के लिए दो अत्यन्त वीर मराठा सरदारों को नियुक्त किया गया था जिनके नामों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सन्ताजी घोरपड़े और धनाजी जाधव ने इतनी कुशलतापूर्वक दुर्ग की प्रतिरक्षा की कि १६५८ के पहले जुफिकार खाँ दुर्ग पर अधिकार करने में सफल न हो सका, और अन्त में जब वह विजेता के रूप में दुर्ग में प्रविष्ठ हुआ तो वहाँ एक चिड़ियाँ भी न दिखाई पड़ी; जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, खण्डो-बल्लाल चिटनिस ने मुगल सेना के कुछ मराठा सरदारों से मिलकर राजाराम के निकल भागने का प्रबन्ध कर दिया था। पिछले वर्षों में मराठे इतने व्यस्त रहे थे कि उन्हें साँस लेने का अवसर भी नहीं मिला था जबकि उन्हें स्थिर होकर भविष्य के लिए योजना बना लेना बहुत आवश्यक प्रतीत हो रहा था। गिंगी के सात वर्षों के लम्बे घेरे के कारण उन्हें चैन से बैठने का अवसर मिला, और साथ ही उन्हें प्रत्यक्ष रूप से मुगलों की सुसंगठित शक्ति से मोर्चा लेने और अपनी शक्ति का अनुमान लगाने का अवसर भी प्राप्त हो गया। इतने दिनों तक औरंग-जेब की सेना ने दक्षिण में जो आतङ्क पूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया था, वह शीघ्र ही धुएँ की तरह छँटने लगा। गिंगी के घेरे के ही दौरान में दुर्ग की रक्षा का भार मराठा सेना के एक भाग पर छोड़कर धनाजी जाधव और सन्ताजी घोरपड़े दक्षिण की ओर लौट पड़े और अपने कुशल प्रयत्नों द्वारा शीघ्र ही शिवाजी के काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होनेवाले बारगीरों तथा सिलेदारों को एक ध्वजा के नीचे संगठित कर डाला। अभी तक उन सैनिकों के वेतन का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया जा सका था, परन्तु 'घासदाना' वसूल करने की प्रणाली कुछ इस ढंग से निश्चित की गई थी कि ये स्वयम् सेवक सैनिक

अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। गिंगी में नवीन केन्द्र की स्थापना के कुछ समय बाद से ही मराठों ने मुगल क्षेत्रों में लूटपाट करना शुरू कर दिया था और १६९१ तक मराठा सैनिकों के दलों ने नासिक, बेदर और बेदे तक धावा मारना प्रारम्भ कर दिया था। गिंगी पर घेरा पड़ जाने के पश्चात् १६९२ में 'रामचन्द्र पन्त ने भी विशालगढ़ को छोड़ दिया और दलबल सहित सतारा में अपना केन्द्र स्थापित किया। यहीं से उसने घाटमाथ क्षेत्र पर नियंत्रण रखना प्रारम्भ किया और उसके द्वारा भेजी गई एक सेना ने विभिन्न स्थानों पर तैनात अनेक मुगल टुकड़ियों को काट डाला। इसी प्रकार छिटपुट आक्रमण करते हुए उसने वाय, wai राजगढ़, पनहाला और राजगढ़ पर अधिकार कर लिया और उन स्थानों पर मराठा चौकियों की स्थापना करके उनकी रक्षा के लिए सैन्य दलों को तैनात कर दिया।

पवारों, चवाणों, थोराटों तथा आठवलों ने कतिपय अन्य अनुवर्ती युद्धों में सफलता प्राप्त करके गिंगी के दरबार में अपने लिए महत्वपूर्ण स्थान बना लिए। अन्ततः मराठों से परेशान होकर औरंगजेब ने अपना शिविर उठाकर भीमा नदी के पास केन्द्रित होना आवश्यक समझा, और अपने पुत्र, तथा मुख्य मंत्री असद खाँ को गिंगी के घेरे पर भेज दिया।

१६९४ में सन्ताजी घोरपड़े के नेतृत्व में मराठा सैनिकों ने औरंगजेब के शिविर के उत्तर में स्थित क्षेत्रों तक धावा करके लूटपाट मचाया; दूसरी तरफ रामचन्द्र पन्त ने अपने सैनिकों के साथ पश्चिम की ओर छेड़छाड़ मचाई और मुगलों को आतंकित करता हुआ शोलापुर तक बढ़ता चला गया। इस समय बरार और गंगाधड़ी में भी मुगल सम्राट की सेना पड़ी हुई थी जिसे त्रस्त करने के लिए १६९५ में सन्ताजी घोरपड़े ने परसोजी भोंसले और हयवतराव निम्बलकर को उस ओर रवाना कर दिया और स्वयं कर्नाटक की ओर बढ़ गया जहाँ पहुँचकर उसने कर्नाटक को घेरे हुए मुगल सेना पर अचानक सशक्त आक्रमण कर दिया और उनका पूर्णरूपेण विध्वंस कर डाला, इस आक्रमण में धनाजी जाधव ने भी सन्ताजी घोरपड़े के प्रयास को सफल बनाने के लिए मुगल सेना पर एक पार्श्व से आक्रमण कर

मुगलों की पराजय को पूर्णतया प्रदान की। इस प्रकार सन्ताजी और धनाजी ने मुगलों की जिस सेना को अस्त्र रखने पर विवश कर दिया उसका नेतृत्व असद खाँ कर रहा था; अन्त में, युद्ध का निर्णय हो जाने पर असद खाँ और सन्ता जी घोरपड़े के बीच एक सन्धि वार्ता प्रारम्भ हुई जिसके अनुसार कुछ शर्तों के पूरा किए जाने पर मुगल सेना को वापस लौट जाने देने का आश्वासन दिया गया। औरंगजेब ने असद खाँ द्वारा की गई इस सन्धि को पसन्द नहीं किया, अतः उसने अपने पुत्र को दिल्ली वापस बुला लिया और जुल्फिकार के नेतृत्व में एक नई सेना को कर्नाटक की ओर रवाना किया। चाहे जो कारण रहा हो, परन्तु कुछ समय तक मुगल सेना ने घेरे का कार्य स्थगित रक्खा। अब इस तरफ से मुक्त होकर सन्ताजी ने दूसरी योजना बनाई। इस समय मुगल सम्राट का शिविर बीजापुर में पड़ा हुआ था। अब सन्ता जी ने उसी दिशा में भ्रमण किया और औरंगजेब के सूबेदार कासिम खाँ 'दोदेरी' (Doderi) के निकट पराजित करके उसे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश कर दिया।

कासिम खाँ को पराजित करने के पश्चात् सन्ताजी ने एक अन्य मुगल सेनापति हिम्मतखाँ को भी चकमा देकर पराजित कर दिया। अन्त में १६६७ में गिंगी पर पुनः घेरा डाल दिया गया और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, राजाराम तथा उसके सहायक सरदारों के निकल भागने में सफल हो जाने के पश्चात् जनवरी १६६८ में गिंगी दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया! गिंगी से सुरक्षित रूप से निकल जाने के पश्चात् राजाराम सतारा में स्थित रामचन्द्र पन्त से जा मिला। धीरे-धीरे परसू भोंसले, हयबतरात निम्बलकर, नेमाजी शिन्दे, आठवले, समशेर बहादुर तथा अन्य प्रमुख सरदार मुगल क्षेत्रों से हटकर अपने देश में वापस लौट आए। अभी तक मुगल-मराठा युद्धों का मुख्य रंग-मंच था कर्नाटक तथा द्रविड़ देश, परन्तु अब युद्ध परिवर्तित हो गया, और मुख्य केन्द्र बना दक्षिणी पठार, परन्तु कर्नाटक तथा आसपास स्थित मराठा क्षेत्रों की सुरक्षा की दृष्टि से धनाजी जाधव उधर ही पड़ा रह गया। समुद्र-तट के पास स्थित दुर्ग हर प्रकार से स्वातंत्र्य युद्ध में मराठा पक्ष की सहायता करते रहे, और कान्हो जी अंग्रेज के नेतृत्व में मराठों के जहाजी बेड़े ने त्रावणकोर से लेकर बम्बई

तक समस्त तटीय प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया और समुद्र में आने जाने वाले जहाजों को लूटकर पर्याप्त धन एकत्रित किया। इस अवसर पर सावन्तों ने भी मराठों के साथ सहयोग किया।

१६६६ में राजाराम ने अपनी सम्पूर्ण सैन्य के साथ खानदेश में प्रवेश किया और चौथ तथा सरदेश मुखी वसूल करता हुआ गंगथड़ी, बएर तथा बागलन तक बढ़ता चला गया और प्रत्येक स्थान पर चौथ और सरदेशमुखी वसूल किया। जब वह सतारा वापस लौटने लगा तो उसने इन सूबों में अपने चार सरदारों को स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया बागलन में डाभोड़, खानदेश में शिन्दे, बरार में भोंसले तथा गंगथड़ी में निम्बलकर स्थायी रूप से रहने लगे।

सन् १६०० में औरंगजेब ने मराठों की बढ़ती हुई शक्ति का दमन करने के लिए उन समस्त दुर्गों पर अपना अधिकार स्थापित करने का निश्चय किया जो मराठों की सुरक्षात्मक योजना की पूर्ति में इतने लाभप्रद एवं उपयोगी सिद्ध हो रहे थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने जो सैन्य तैयार की, उसका संचालन भार उसने अपने ही हाथ में रक्खा, और जुल्फिकार खाँ को आदेश दिया कि वह मैदानी भागों में राजाराम की सेना के साथ छेड़छाड़ करें और अवसर पाकर मराठों को पराजित करने का यत्न करें। इस प्रकार मराठों को दोतरफा युद्धों में फँसाकर औरंगजेब ने अपनी योजनानुसार एक के बाद दुर्गों पर अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया, और अपनी इन बिजयों से उत्साहित होकर अन्त में उसने सतारा को भी घेर लिया। इस समय सतारा दुर्ग की रक्षा का भार प्रयागजी प्रभु पर था, जिसने अत्यन्त कुशलता तथा क्षमता के साथ पर्याप्त लम्बी अवधि तक मुगल सेना की प्रबल बाढ़ को अडिग दीवाल की भाँति आड़े रहा, परन्तु अन्त में सतारा पर भी मुगलों आधिपत्य स्थापित हो ही गया। लगभग इसी समय सिंहगढ़ में राजाराम की मृत्यु हो गई, और चूँकि शाहू अभी भी मुगलों की कैद में पड़ा हुआ था, अतः राजाराम के ज्येष्ठ पुत्र को— जिसकी आयु मात्र दस वर्ष की ही थी—मराठा राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया और रामचन्द्र पन्त पूर्ववत शासन-प्रबन्ध सम्भालता रहा। धनाजी जाधव को कर्नाटक से वापस बुला लिया गया और रामचन्द्र पन्त तथा धनाजी के नेतृत्व तथा निर्देशन में द्विगुणित

उत्साह से युद्ध होता रहा, और मराठ पूर्ववत पूरे देश में चौथ, सरदेश मुखी और घासदाना वसूल करते रहे। दूसरी तरफ मुगल सम्राट भी अपनी ही योजना को पूर्ण करने में व्यस्त रहा और अगले चार वर्षों तक वह मराठों के सामरिक महत्व के दुर्गों पर अधिकार करता चला गया। दो विपक्षियों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध की जाने-वाली इन कार्रवाइयों ने एक विचित्र वातावरण उत्पन्न कर दिया था। औरंगजेब मराठों के क्षेत्र में घुसा हुआ था जब कि किलों से भाग-भाग कर मराठे मैदानी भागों की ओर घेरते बढ़ते चले जा रहे थे; इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते मराठे खानदेश, बरार और गुजरात पर छा गए। मराठों के एक दल ने तो नर्मदा नदी को पार करके मालवा तक धावा किया और वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अन्त में १७०५ में औरंगजेब के प्रारम्भिक एवं सैनिक परामर्शदाताओं ने उसे परामर्श देना प्रारम्भ किया कि तत्कालीन परिस्थितियों में मराठों के साथ सन्धि कर लेना ही अधिक नीति पूर्ण होगा। प्रारम्भ में तो औरंगजेब सन्धि के लिए तैयार हो नहीं हुआ, परन्तु परि-स्थितियों को देखते हुए उसने भी ऐसा ही करना उचित समझा, और दक्षिण के छः मुगल सूबों में मराठों के सरदेशमुखी वसूल करने के दावे को उस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि उन क्षेत्रों में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व मराठों पर ही रहेगा। औरंगजेब ने मुगल सरदार के दो उच्च कालीन मराठा सरदारों शिन्दे और जाधव परिवारों की कथाओं से शाहू के विवाह की व्यवस्था भी की, और विवाह के दहेज के रूप में शाहू को अकालकोट, इन्दापुर-निवासी और बारामती, जागीर के तौर पर शाहू को दे दिए गए। परन्तु यह सन्धि अधिक काल तक न टिक सकी, क्योंकि मराठे अपनी माँगों को बढ़ाते ही चले गए। मुगलों के पक्ष से अत्यन्त उत्साह हीन ढंग से युद्ध प्रारम्भ हुआ, परन्तु मराठों का उत्साह बढ़ा हुआ था। उन्होंने पिमला पर पुनः अधिकार कर लिया और वहीं पर नए राजा शिवाजी (द्वितीय) एवं उसकी माता ताराबाई के निवास की व्यवस्था कर दी गई। इसी उत्साह में मराठों ने पावनगढ़, बसन्तगढ़, सिंहगढ़, राजगढ़, और सतारा पर भी अधिकार कर लिया और कुछ ही समय पश्चात् १७०७ में धनाजी जाधव ने पूना

और चाकण पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार औरंगजेब की सारी योजना पर मराठों ने पानी फेर दिया। अब औरंगजेब ने मराठों को परास्त करने का दूसरा उपाय सोचना प्रारम्भ किया। शाहू अभी तक औरंगजेब के ही शिविर में था। औरंगजेब ने शाहू को इस बात के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया कि वह स्वयम् को मराठों का राजा घोषित करते हुए अपने नाम से मराठा सरदारों को पत्र भेजकर उन्हें मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने का आदेश दें। मराठों को परास्त करने का एक यही अन्तिम अस्त्र रह गया था, और वह भी विफल हो गया। जब तक औरंगजेब जीवित रहा, शाहू की मुक्ति के लिए कोई भी प्रयत्न न किया जा सका, परन्तु मराठों के साथ सन्धि करने के प्रयत्नों तथा उसके परामर्श पर शाहू द्वारा मराठा सरदारों के नाम लिखे गए पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि औरंगजेब को इस तथ्य पर पूर्णरूप से विश्वास हो गया था कि मराठों के साथ उसने बीस वर्षों की लम्बी अवधि तक जो युद्ध छेड़े रक्खा; वह वास्तव में उसकी सबसे बड़ी भूल थी, और जहाँ तक मराठों का प्रश्न था उन्हें इस संघर्ष से कोई विशेष हानि नहीं उठानी पड़ी थी, बल्कि इस दृष्टि से उन्हें लाभ ही हुआ था कि उनके हृदय में स्वतन्त्रता की ज्वाला पूर्णरूप से प्रज्ज्वलित हो चली थी। मराठों ने मुगल सेना के अनेक आक्रमणों को विफल कर दिया था, और असंख्य मुगलों को मार डाला था। स्वयम् उसका शिविर मराठों द्वारा लूट लिया गया था और वह स्वयम् मुगलों के हाथ कैद होने से बाल-बाल बच गया था। जब अहमद नगर में औरंगजेब मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ था तो उसने अकारण ही यह बात नहीं कहीं थी कि वह अपने जीवन में कोई भी सफलता न प्राप्त कर सका। बेचारा मुगल सम्राट पश्चाताप पूर्ण तथा मग्न हृदय के साथ इस संसार में कूच कर गया, और उसकी अपूर्ण आशाओं तथा अकांक्षाओं की कसक मृत्यु पर्यन्त उसके हृदय में बनी रही।

औरंगजेब की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही जुल्फिकार खाँ के परामर्श से औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने शाहू को मुक्त कर

दिया, और उसके समक्ष यह प्रतिज्ञा भी की कि यदि मराठा सरदारों ने उसके अधिकार स्वीकार करके उसे अपना राज्य मान लिया तो गोदावरी और भीम नदियों के बीच स्थित क्षेत्रों को उसे जागीर के रूप में दे दिया जायगा, और साथ ही वह समस्त क्षेत्र भी शाहू को दे दिया जायगा जिसे 'स्वराज्य' कहा जाता था। और जिसे उसके पितामह शिवाजी ने बीजापुर के राजाओं से जीता था। अस्तु, शाहू के वापस लौटते ही मराठा सरदारों ने बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया; उन्होंने उसे अपना न्यायराजा स्वीकार किया और १७०८ में सतारा में इसका राज-भिषेक किया गया। अपने राज्यरोहण के पश्चात् कुछ वर्षों में ही शाहू उन समस्त क्षेत्रों का स्वामी बन गया जो मराठा देश में सम्मिलित थे; अपवाद के रूप में रह गया केवल कोल्हापुर, जिसे राजाराम के पुत्र के अधिकार में ही रहने दिया गया। दक्षिण में मुगल दरबार द्वारा नियुक्त सूबेदार ने दक्षिण में स्थित मुगल साम्राज्य के छः सूबों पर शाहू के चौथ और सरदेशमुखी वसूलने के दावे को मान्यता प्रदान की और अगले दस वर्षों के भीतर ही बालाजी विश्वनाथ पेशवा और खण्डेराव डाभाडे मुगल दरबार से चौथ और सरदेशमुखी तथा 'स्वराज्य' पर मराठों के अधिकार सम्बन्धी औपचारिक सनदें लेने में सफल हो गए।

इस प्रकार बीस वर्षों की लम्बी अवधि तक चलते रहने वाले स्वतन्त्र्य-संग्राम के घटना पूर्ण और रोचक नाटक का सुखान्त पराक्षेप हुआ। इस संग्राम से प्राप्त परिणामों पर एक निर्णार्थक की दृष्टि से विचार करने पर इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि स्वातंत्रय संग्राम के थे बीस वर्ष मराठा इतिहास के सर्वाधिक गौरवपूर्ण काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिवाजी के समक्ष मुगल साम्राज्य की समूची शक्ति के साथ विरुद्ध संघर्ष करने का अवसर कभी भी उपस्थित नहीं हुआ; तथ्य तो यह है कि जब औरंगजेब को राजपूत सेनापति राजा जयसिंह विशाल सेना के साथ महाराष्ट्र आया तो देश के विनाश की कल्पना से सिहर कर, महत्व आत्म-बलिदान का परिचय देते हुए शिवाजी ने मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली थी। आगे के घटनाक्रम के अनुसार

जब मुगलों तथा शिवाजी के बीच युद्ध प्रारम्भ हो ही गया तब भी उसे दक्षिण के दो शक्तिशाली रियासतों बीजापुर और गोलकुण्डा की सहायता प्राप्त थी, अतः उसे केवल अपनी शक्ति क बल पर ही मुगलों से युद्ध नहीं करना पड़ा। शिवाजी को एक सुविधा भी प्राप्त थी, और वह कि पर्वतीय दुर्गों के रूप में उसके लिए ऐसे सुदृढ़ एवं सुरक्षित स्थल विद्यमान थे जो लगभग अजेय थे। इन सभी तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह बात निर्विवाद है कि शिवाजी की मृत्यु शम्भाजी के पतन के पश्चात् जिन देश भक्तों ने पुनः स्वातन्त्रय युद्ध छेड़ा, शिवाजी की अपेक्षा उनके मार्ग कहीं अधिक बाधाएँ एवं कठिनाइयाँ थीं। उनके पास शिवाजी जैसा योग्य नेता नहीं था जिसके व्यक्तिगत चरित्र और आचरण में एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उसके सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा या अवहेलना नहीं कर पाता था। इस अभाव के साथ-साथ उन्हें समूची मुगल सेना से एक साथ युद्ध करना पड़ा, जिसका संचालन कर रहा था स्वयं औरंगजेब; जिसके लिए भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक के समस्त साधन सुलभ थे। सम्भाजी क्रूर स्वभाव एवं दुर्व्यवहारों के कारण मराठों के सर्वाधिक अनुभवी एवं कुशल सरदारों की हत्या कर डाली गई थी, और अव्यवस्थापूर्ण शासन-प्रवन्ध के कारण दुर्गों की दशा सुरक्षा की दृष्टि से शोचनीय हो चली। उनका न्याय राजा मुगलों की कैद में पड़ा था और मुगलों के आक्रमणों से त्रस्त होकर, घर बार छोड़कर उन्हें अपरिचित क्षेत्रों में शरण लेना पड़ा था। उनके पास न तो जागीरें थी, न धन, न सेना थी न अस्त्र, और न दुर्ग थे न कोई अन्य ससाधन; परन्तु फिर भी उन्होंने सैन्य संगठन किया, पुनः दुर्गों पर अधिकार किया; और विजयों की ऐसी शृंखला बना डाली कि न केवल स्वराज्य ही उनके अधिकार में आ गया बल्कि दक्षिण के मुगल सूबों और कर्नाटक से चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। एक अन्य असुविधा यह हुई कि राजाराम, प्रहलाद नीराजी, सन्ताजी घोरपड़े तथा स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ने वाले अन्य प्रमुख सरदार स्वातंत्र्य कार्य का अपूर्ण छोड़कर ही दिवंगत हो गए, परन्तु उनका स्थान टिक नहीं होने पाया और अन्य लोग उतनी ही कुशलता एवं निष्ठा के साथ स्वातंत्र्य युद्ध का सफल संचालन करते रहे। यदि औरंगजेब ने दक्षिण पर आक्रमण

करके युद्ध की ज्वाला को प्रोत्साहन न दिया होता तो बहुत सम्भ था कि तंन्जोर की तरह ही महाराष्ट्र के पश्चिमी भाग में एक छोटे से राज्य की स्थापना हुई होती और मुगल बादशाह इस छोटे से राज्य के स्वामी को अपने दरबार के बड़े सामन्तों की श्रेणी में ला बिठाने में सफल हो जाता। यदि सम्पूर्ण देश में, युद्ध छिड़ जाने के कारण, स्वतंत्र्य-चेतना की लहर न दौड़ गई होती तो सम्भव था कि शिवाजी का प्रभाव व्यक्तिगत ही रह जाता और उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरी पीढ़ी पुनः आलस्य के सुखायक अंक में स्वप्नमग्न हो जाती; पार्थक्यवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति उनके ऊपर छा जाती और सारा संगठन छिन्न-भिन्न हो जाता जिसका अन्तिम परिणाम यह होता कि मराठा राष्ट्र का निर्माण एक स्वप्न की भाँति ही कल्पनालोक में ही विश्राम करता।

यदि ये सभी सम्भावनाएँ मात्र सम्भावनाएँ ही रह गई, और दासता की श्रृंखला में बद्ध जनता में एक नई आशा, शक्ति एवं चेतना का संचार हुआ, तो इसका सारा श्रेय औरंगजेब की महत्वाकांक्षा को दिया जाना चाहिए। अपनी तथा अपने पूर्वाधिकारियों की चिर-संचित अभिलाषा की पूर्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न आरम्भ कर औरंगजेब ने महाराष्ट्र के निवासियों की स्वातंत्र्य चेतना को उनके अंतर तम की अन्तिम गहराई तक झकझोर डाला; और वह इन बीस वर्षों की लम्बी अवधि के संघर्ष के फलस्वरूप प्राप्त दृढ़ अनुशासन का ही प्रभाव था जिसने उनके नेताओं की राष्ट्रवादी एवं देशभक्ति की प्रवृत्तियों को अडिग बना दिया और वे प्रबलतम झंझावतों के तीव्रतम प्रवाह में नीचे अचल ध्रुव की भाँति स्थिर रहे, और स्वतंत्रता के प्रति अटूट निष्ठा के कारण ही मराठे अगली तीन पीढ़ियों तक अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करते रहे, और भारत के कोने-कोने में अपनी विजय पताका फहराते चले गए। उपरोक्त विवेचन के अनुसार हमें यह कहने में जरा भी संकोच नहीं करना चाहिए कि उस स्वातंत्र्य युद्ध ने उस प्रारम्भिक युद्ध से भी अधिक देश-सेवा की और नवजागरण का शंखनाद किया जिसे शिवाजी ने प्रेरित एवं संचालित किया था और अपने घटनापूर्ण एवं साहसिक कृत्यों से भरे हुए जीवन की अंतिम साँस तक अबोध गति से जारी रक्खा था। अब तक पाठकों के समक्ष यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि केवल चोर, लुटेरे और

बटमार एक ऐसे युद्ध में, और एक ऐसे शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध इतनी अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकते थे। जिस शक्ति ने राष्ट्र के उस काल के श्रेष्ठतम एवं योग्यतम व्यक्तियों के श्रेष्ठतम गुणों-साहस, नेतृत्व, उच्च-सहिष्णुता, प्रशासनिक क्षमता, प्रत्येक असफलता एवं निराशा के साथ पड़नेवाली आशावादिता, ध्रुव के समान अचल एवं अडिग निष्ठा, एक उच्च आदर्श के प्रति अटूट विश्वास जो देश, काल, एवं व्यक्ति के बन्धनों से मुक्त था, सामान्य विपत्ति में मातृत्व की भावना, सामन्य हित के लिए पूर्ण आत्मबलिदान तथा पारस्परिक समझौते की भावना, और अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता का विश्वास, क्योंकि उनका उद्देश्य धर्म पर आधारित था—को प्रेरणा देकर जन-सामान्य के उद्धार के लिए उत्तेजित किया वह एक उच्चतर नैतिक शक्ति थी, यह स्पष्ट है। यही वे गुण थे जिनसे विभूषित देशभक्तों ने एक ऐसी निरंकुश शक्ति द्वारा अपने देश पर फेंकी गई दासता की श्रृंखला को छिन्न-भिन्न कर डाला था जिसका सामना करने का साहस भारत की कोई भी शक्ति नहीं कर सकती थी। इस प्रकार मराठा इतिहास के इन बीस वर्षों का घटनाक्रम एक ऐसी पाठ-शाला है जहाँ उपरोक्त गुणों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त हो सकती है। यह काल हमें ऐसा दृढ़ अनुशासन का प्रशिक्षण प्रदान करता है, जो किसी भी देश को स्वतंत्र बनाए रखने के लिए आवश्यक है और अकेला यही तथ्य ऐसा है जिसके कारण हम इस बीस वर्षीय स्वातंत्र्य युद्ध को मराठा इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण और उल्लेखनीय काल मान सकते हैं।

दसवाँ अध्याय

प्रलय के पश्चात् सुव्यवस्था कैसे आई

जैसा कि गत अध्याय में लिखा जा चुका है मराठों के बीस वर्षीय स्वातंत्र्य संग्राम के पराक्षेय के साथ ही मुगलों की कैद से शाहू की मुक्ति हुई, वह मराठों के मान्य नेता के रूप में दक्षिण वापस लौटा और महाराष्ट्र में एकता और संगठन की स्थिति को बनाए रखकर अपने पितामह के पदचिन्हों का अनुसरण करने तथा उसकी नीतियों का पालन करने के उच्च उद्देश्य के साथ मराठा राज्य के सिंहासन पर सन् १७०८ में आसीन हुआ। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि जिन उद्देश्यों को लेकर मुगल सम्राट की विशाल वाहिनी के विरुद्ध राजाराम तथा उसके सहयोगियों ने जो स्वतंत्र्य युद्ध छेड़ा था उनकी प्राप्ति पूर्णरूप से हो गई, परन्तु जिन अनुवर्ती सरदारों ने एकाकी युद्ध किया था और मुगलों के साथ अपनी शक्ति परीक्षा ली थी उनके अन्तस्थल में भयंकर और वीररस जलधि की उत्ताल तरंगों की भाँति प्रवाहित होने लगा; उनमें से लगभग प्रत्येक सरदार परिस्थिति वश इतना स्वेच्छाचारी हो गया था कि अब राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी वह अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का परित्याग करने के लिए स्वयं को तैयार नहीं कर पा रहा था। मराठा सरदारों की इस मनोभावना ने देश का वातावरण इतना अव्यवस्थित एवं असंतुलित बना दिया कि अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई और आगे के कुछ वर्षों तक देश में पुनः शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित होने के कोई भी लक्षण परिलक्षित नहीं हुए। जिस भावना द्वारा मराठा सरदारों को एक सामान्य तथा बहुजन हिताय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एकता तथा संगठन की प्रेरणा प्राप्त हुई थी, परन्तु जब मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु हो गई तथा मुगल सेनाओं के अव्यवस्थित हो जाने के कारण स्वातंत्र्य युद्ध के विभिन्न सरदारों के ऊपर प्रतिबन्ध लगाने वाली शक्ति लगभग समाप्त हो चली तो यह भावना मराठा

सरदारों को पूर्ववत संगठनबद्ध रखने में असफलता सिद्ध हुई। शाहू की वापसी के पश्चात् सारी सूत्रबद्धता जिस प्रकार विच्छिन्न हो गई उससे यही प्रतीत होने लगा मानों मुगल सम्राट के परामर्शदाताओं ने शाहू को मुक्त कराकर और सतारा भेज कर एक दोहरा जाल फेंका था--एक तरफ तो प्रकट रूप से उन्होंने शाहू को मुक्त कर के मराठों की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की थी और मराठों की राष्ट्रीय भावना का सम्मान किया था परन्तु दूसरी तरफ अप्रकट रूप से उन्होंने शाहू की मराठा सरदारों में फूट और विद्वेष का बीज बोने का मंत्र देकर मराठों के सर्वनाश का षडयंत्र रचा था। जो सरदार राजाराम के अनुवर्ती रह चुके थे उनमें से अनेक ने शाहू की वापसी पर कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं की, न उसका स्वागत ही किया, उन्होंने शाहू के राज्यारोहण का भी विरोध करते हुए राजाराम की पत्नी ताराबाई तथा उसके पुत्र का पक्ष ग्रहण किया। मराठा सरदारों में दो प्रमुख व्यक्ति जो राजाराम के शासन काल में पन्त सचिव एवं पन्त अमात्य के पदों पर नियुक्त थे—प्रत्यक्ष रूप से शाहू के विरुद्ध हो गए। राजाराम द्वारा स्थापित स्वातंत्र्य दल के केवल एक उल्लेखनीय सरदार ने ताराबाई के विरुद्ध शाहू का पक्ष ग्रहण किया था। यह सरदार था, धना श्री जाधव जिसे शाहू के दावे का विरोध करने के लिए भेजा गया था। परन्तु जब उसे इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया कि वास्तव में शाहू ही मराठा राज्य का न्याय उत्तराधिकारी है; तो उसका मत साहू के पक्ष में परिवर्तित हो गया। धनाजी जाधव का प्रबलतम प्रतिद्वन्दी था सन्ता जी घोरपड़े, जिसे म्हासवड़ के माने देश मुखों ने अत्यन्त छल से आक्रमण करके क्रूरता पूर्वक मार डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी इसके तीन पुत्रों ने अपने ही बल पर कर्नाटक में मुगलों के विरुद्ध युद्ध छेड़े रक्खा। शाहू की वापसी तथा उसके राज्यारोहण के पश्चात् धनाजी जाधव भी अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। उसका पुत्र चन्द्रसेन जाधव अत्यधिक स्वेच्छाचारी था; उसमें वह दूरदर्शिता और कूटनीति रंचमात्र भी नहीं थी जिसके बल पर उसका पिता राजाराम द्वारा संचालित स्वातंत्र्य युद्ध के लिए संगठित राष्ट्रीय सेना के प्रमुख सेनापति के पद पर पहुँचने में सफल हो सका था। एक बार वह भावी पेशवा बाला जी विश्वनाथ के साथ शिकार पर गया जहाँ एक छोटी सी बात पर

वह बालाजी से झगड़ बैठा और अन्त में इस साधारण सी बात ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया कि चन्द्रसेन शाहू की सेना से अलग हो गया। सतारा से वह कोल्हापुर चला गया और कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् हैदराबाद के निजाम के दरबार में आश्रय ग्रहण किया इस प्रकार धना जी जाधव जैसे महान देशभक्त सरदार के पुत्र की सेवाओं से देश बंचित हो गया। कुछ प्रभावशाली सरदारों ने अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे, उदाहरण के लिए खण्डेराव डाभाडे खान देश में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना रहा था, साथ ही गुजरात पर भी आँख गड़ाए बैठा था। नेमाजी शिन्दे राजाराम के विश्वस्त सेनानायकों में से एक था परन्तु शाहू के शासनकाल के प्रारम्भ में ही सम्भवतः वह मुगलों की सेना में सम्मिलित हो गया था। खण्डेराव डाभाडे को ही भाँति परसो जी भोंसले भी अपना अलग राज्य स्थापित करने के प्रयास में व्यस्त था और बरार तथा गोंड़वाना को अपना प्रमुख केन्द्र बना रक्खा था। परसो जी भोंसले तथा खण्डेराव डाभाडे दोनों ही शाहू के पक्ष में थे, और बिना अपने निजी स्वार्थों एवं हितों को कोई हानि पहुँचाए वे ताराबाई के विरुद्ध शाहू का हाथ मजबूत कर रहे थे। हयबतराव निम्बलकर ने भी गंगथड़ी में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और दोनों नावों पर पैर रखे हुए था। शीघ्र ही शाहू को सन्देह हो गया कि वह ताराबाई से मिला हुआ है अतः उसे पदच्युत कर दिया गया और उसने निजाम दरबार में आश्रय प्राप्त किया। इस प्रकार महाराष्ट्र के प्रथम श्रेणी के समस्त सरदार शाहू ताराबाई तथा निजामके बीच बराबर-बराबर बँटे हुए थे। द्वितीय श्रेणी के मराठा सरदारों में कान्होंजी आंग्रे ताराबाई के पक्ष में था और इस समय तक कोंकण में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हो चुका था। उसी प्रकार थोराट चवरण तथा आठवले परिवारों के सरदार भी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के प्रयत्नों में व्यस्त थे। जिस समय सतारा में शाहू का राज्याभिषेक हो रहा था, इनमें से प्रथम दो परिवारों ने शाहू के विरोध में अत्यधिक उपद्रव मचाया था और हर प्रकार से बाधा डालने का प्रयास किया था। उन्होंने हर क्षेत्र में लूटपाट मचाना तथा आतंक फैलाना प्रारम्भ कर दिया; भूत कालीन समस्त

मान्यताओं एवं परम्पराओं को मानो चुनौती देते हुए, उन्होंने केन्द्रीय शक्ति द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले अधिकारों का उपहास करने के लिए स्वयं ही चौथ और घासदाना के दावे प्रस्तुत किए। इसी श्रेणी में एक अन्य ब्राह्मण दस्यु था जिसे मुगल सूबेदार ने अपने मनोरंजन के लिए महाराजा की उपाधि दे डाली थी। अब यह दस्यु महाराजा सतारा से बीस मील की दूरी पर खटाव नामक स्थान पर केन्द्रित हो गया और राजाओं की तरह दरबार लगाने लगा। इस प्रकार विभिन्न सरदारों की महत्वाकांक्षाओं के परिणामस्वरूप शाहू की राज्यसीमा उसकी राजधानी तथा कुछ दुर्गों तक ही सीमित रह गई जिनमें सुरक्षा के लिए कुछ सैन्यदल रहते थे।

जिस समय शाहू सतारा में अपने पितामह के सिंहासन पर आसीन हुआ, उस समय महाराष्ट्र राजनैतिक वातावरण इसी प्रकार की समस्याओं से आच्छादित था, और शाहू के मन्त्रियों को इन समस्याओं के निराकरण के प्रयत्नों को ही प्राथमिक महत्व देना पड़ा। जो दीर्घकालीन स्वातंत्र्य युद्ध इतनी सफलता पूर्वक समाप्त हुआ था उसके चिन्ह अब भी सर्वत्र व्याप्त खलबली, अशान्ति एवं अव्यवस्था के रूप में अब भी दिखाई पड़ रहे थे, जो कि इस युद्ध के स्वाभाविक परिणाम थे। यह बात नहीं कि मराठों में शक्ति या वीरता का अभाव हो गया था, वास्तव में अभाव था एक ऐसे प्रेरक और उत्तेजक सामान्य उद्देश्य का जिसने युद्धकाल में समस्त महाराष्ट्र के सरदारों को सूत्रबद्ध कर डाला था। अब हमे शाहू की व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर भी दृष्टिपात करना चहिए जिसके हाथ में इस समय शासन सूत्र था। शाहू के जीवन के सर्वोत्तम वर्ष मुगलों की कैद में व्यतीत हुए थे और यद्यपि कैद से अपनी मुक्ति के अन्तिम वर्षों में शाहू के ऊपर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं रह गया था फिर भी उस पर मुगलों के तौरतरीकों एवं आदतों का बहुत प्रभाव पड़ा था। उसका व्यवहार एवं आचरण पर्याप्त अंशों में मुगल अमीरों की भाँति था जिनके बीच में वह इतने समय तक रहा था। मराठों में मुसलमानों, विशेषकर मुगलों के प्रति हार्दिक घृणा व्याप्त थी जिससे न उसके पिता मुक्त थे, न पितामह, परन्तु मुगलों के प्रति उतनी ही मात्रा में घृणा अथवा विद्वेष की आशा

शाहू से नहीं की जा सकती थी। शाहू मुगल-दरबार में रह चुका था और उनके साथ सहानुभूति भी रखता था। यदि मुगल-दरबार में उसे साम्राज्य के उच्च श्रेणी के सामन्तों में उसे स्थान मिल जाता तो सम्भवतः वह मुगलों के साथ सन्धि कर लेता। व्यक्तिगत रूप से वीर था तथा मस्तिष्क एवं हृदय के अन्यान्य गुणों से भी विभूषित था, परन्तु अपने पितामह से उत्तराधिकार में उसे वह संगठन की प्रतिभा तथा प्राणपण से कार्यरत हो जाने की प्रवृत्ति नहीं प्राप्त हुई थी और इस समय अराजकता, अशान्ति तथा अव्यवस्था के स्थान पर शक्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना के लिए प्रमुख रूप से इन्हीं दो गुणों की आवश्यकता थी। दक्षिण के कुछ इने-गिने पर्वतीय दुर्गों को छोड़कर महाराष्ट्र के शेष लगभग समस्त भू-भाग अब भी मुगल सेनापतियों के अधिकार में थे, और यद्यपि औरंगजेब की मृत्यु से मुगल सेना की व्यवस्था ढीली हो गई थी और अनुशासनहीनता बढ़ चली थी, परन्तु फिर भी मराठों का दमन करने के लिए मुगल सेना पूर्व समर्थ थी।

इस समय के महाराष्ट्र के राजनैतिक वातावरण की दृष्टि से, शाहू की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों में वह योग्यता नहीं थी कि वह व्याप्त अराजकता को मिटाने के लिए कोई नीति निर्धारित कर सकता अथवा बिना किसी अन्य मस्तिष्क की सहायता के सफलता प्राप्त-कर सकता। उसके सेनानायकों एवं परामर्शदाताओं में से किसी में भी वह दूर दृष्टि या प्रतिभा नहीं थी जो कि तत्कालीन परिस्थितियों की माँग के अनुसार आवश्यक थी पारस्परिक ईर्ष्या, प्रीतिद्वन्दिता एवं व्याप्त भ्रमजाल के कारण मराठा सरदारों को एकता की सूत्र में बाँधने वाली शृंखला छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि अब मराठा किसी भी लक्ष्य की प्रप्ति के लिए संगठित प्रयत्न करने के योग्य नहीं रह गए थे। शाहू के शासन काल के प्रारंभिक वर्षों में ऐसा प्रतीत होने लगा कि शाहू की मुक्ति के साथ जुल्फिकार खाँ ने फूट और विद्रोह का जो बीज बोया था, वह अब फल देने के लिए तैयार हो गया था। इस प्रकार मुगलों को जो स्वर्ण अवसर मिला था, उसका लाभ उन्होंने तुरन्त नहीं उठाया और मराठा राज्य के और निर्बल होने को राह देखते रहे; परन्तु जैसा कि आगे की घटनाओं से प्रकट

होगा, मुगलों की चाल पूरी न हो सकी; जिस समय शाहू के हाथ में मराठा शक्ति बिखरी जा रही थी उसी समय कुछ ऐसे प्रतिभावान व्यक्ति सतारा आ पहुँचे जिसमें इस बिगड़ती हुई परिस्थिति को सँभाल लेने भी सामर्थ्य थी, सौभाग्य से उन व्यक्तियों ने शाहू का ध्यान अपनी प्रतिभा की ओर आकर्षित कर लिया और राज्य की सेवा करने का अवसर प्राप्त किया।

इस समय देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापनाके लिए केवल शक्ति या साहस की ही आवश्यकता नहीं थी, देश में शक्ति एवं साहस का तो अभाव था ही नहीं; इस समय तो आवश्यक थी संगठन को प्रतिभा और दूर दृष्टि से भरपुर देश भक्ति की भावना की। इस समय प्रभंजन में भटकते हुए देश की जलयान को एक ऐसे संचालक की आवश्यकता थी जो यान के विभिन्न यंत्रों को एक अनुपात में सन्तुलित रख सके; एक ऐसे संगठनकर्त्ता की आवश्यकता थी जो विभिन्न सरदारों के मध्य उगे विद्वेष एवं प्रतिद्वन्दिता के पौधों को जड़ से उखाड़ फेके और उनमें मातृभाव का संचार कर सके, जो कि उनके समक्ष यह स्पष्ट कर सके कि उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे अपने व्यक्तिगत गौरव के लिए प्रयत्न करें, बल्कि उनकी कीर्ति तो इस बात से स्थायी एवं अमर रहेगी कि उन्होंने उन परम्पराओं एवं मान्यताओं को एक क्षण के लिए भी उपेक्षित नहीं होने दिया जिन्हें पचास वर्ष पूर्व शिवाजी ने अपने देशवासियों के लिए स्थायी सम्पत्ति के रूप में छोड़ गया था। इस समय जो व्यक्ति शान्ति एवं व्यवस्था की उच्च कामना लेकर सामने आए उनमें सर्वाधिक प्रतिभाशाली था बालाजी विश्वनाथ, जिसने शीघ्र ही, समस्त तथा देशभक्ति द्वारा उन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकाला जो देश की स्वतन्त्रता को ग्रस लेने के लिए राहु-केतु के समान मुख फैलाए हुए थे; उसने उस कार्य को पूरा कर दिखाया जिसे असम्भव की संज्ञा दी जाने लगी थी। बालाजी विश्वनाथ ने पेशवा होने के पश्चात् सर्वप्रथम जन-साधारण के जान माल की सुरक्षा का प्रबन्ध करने तथा देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय का प्रयोग किया।

इसने उस अराजकतापूर्ण स्थिति को समाप्त करने का दृढ़ संकल्प किया जिसके लिए जनता पर मनमाना अत्याचार करने वाले दस्यु उत्तरदायी थे उनके उपद्रव सीमा पार कर चुके थे और उन्होंने समस्त देश का वातावरण आतंकमय बना डाला था। ऐसे लोगों में सर्वाधिक प्रबल दस्यु था खटाव का ब्राह्मण, जिसे मुगल सूबेदार द्वारा महाराजा की पदवी प्राप्त हुई थी। उसको पराजित करने के लिए परशुराम त्र्यम्बक के पुत्र को भेजा गया जिसे शाहू का नया प्रतिनिधि नियुक्त किया गया था। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि पुराने सचिव ने शाहू के विरुद्ध ताराबाई का पक्ष ग्रहण किया था। इसी समय जब कि बालाजी देश में पुनः सुव्यवस्था लाने के प्रयास में व्यस्त था, अचानक इस सचिव की मृत्यु हो गई; और उसके पुत्र की आयु कम होने के कारण इस छोटे सचिव की माँ ही सारा कार्यभार सम्भालने लगी जिसे बालाजी विश्वनाथ ने उस संगठन में सम्मिलित होने के लिए तैयार कर लिया जो देश की सुरक्षा बना रहा था। अब थोराट की बारी आई जिस पर बालाजी विश्वनाथ ने स्वयं आक्रमण कर दिया परन्तु दुर्भाग्यवश थोराट ने छलपूर्वक उसे कैद कर लिया; और अन्त में शाहू ने थोराट को पर्याप्त धन देकर उसे मुक्त कराया। इसके पश्चात् नए सचिव की सेना को थोराट पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया परन्तु थोराट ने उसे पराजित कर दिया। अब अत्यन्त उत्तेजित होकर बालाजी विश्वनाथ ने इस दस्यु को पराजित करने के लिए बड़े पैमाने पर तैयारी की और अन्त में उसे पराजित करके उसके दुर्ग को धूल में मिला देने में सफल हो गया। चवाण सरदार के उपद्रव भी बढ़े हुए थे; पेशवा ने उसे कुछ प्रलोभन देकर तथा कुछ सुविधाएँ प्रदान करके अपने पक्ष में मिला लिया। इसके पश्चात् पुराने पेशवा बहिरोपन्त पिंगले के माध्यम से कान्होंजी आँग्रे के साथ भी सन्धि वार्ता प्रारंभ की गई, परंतु यह वार्ता असफलता में ही समाप्त हुई। अब शाहू ने अंग्रेजी को अपने पक्ष में खींचने का भार बालाजी विश्वनाथ को सौंपा। जिसने आँग्रे की देश भक्ति की भावना को उत्तेजित करते हुए उसे ताराबाई के पक्ष का त्याग करने के लिए तैयारकरलिया। इसी समय कोल्हापुर के राजा की मृत्यु हो गई और रामचन्द्र पन्त

ने राजाराम की छोटी पत्नी के पुत्र को कोल्हापुर के रिक्त सिंहासन पर आसीन करने का निश्चय किया। ताराबाई ने इस परिवर्तन का विरोध किया और शासन भार अपने ही हाथ में रखने का प्रयास किया परंतु पुराने पन्त अमात्य रामचन्द्र पन्त ने उसके विरोध का सामना किया और ताराबाई को समस्त शक्तियों एवं अधिकारों से च्युत करके कारागार में डाल दिया। इस प्रकार निरंतर घटना क्रम को अपने प्रमुख व्यक्तियों की सहमति से अपने लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। राष्ट्र की दशा से चिन्तित देश भक्तों ने उसे देखते ही स्वीकार कर लिया कि वही ऐसा व्यक्ति था जिसमें उस समय की दृष्टि से राष्ट्र की स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक समस्त गुणों का समावेश था। उसका एक साथी पहले से ही धनाजी जाधव की सेवा में कारकुन के पद पर नियुक्त था; इस व्यक्ति का नाम था आबाजी पुरन्दरे; जो कि पुरन्दरे परिवार का संस्थापक था। धनाजी जाधव आबाजी पर बहुत विश्वास करता था, और आबाजी की ही सहायता से अपने जीवन के प्रारंभ में बालाजी विश्वनाथ ने अपने कारकुन के पद पर धनाजी के अधीन नियुक्ति प्राप्त की थी। ये दोनों कारकुन धनाजी जाधव के मुख्य प्रशासनिक परामर्शदाता थे, उनमें से एक कोंकणस्थ तथा दूसरा देशास्थ ब्राह्मण था। दक्षिणी ब्राह्मणों ने बहुत पूर्व से ही शिवाजी के राज्य-क्षेत्र तथा शक्ति के संगठन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया था तथा उनमें से अनेक ने विभिन्न युद्धों में उल्लेखनीय योग्यता तथा वीरता का प्रदर्शन किया था। ऐसे दक्षिणी ब्राह्मणों में हनुमन्ते, तथा पिंगले परिवार आबाजी सोनदेव, प्रहलाद नीराजी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके विपरीत कोंकणस्थ ब्राह्मणों ने मराठा शक्ति के विकास के प्रारम्भिक साठ वर्षों में राजनीति तथा सैनिक व्यवसाय में कोई विशेष रुचि नहीं लिया था; न कोई उल्लेखनीय कार्य ही किया था। परन्तु अब जब उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने तथा अपनी योग्यताओं से लाभ उठाने को विस्तृत क्षेत्र एवं उपयुक्त अवसर देखा तो, उनके वर्ग के गुणसम्पन्न तथा योग्य व्यक्ति भी देश सेवा करने के साथ-साथ अपना भाग्य चमकाने के ध्येय से इस दिशा

में आकर्षित हुए। जिन व्यक्तियों ने इस प्रकार अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए कोंकण छोड़कर सतारा की राह ली, बालाजी विश्वनाथ भी उनमें से एक था, और इस यात्रा में वह अकेला ही नहीं था, बल्कि भानु परिवार का संस्थापक भी उसके साथ था जो जन्जीरा के सिद्धियों के अत्याचारों से त्रस्त होकर अपना घर छोड़ने पर विवश हुआ था। अस्तु, जब शाहू के दक्षिण आगमन का विरोध करने के लिए ताराबाई ने धनाजी जाधव को सतारा भेजा तो बालाजी विश्वनाथ तथा आबाजी पुरन्दरे ने भी अपने स्वामी का साथ दिया। अपनी मृत्यु के पूर्व ही धनाजी जाधव ने अपने इन दोनों कारकुनों की ओर अपने नए राजा शाहू का ध्यान आकर्षित कराया। धीरे धीरे बालाजी विश्वनाथ ने अपनी प्रतिभा द्वारा शाहू की कृपा प्राप्त कर ली और शाहू का प्रमुख परामर्शदाता बन बैठा। उसके उद्योग एवं चातुर्य से प्रभावित होकर उसने शीघ्र ही उसे क्रियात्मक रूप से मुख्य मंत्री के समस्त अधिकार सौंप दिया यद्यपि वैधानिक ढंग से उसे मुख्य मंत्री का पद नहीं दिया गया। कुछ ही समय, जब शाहू अपने बृद्ध पेशवा बहिरोपन्त पिंगले के कार्यों को असन्तोषनक समझने लगा। तो उसने इस पद के लिए बालाजी विश्वनाथजा को ही चुना और इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ को कारकुन से पेशवा बनते कोई बहुत लम्बा समय नहीं लगा। बालाजी ही ऐस व्यक्ति था जिसकी प्रशंसा करते हुए यह कहा जा चुका है कि उसने अपनी प्रतिभा की ही पक्ष में घूमते देखकर शाहू ने अनुभव किया कि जिस समय बालाजी विश्वनाथ तथा उसके सहयोगियों ने उसकी सेना में प्रवेश किया था, राज्य की परिस्थितियाँ बहुत सीमा तक सुधर गई थी और उनके अमूल्य तथा नीतिपूर्ण परामर्शों के अनुसार हुए कार्यों से देश में तथा अन्यत्र भी उसकी तथा मराठा राज्य की प्रतिष्ठा तीव्रगति से बढ़ती ही जा रही थी।

यद्यपि बालाजी विश्वनाथ ने कुछ प्रारम्भिक समस्याओं को हल कर लिया था और देश का वातावरण बहुत सीमा तक शान्त तथा सुव्यवस्थित हो गया था, परन्तु अभी भी उसके लिए बहुत सारी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना शेष था। अभी तक प्रभावशाली मराठा सरदार केन्द्रीय शक्ति को कोई विशेष महत्व नहीं देते

थे और स्वतन्त्र राजाओं जैसा व्यवहार करते थे। अब उसने इन प्रभावशाली सरदारों तथा राजा शाहू के बीच अच्छे एवं सह-अस्तित्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में अपना ध्यान आकर्षित किया। ये मराठा सरदार इतने शक्तिशाली थे कि युद्ध या छल द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता था। अतः बालाजी विश्वनाथ ने केन्द्रीय शक्ति के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति एवं आदरका भाव उत्पन्न करने के लिए उनकी प्रकृतिगत उच्चतर भावनाओं कों उत्तेजित करने का प्रयास आरम्भ किया। उसने उनके हृदय में इस बात को जमाने का प्रयास किया उनके नीजी हितों तथा मराठा संघ एवं सम्पूर्ण देश के हितों में कोई विरोधाभास नहीं है; यदि वे संगठित होकर देश की शक्ति को बढ़ाए रहे तो वे भी महान और शक्तिशाली बने रहेगे परन्तु यदि उन्होंने अपने को अपने साथियों, एवं देश के हितों से अपने को पृथक कर लिया तो उन्हें किसी भी विपत्ति का सामना अकेले ही रहकर करना पड़ेगा जिसमें उनका सर्वनाश असम्भव नहीं होगा। इन बड़े सरदारों के हृदय से देशभक्ति की भावना रंचमात्र भी कम न हो सकी थी अतः उनके हृदय पर शाहू के प्रतिनिधि के रूप में बालाजी विश्वनाथ की इस स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण वक्तृता का प्रत्याशित प्रभाव पड़ा। इस समय तक प्रभावशाली मराठा सरदारों में से चन्द्रसेन जाधव एवं तथा निम्बलकर पहले ही मराठा संघ से नाता तोड़कर हैदराबाद के निजाम के दरबार से गठबन्धन कर चुके थे परन्तु खण्डेराव डाभाडे ऊदाजी राव, परसोजी भोंसले प्रभृति जिन अन्य सरदारों ने प्रारम्भ में अपने भाग्य को शाहू के उत्कर्ष की आशा में उसकी सहायता करके दाँव पर लगा दिया था, उन पर बालाजी विश्वानाथ की देशभक्ति पूर्ण अपील का पूर्ण प्रभाव पड़ा, जिसके द्वारा की गई व्यवस्थाओं से इन सरदारोंके साथ ही प्रारम्भिक अष्टं प्रधानमण्डल के दो अन्य प्रमुख सदस्यों-पन्त सचिव एवं पन्त प्रतिनिधि के हृदय में भी यह तथ्य जड़ जमाकर बैठ गया कि मराठा संघ के सभी सदस्यों की सामान्य एकता में ही उनके हितों की रक्षा सम्भव है। स्वतन्त्र्य युद्धमें महत्वपूर्ण भाग लेने तथा शाहू के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में मराठा राज्य की उल्लेखनीय सेनाओं के मूल्य के रूप में इस समय तक खण्डेराव डाभाडे को सेनापति का पद देकरसम्मानित किया जा चुका था।

उसी प्रकार अन्य प्रभावशाली मराठा सरदारों को भी सम्मान देकर अपने पक्ष में मिला लेने के उद्देश्य से परसो जी भोंसले को सेना साहेब सूबा का पद देकर सन्तुष्ट किया गया। इन दोनों सरदारों ने खानदेश एवं बरार के जिन क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था, उनमें उन्हें मराठा राज्य की ओर से स्वतंत्र सत्ता का उपभोग करने का अधिकार भी दे दिया गया साथ ही पश्चिम में गुजरात और पूरब में गोंआना तक के क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित करने का मार्ग भी वैधानिक रूप से उनके लिए खुला छोड़ दिया गया और उन्हें विश्वास दिलाया गया कि उक्त क्षेत्रों में भविष्य में प्राप्त होने वाली सफलताओं से लाभ उठाने का अधिकार भी उन्हीं को होगा।

ऊदाजी पँवार मालवा पर आँख गड़ाए बैठा था, और उसी दिशा में अपना पाँव पसारने के लिए प्रयत्नशील था, और उसने भी डाभाडे एवं भोंसले की भाँति मालवा पर अधिकार करने की महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने की अनुमति माराठा राज्य से प्राप्त कर ली। इन तीनों प्रभावशाली सरदारों से शाहू के प्रतिनिधि के रूप में पेशवा बाला जी विश्वनाथ ने प्रतिज्ञा की कि यदि वे पारस्परिक सहयोग की भावना से अपनी संगठित शक्ति के साथ केन्द्रीय सत्ता को इच्छित सहायता देते रहे तो मराठा राज्य द्वारा विभिन्न प्रान्तों पर उन्हें प्रदत्त अधिकारों पर मुगल साम्राट की वैधानिक स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त भी कर ली जायगी। दक्षिण में कर्नाटक की ओर मराठा-राज्य की विजय पताका फहराने के लिए अकालकोट के फत्तेसिंह को भी शाहू की उस सेना का सेनापति बना दिया गया जो कर्नाटक-अभियान के लिए संगठित की गई थी। पुराने पन्त प्रतिनिधि ने स्वातंत्र्य युद्ध में देश की अनेक महत्वपूर्ण सेवाएँ की थीं; तथा उसके पुत्र ने भी कोल्हापुर, खटाव के कथित महाराजा तथा कोंकण में सिद्दियों के विरुद्ध हुए युद्धोंमें शाहू तथा मराठा-राज्यके प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन किया था, अतः उनकी सेनाओं के पुरस्कार स्वरूप वार्ना एवं नीरा नदियों के बीच स्थित राजा शाहू के अधिकृत क्षेत्रों का प्रबन्ध भार उन्हें सौंपकर सन्तुष्ट किया गया। कान्होजी आग्रे को को मराठा राज्य की जलसेना का प्रमुख सेनापति का पद देकर सम्मानित किया गया, और कोंकण तट के जो दुर्ग उसके अधिकार में थे,

उन पर उसके स्वामित्व को मान्यता प्रदान कर दी गई। गोविन्द राव चिटनिस भी युद्धकाल में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ था अतः उसे भी सेना में एक उच्च पद पर नियुक्त कर दिया गया। इस ढंग से समस्त सम्भाव्य सुविधाओं एवं शक्ति को प्रभावशाली सरदारों के बीच एक उचित अनुपात से वितरित कर दिया गया जब कि स्वयं बालाजी विश्वनाथ ने अपने लिए आवश्यकता से अधिक कुछ भी नहीं रक्खा; वह शाहू का प्रमुख परामर्शदाता बनकर ही सन्तुष्ट रहा; उसने अपने सैनिक अधिकारों को भी केवल उन क्षेत्रों तक ही सीमित रक्खा जो राजा शाहू के अधिकार में, खानदेश एवं बालघार में स्थित थे, जिनसे न तो उसे धन ही, मिल सकता था, न शक्ति। मराठा शक्ति को पुनः एकता के सूत्र में बद्ध करने वाले इस प्रतिभाशाली पेशवा के चरित्र की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता थी उसकी निःस्वार्थपरता तथा लोभ से मुक्ति और अपने इस गुण के कारण उसे अपनी उस नीति के मार्ग पर सफलता पूर्वक चलने में प्रर्याप्त सीमा तक सहायता प्राप्त हुई जिसे उसने ऐसे सरदारों को संगठन के सूत्र में बाँधने की दृष्टि से निर्धारित किया था जिन्हें वह देश की सामान्य प्रतिरक्षा तथा राज्य के सीमा बिस्तार के लिए सूत्रबद्ध करना अति आवश्यक समझता था। अपने इन देशभक्तिपूर्ण भावनाओं एवं कार्यों के फलस्वरूप ही शाहू की सेवा में नियुक्त होने के समय के दस वर्षों के भीतर ही बालाजी विश्वनाथ राष्ट्र को सहअस्तित्वपूर्ण संगठन प्रदान करने, तथा पार्थक्य को प्रोत्साहित करने वाले तत्वों का विनाश करने में प्रर्याप्त अंशों तक सफल हो गया, जो कुछ ही वर्ष पूर्व मराठा शक्ति को विगठित कर सकने की सामर्थ्य रखते थे। बालाजी विश्वनाथ की राजनैतिक एवं कूटनिति प्रतिभा को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि वे मुगल सेनापति एवं दिल्ली दरबार के वजीर, जो अपने निजी स्वार्थों एवं हितों की प्राप्ति के लिए परस्पर संघर्ष में उलझे हुए थे, शीघ्र ही राजा शाहू के प्रति वैसे ही सम्मान का प्रदर्शन करने लगे जैसा कि शिवाजी तथा उसके बीर सेनापतियों के प्रति किया जाता था, और कुछ ही समय पश्चात् मुगल दरबार का प्रत्येक असन्तुष्ट अमीर और सरदार अपने स्वार्थों की प्राप्ति के लिए मराठा दरबार से सहायता की याचना करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगा। इस प्रकार शीघ्र ही दिल्ली तक मराठों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा।

इस ढंग से बालाजी की प्रतिभा के फलस्वरूप मराठा शक्ति का प्रभाव-क्षेत्र इस सीमा तक विस्तृत हो गया कि शिवाजी के राज्यारोहण के पश्चात् स्थापित की गई प्रशासनिक व्यवस्था उस नए वातावरण में अनुपयुक्त प्रतीत होने लगी तथा परिस्थितियों के साथ पूर्ण सहयोग करने के लिए शिवाजी द्वारा निर्धारित प्रशासनिक नीतियों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा पीछे के एक अध्याय में शिवाजी द्वारा प्रशांसनिक सुविधा के लिए स्थापित किया गया अष्टप्रधान मण्डल तथा उसके प्रमुख अंगों, तथा उनके महत्व के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है हम यह भी देख चुके हैं कि सम्भाजी की दोषपूर्ण तथा अक्षम शासन व्यवस्था तथा उसकी निर्बलता एवं असतर्कता के फलस्वरूप हुई औरंगजेब की दक्षिण-विजय के कारण शिवाजी द्वारा निर्धारित व्यवस्था पूर्णतः समाप्त हो गई। राजाराम ने अपने गिंगी के दरबार में अपने पिता को बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न अवश्य किया था, परन्तु उसके जीवनपर्यन्त युद्धों तथा उलझनों में ही फँसे रहने के कारण, तथा देश के युद्धमय वातावरण के कारण पुराने ही मार्ग पर इस भूतकालीन व्यवस्था के संचालन की आशा की हो नहीं जा सकती थी। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यही आवश्यक था कि समस्त सत्ता शक्तिशाली हाथों में सौंप दी जाय, चाहे वह सत्ता प्रशासनिक हो अथवा सैनिक-सम्बन्धी, और किसी भी मूल्य पर यह कार्य किया ही जाना आवश्यक था। गिंगी के उल्लेखनीय घेरे के घटनापूर्ण वर्षों में प्रहलाद नीराजी ने मराठा सेनाओं के समस्त अंगों एवं समितियों पर अत्यन्त ही योग्यतापूर्वक नियंत्रण बनाए रक्खा और उसकी मृत्यु के पश्चात् जब राजाराम दक्षिण लौटा तो वह युद्ध-संबंधी समस्याओं में इस बुरी तरह से उलझा हुआ था कि वह प्रशासंनिक व्यवस्था में, इच्छा रहने पर भी, आवश्यक सुधार करने का अवसर ही नहीं पा सका जिसका फल यह हुआ कि जब राजाराम द्वारा संचालित स्वातंत्र्य युद्ध समाप्त हुआ तो अष्ट प्रधान मंडलीय व्यवस्था का कोई भी अवशेष न रह गया था। मुगलों के पंजों से मुक्ति के पश्चात् जब शाहू सतारा में अपने पैतृक सिंहासन पर आसीन हुआ

तो समस्त विभागों के अध्यक्षों की प्रारम्भिक समिति को पुनर्संगठित करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु शिवाजी के काल की अपेक्षा परिस्थितियों में इतना अधिक परिवर्तन हो चुका था कि उक्त व्यवस्था को नवीन परिस्थियों के अनुपयुक्त समझा जाने लगा। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि शिवाजी ने अष्ट प्रधान मण्डल का संगठन करने में अतीव दूरदर्शिता का परिचय दिया था, परन्तु इस व्यवस्था को लागू करने के लिए एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार का संगठन पहली आवश्यकता थी। पाठक यह देख ही चुके हैं कि सम्भा जी की अदूरदर्शिता तथा राजाराम के संघर्षरत रहने के कारण व्यवस्थित सरकार का संगठन तो हो नहीं सका था; और नवीन व्यवस्था में पुरानी परम्पराओं एवं पुराने सविधान के सफलता पूर्वक लागू होने की आशा करना ही व्यर्थ था। इसके साथ ही शाहू में अपने पितामह जैसी प्रशासनिक प्रतिभा भी नहीं थी, न ही वह राष्ट्र के सभी वर्गों में अपने प्रति उतना प्रेम व विश्वास जगाने की ही शक्ति रखता था जो कि शिवाजी की सफलता का मुख्य आधार थी। अष्ट प्रधान प्रणाली के सफलता पूर्वक न लागू होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि शिवाजो ने इस व्यवस्था का आयोजन एक छोटे और सुसंगठित राज्य को दृष्टि में रखकर किया था, और ऐसे ही राज्य में व्यवस्था भी सफल हो सकती थी, परन्तु शाहु के शासन काल में, अगणित युद्धों के फल स्वरूप मराठे नर्वदा और कावेरी नदियों के बीच स्थित समस्त क्षेत्र पर छा गए थे, साथ ही विभिन्न मराठा सरदार हर दिशा से समस्त मुगल शक्ति से घिरे हुए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी पृथक सत्ता स्थापित किए बैठे थे, और ऐसी परिस्थितियों में उन व्यवस्थाओं की सफलता अत्यन्त सन्दिग्ध थी जिन्हें एक सीमित और सुसंगठित राज्य के लिए निर्मित किया गया था अतः यह स्वभाविक ही था कि अष्ट प्रधान मण्डलीय व्यवस्था असफल एवं महत्वहीन हो गई।

बालाजी विश्वनाथ ने अपनी स्वाभाविक दूरदृष्टि से शीघ्र ही सारी परिस्थिति समझ ली, और उसने अपनी व्यवस्था को भी बदली एवं बदलती हुई दशाओं के अनुसार परिवर्तित कर लिया। शाहू के सतारा स्थित दरबार में अब भी अष्ट प्रधानों का अस्तित्व बना हुआ था, और उन्हे यथोचित सम्मान भी प्राप्त था, परन्तु उनके हाथों में

शक्ति या अधिकार जैसी कोई भी वस्तु नहीं रह गई थी और यदि रह भी गई थी तो नाम मात्र को ही, जब भी केन्द्र की तरफ से सरदारों के प्रति या मुगलों के विरुद्ध कोई नियंत्रक चरण उठाया गया, उदाहरण के लिए खानदेश में डाभाडे की सेनाओं तथा बरार में भोंसले की विजयों के प्रति अथवा मुख्य महाराष्ट्र की सीमाओं से परे पूरब और दक्षिण में मुगल सूबेदारों से युद्ध करते समय-मराठा नीति अथवा सेना का संचालन वास्तविक रूप से इन अष्ट प्रधानों में से किसी के भी हाथ में नहीं छोड़ा गया था। पार्थकवादी तत्व मराठा देश में प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रभावशाली थे साथ ही लगातार होनेवाले युद्धों एवं परिणामों ने इन तत्वों को अतिरिक्त प्रोत्साहन ही नहीं दिया था बल्कि देश वासियों के उन गुणों एवं विशेषताओं की जड़ को भी कमजोर कर दिया था जिनके ऊपर केन्द्रीय प्रशासन की सफलता निर्भर थी। बालाजी विश्वनाथ ने अपनी प्रतिभापूर्ण नीति कुशलता से तुरन्त अनुभव किया कि इन परिस्थितियों में अव्यवस्थित राज्य प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए एक ही व्यवस्था के द्वारा सफलता सम्भाव्य थी, और वह थी, एक ऐसे सुदृढ़ संघ का निर्माण जिसमें सभी प्रमुख सरदार सम्मिलित हों और जो विदेशी शक्तियों के आक्रमणों अथवा विरोधों के विरुद्ध शिवाजी की परम्पराओं के अनुसार एकता के सूत्र में बद्ध रहें परन्तु अपने अधीनस्थ क्षेत्रों के आन्तरिक प्रबन्ध एवं नियंत्रण में वे स्वतंत्र शासको की भाँति आचरण कर सकें, परन्तु ध्यान रक्खें कि उनके किसी भी कार्य, नीति अथवा व्यवहार से संघ के हितों को कोई हानि न पहुँचे। बालाजी विश्वनाथ की दृष्टि में केवल यही उपाय ऐसा था जिससे उन प्रभावशाली सरदारों को संगठनबद्ध रक्खा जा सकता था जिन्होंने अपने ही स्रोतों एवं संसाधनों के बल पर, अपनी प्राकृतिक एवं राजनैतिक सीमाओं से परे देश के विभिन्न भागों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। मराठा राज्य का मुख्य क्षेत्र हर दिशा से मुगल सूबेदार द्वारा घिरा हुआ था, इसकी सीमाओं सावनूर हैदराबाद, गुजरात और मालवा आदि में मुगल साम्राज्य के प्रान्तीय केन्द्र स्थित थे जब कि पश्चिम में तट की ओर सिद्दियों, पुर्तगालियों एवं अंग्रेजों का प्रभाव था। इस प्रकार हर दिशा में घेरे हुए शत्रुओं से राज्य की रक्षा तभी

सम्भव थी, जब कि सर्वत्र बिखरे हुए मराठा सरदारों को संघबद्ध कर लिया जाता, एवं उनके बीच में शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाता, सामान्य हितों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिनमें कि उनमें से प्रत्येक रूचि लेता—वे अवश्य पूर्ण उत्साह के साथ सहयोग देते जैसा कि उन्होंने अनेक बार किया भी और इस प्रकार एक पूर्ण संगठित शक्ति का प्रदर्शन करते परन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि वे अपने प्रभाव क्षेत्रों की सीमा में आन्तरिक अधिकारों का पूर्ण एवं हस्तक्षेप विहीन प्रयोग करने की सुविधा भी प्राप्त कर लेते, इस ढंग से इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि जब तक वे पुरातन परम्पराओं को सम्मान की दृष्टि से देखते रहते तब तक यह संघ प्रत्येक दृष्टि से सुदृढ एवं सुसंगठित बना रहता। बालाजी विश्वनाथ एवं उसके सहयोगियों ने इन परिस्थितियों को स्वीकार किया एवं उनका सामना करने के लिए कटिबद्ध हो गए। भूतपूर्व अष्ट प्रधान व्यवस्था को तिलांजलि दे दी गई एवं उसके स्थान पर एक पूर्णतः संगठित मराठा संघ का निर्माण किया गया जो आगे के सौ वर्षों तक सम्पूर्ण भारतवर्ष की राजनैतिक घटनाओं का मुख्य नियंत्रक एवं संचालक बना रहा।

बालाजी विश्वनाथ द्वारा निर्मित इस मराठा संघ ने अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, यह बात इसी एक तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि इस संघ ने मूलतः नियोजित लक्ष्यों की पूर्ति में ही सफलता नहीं प्राप्त की बल्कि उसने सौ वर्षों से भी अधिक समय तक गम्भीरतम परिस्थितियों एवं आपत्तियों का अत्यन्त धैर्य एवं कुशलता से सामना किया एवं सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय पताका फहराई। इसी संघबद्ध शक्ति से मराठों ने गुजरात, मालवा, बुन्देल खण्ड, उड़ीसा, गोंडवाना, नेमाड, और कर्नाटक, लाँघते हुए तुङ्गभद्रा तक अपनी विजय दुन्दुभी बजाया। इसी संघ के बल पर उन्होंने राजपूताना के सभी राज्यों के कार्य कलापों पर अपना नियंत्रण रक्खा, दिल्ली के मुगल दरबार के भाग्य-विधाता बने रहे और अपने हितों एवं अपनी सुविधा के अनुसार मुगल सम्राटों को उठाते गिराते रहे। इस संघ की ही सहायता से एक तरफ तो मराठों ने सिन्ध के तट तक विजयनाद किया और दूसरी

तरफ पूर्वोत्तर में बंगाल, उड़ीसा और अवध के नवाबों पर अपना प्रभाव स्थापित किया, हैदराबाद के निजाम तथा सावनूर एवं कर्नाटक के नवाबों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों की सीमा का पुनर्निर्धारण किया और बाद में हैदरअली व उसके बेटे टीपू सुल्तान की बढ़ती हुई शक्ति को नियंत्रित किया। बसईं से पुर्तगालियों को मार भगाने और अंग्रेजों से समान स्तर पर दो उल्लेखनीय युद्धों में उनका सम्मान अक्षुण्ण रखने में भी इसी संघ शक्ति ने मराठों की सहायता की। यद्यपि पानीपत के ऐतिहासिक युद्‌ध में मराठा राज्य की जड़ तक को हिला दिया था, परन्तु संघ के प्रभाव से ही मराठों ने अपनी शक्ति का पुनर्संगठन किया, पुनः अपना प्रभाव बढ़ाया तथा दिल्ली और उत्तरी भारत तक पुनः सिंहनाद किया. और यदि सौ वर्षों तक के लम्बे परीक्षण काल में निरन्तर सफल प्रदर्शन करने के पश्चात् यदि यह संघीय व्यवस्था असफल ही सिद्‌ध हुई तो उसका कारण भी इसी तथ्य में निहित था कि मराठा राज्य के स्वर्णकाल में जो परम्पराएँ इस संघ में सम्मिलित विभिन्न शक्तियों की नीतियों का पथ प्रदर्शन करती रही थी; उन परम्पराओं का अस्तित्व संघ के विभिन्न स्तम्भों द्वारा अपनी निजी प्रगति एवं हितों की प्राप्ति के प्रयत्नों में विलीन हो गया और उनके अन्तरतम से संघीय भावना का लोप हो गया। मराठा संघ की शक्ति एवं दृढ़ता का प्रदर्शन उस सफलताओं द्वारा हुआ जो उन सौ वर्षों के लम्बे काल में लड़े गए युद्‌धों में मराठों को प्राप्त हुई थी, और यह पूर्णतः स्पष्ट है कि भूतपूर्व अष्टप्रधान मंडलीय व्यवस्था द्वारा मराठा राज्य को उल्लेखनीय प्रगति एवं उत्कर्ष की उच्चतर सीमा तक पहुँचने में भी इतनी अधिक सफलता नही मिल सकती थी।

परन्तु संघबद्धता के कारण प्राप्त शक्ति में ही निर्बलता का एक स्रोत भी हुआ था, और यह भी सत्य है कि निर्बलता के इस स्रोत के प्रति, बालाजी विश्वनाथ, उसके सहयोगियों तथा उनके उत्तराधिकारियों से अधिक जागरूक कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। बालाजी विश्वनाथ के हृदय में, संघ की योजना बनाते समय ही यह भावना दृढ़ हो गई थी कि यह संघबद्ध शक्ति एक अत्यन्त पतले धागे से बँधी हुई थी और यदि एक सर्वमान्य परम्परा एवं देशभक्ति की भावना का

प्रभाव निर्बल पड़ते ही यह धागा टूट कर समस्त संघ-स्तम्भों को बिखर जा सकता था। बालाजी विश्वनाथ की प्रतिभा ने इसका समाधान भी ढूँढ़ निकाला; उसकी प्रमुख विशेषता यह तथ्य में निहित है कि जब कि उसने अपनी समकालीन पार्थक्यवादी परिस्थितियों को स्वीकार किया, तब भी वह इसके दोषों के प्रति भी सदैव जागरुक रहा। यह तो निश्चित ही था कि परिवर्तित परिस्थितियों में अष्ट प्रधान प्रणाली को पुनर्जन्म नहीं दिया जा सकता था अतः उसके स्थानापन्न के रूप में संगठन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नए बन्धनों को खोज निकाला जो इस परिवर्तित शासन प्रणाली के दोषों के प्रभाव को कर सकने की सामर्थ्य रखते थे। उसके द्वारा नियोजित नवीन प्रशासन नीति के मुख्य अंगों का संक्षिप्त अध्ययन हम निम्नलिखित क्रम से कर सकते हैं: (१) संघ के विभिन्न स्तम्भों को संगठित रखने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व था शिवाजी द्वारा स्थापित देशभक्ति की परम्परा, तथा शिवाजी के प्रपौत्र शाहू के व्यक्तित्व एवं पद के प्रति मराठा सरदारों में सम्मान का भाव। उन चालीस वर्षों की अवधि में, जिसमें कि मराठा राज्य के प्रमुख के रूप में शाहू सतारा के सिंहासन पर विराजमान रहा, वह प्रत्येक सरदार से आयु एवं पद के अनुसार यथोचित स्नेह तथा सम्मान प्राप्त करता रहा। बालाजी विश्वनाथ ने अपनी सामर्थ्य भर इस बन्धन को प्रबलतम बनाने का प्रयत्न किया जिसमें संघ के विभिन्न सदस्यों को एक सूत्र में बाँध रखने की शक्ति थी। प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारियों को प्रदान की जानेवाली प्रत्येक 'सनद' पर शाहू का नाम होना आवश्यक था, और उसी के आदेश से विभिन्न सेवाओं के पुरस्कार के रूप में उपाधियों एवं सम्मानपूर्ण पदों को वितरित किया जा सकता था। देश में प्रचलित सिक्कों पर भी शाहू का ही नाम रहता था। संघीय सदस्यों तथा अन्य शक्तियों के बीच होनेवाली प्रत्येक सन्धि उसी के नाम से की जा सकती थी, और उनके प्रत्येक अभियान का सन्धिकारिक विवरण शाहू के पास पहुँचाना आवश्यक था। (२) शाहू में निहित इस केन्द्रीय शक्ति के अतिरिक्त मराठा संघ को एकता के सूत्र में बद्ध रखने वाला दूसरा प्रमुख था शक्ति के सन्तुलन की भावना, जो विभिन्न संघीय सदस्यों के बीच विकेन्द्रित कर दी गई थी, और जिनके पारस्परिक विवादों में शाहू की मध्यस्थता एवं उसके निर्णय को ही

सर्वमान्य एवं न्यायपूर्ण समझा जाता था। बालाजी विश्वनाथ के समय में पेशवा को अधिक सैनिक शक्ति नहीं दी गई थी; यद्यपि वह समस्त प्रशासनिक एवं सैनिक विषयों में राजा का मुख्य परामर्शदाता होता था, परन्तु उसके अधीन सैनिकों की संख्या नगण्य होती थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् अन्य दो पेशवाओं के काल में जब अन्य सैनिक अधिकारियों के महत्व को कम करते हुए पेशवा के सैनिक अधिकारों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया गया तो उससे परिस्थिति कुछ संकटमय हो उठी, और बालाजी विश्वनाथ के समय में स्थापित शक्ति का सन्तुलन बिगड़ गया। बंगाल एवं गंगाघाटी के महत्वपूर्ण युद्धों में पेशवा एक तरफ हो गया, पश्चिमी तट पर गायकवाड़ तथा डाभाडे ने अपना अलग गुट बना लिया और नागपुर के भोंसले का मत भी अनिश्चित हो गया, और अन्त में संघीय संगठन को अक्षुण्ण रखने के लिए शाहू को हस्तक्षेप करना पड़ा। इसी प्रकार कुछ समय पश्चात् प्रभावशाली शिन्धिया और होलकर परिवारों में भी प्रतिद्वन्दिता एवं वैमनस्य का सूत्रपात हुआ; वे परस्पर संघर्ष तो करते ही रहे, साथ ही पेशवा, गायकवाड़ तथा भोंसले से भी उनका व्यवहार मित्रतापूर्ण नहीं रह गया। अन्त में जब उनके निरन्तर संघर्षों एवं विवादों से संघ-शक्ति के विच्छिन्न हो जाने, एवं शक्ति का सन्तुलन बिगड़ जाने की स्थिति उत्पन्न हो गई, तो इस सन्तुलन को बनाए रखने के लिए पुनः वैसे ही प्रयत्न किए गए। डाभाडे तथा उनके उत्तराधिकारी गायकवाड़, पेशवा और उनके अधीनस्थ मुख्य सैन्याधिकारी, शिन्धया होलकर और बाद में बुन्देले, विंचूरकर तथा पटवर्धन—इन समस्त प्रभावशाली शक्तियों ने केवल इस आशा से एक साथ, संगठित रूप से निरन्तर सौ वर्षों तक कार्य किया कि उनके संघ की विभिन्न शक्तियाँ एक दूसरे के अधिकारों के प्रति सम्मान का भाव रखकर, तथा किसी एक ही अंग के अत्यधिक विकास की चेष्टा न करके संघ, तथा साथ ही अपने सर्वनाश का अवसर नहीं उपस्थित होने देंगे। इन सौ वर्षों में मराठा संघ के इतिहास की सर्वाधिक रोचक विशेषता ही है पारस्परिक सहयोग एवं एक दूसरे के अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना। मराठा संघ में सम्मिलित इन विभिन्न शक्तियों के बीच समानता का भाव स्थापित करने के लिए 'सनदों' तथा संधियों का प्रयोग किया जाता था, और बालाजी विश्वनाथ एवं दिल्ली के मुगल सम्राटों के

बीच हुई प्रसिद्ध ऐतिहासिक सन्धि में इस समानाधिकार का सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रमाण मिलता है जब दो प्रमुख मराठा नरेशों ने अपने राजा के प्रतिनिधि के रूप में मुगल सम्राट को विश्वास दिलाया था कि उनके तथा सम्राट के बीच निर्णीत शर्तों का पालन पेशवा भी करेगा, और यदि पेशवा ने अपना बचन तोड़कर उनके सन्धि सम्बन्धी अधिकारों को चुनौती दी तो वे भी पेशवा का साथ छोड़ देंगे। इस प्रकार इस संघ की प्राथमिक भावना ही यही थी कि इसके विभिन्न सदस्य, सभी के हितों को दृष्टिपथ में रखते हुए पूर्व निर्धारित शक्ति का सन्तुलन बनाए रक्खेंगे। यही वह भावना थी जिसके प्रभाव से यह संघ अनेक पीढ़ियों तक शक्तिशाली एवं सुदृढ़ बना रहा।

(३) भावना एवं देशभक्ति के धागों से मराठा संघ की एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने में सहायक उपर्युक्त दो बन्धनों के अतिरिक्त बालाजी विश्वनाथ ने एक अन्य दृष्टिकोण से भी अत्यन्त सतर्कता एवं दूरदृष्टि का परिचय दिया। उसने संघ के विभिन्न सदस्यों को और भी दृढ़तापूर्वक सूत्रबद्ध करने के लिए उसने ऐसी व्यवस्था कर दी कि अपने कर्त्तव्यों को ईमानदारी से पूरा करने पर ही उनक हितों की पूर्ति भी सम्भव हो सकती थी; उनके भौतिक और राजनैतिक हितों की प्राप्ति उनक कर्त्तव्यपालन की क्षमता पर ही आधारित कर दी गई। जब उसकी कुशल कूटनीति की सफलता के प्रमाण रूप में जब बालाजी विश्वनाथ ने दक्षिण क प्रान्तों से चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार पर दिल्ली के मुगल सम्राट की मान्यता प्राप्त कर ली तो ऐसी व्यवस्था की गई कि 'बाबतिस' वसूल करने का यह कार्य शाहू के अष्ट प्रधान-मंडल के दो प्रमुख सदस्यों तथा स्वयं पेशवा के बीच वितरित कर दिया जाय, और यह वितरण इस ढंग एवं अनुपात से किया जाय ताकि आन्तरिक संघर्ष की किसी भी सम्भावना को प्रोत्साहन न मिल सके। इस व्यवस्था के अनुसार राजा का 'बाबतिस' वसूल करने का कार्य भिन्न-भिन्न अनुपात में प्रतिनिधि, पेशवा एवं पन्त सचिव के सम्मिलित उत्तरदायित्व पर छोड़ दिया गया, तथा इस कार्य के लिए जो क्षेत्र उन्हें सौंपे गए, वे उनके प्रभाव क्षेत्र से दूर स्थित थे। सिद्धान्ततः यही प्रणाली उस समय भी अपनाई जाती रही जब कि दक्षिणी प्रान्तों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों से भी चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार मराठा-राज्य को मिल गया। शक्ति का वितरण

करते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा गया था कि समस्त संघीय सदस्यों के हित परस्पर सम्बन्धित हों और राष्ट्र को प्राप्त किसी भी लाभ या सुविधा में सबका समान भाग रहे।

(४) यद्यपि विभिन्न प्रभावशाली मराठा सरदारों ने विभिन्न क्षेत्रों में अपना प्रभाव केन्द्र स्थापित कर लिया था परन्तु राज्य की तरफ से उन्हें जो भूमि वतन और 'इनाम' के रूप में प्रदान की गई थी वह मुख्य महाराष्ट्र भूमि में ही स्थित थी। इस प्रकार उसके प्रभाव क्षेत्रों से दूर स्थित इन क्षेत्रों से उनका सम्बन्ध बना रहता था और इसी सम्बन्ध के मोहस्वरूप वे केन्द्रीय शक्ति के प्रति भी स्वामिभक्ति की भावना रखते थे चूँकि इनाम और वतन के रूप में प्राप्त ये क्षेत्र उनकी पारिवारिक सम्पत्ति बन चुकी थी, अतः पूर्ण निष्ठासे राज्य की सेवा करके वे इन क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहते थे साथ ही यह भी जानते थे कि मराठा राज्य की सुरक्षा में ही उनके इन निजी क्षेत्रों की सुरक्षा भी सम्भव है।

(५) इन आर्थिक और राजनैतिक हिस्सों से सम्बन्धित एकता के बन्धनों के अतिरिक्त समस्त मराठा सरदार अपने प्रशासन क्षेत्रों के वार्षिक आय व्यय का विवरण राज्यकोष में प्रस्तुत करने के लिए बाध्य थे। विभिन्न संघीय सदस्यों के आर्थिक विवरण का हिसाब रखने के लिए एक विशेष फड़नीस अथवा सचिवालय विभाग की व्यवस्था की गई थी जहाँ इन विवरणों की जाँच की जाती थी, एवं आवश्यक परामर्श तथा निर्देश दिये जाते थे।

(६) कन्द्रीय कोष तथा लेखा-निरीक्षण ('फड़नीस') विभाग के अतिरिक्त किलों या सेना के प्रत्येक छोटे बड़े अधिकारी और सरदार के साथ, उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिए ऐसे विश्वस्त कर्मचारी नियुक्त रहते थे जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय शक्ति द्वारा की जाती थी। ये कर्मचारी एक प्रकार से इन सैनिक अधिकारियों तथा दुर्गाधिपतियों के लेखा निरीक्षक का कार्यभार सम्भालते थे, और जब उनके निरीक्षण के अन्तर्गत सरदार का हिसाब वार्षिक जाँच के लिए जमा होता था। तो ये कर्मचारी ही केन्द्रीय अधिकारी के समक्ष उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार प्रत्येक सरदार के पास अपना एक प्रतिनिधि रखती थी और उनसे आशा की जाती थी कि वे अपने सम्बन्धित

क्षेत्रों में बरती जाने वाली अनियमितताओं तथा शिकायतों की रिपोर्ट केन्द्रिय सरकार तक पहुँचती थी। इन सूचना देने वाले कर्मचारियों को 'दरकदार' कहा जाता था। जो 'दरकदार' बड़े सरदारों के साथ रहते थे उन्हें दीवान, मुजुमदार या फड़नीस, कहा जाता था और जो छोटे सरदारों या दुर्गरक्षक सरदारों के साथ रहते थे, उन्हें सबनीस चीटनीस जमीदार और कारखान्नीस कहा जाता था, और उनका कार्यक्षेत्र केवल हिसाब-किताब और लेखा निरीक्षण तक ही सिमित रहता था। स्थानीय सैनिक अधिकारियों के आय-व्यय का विवरण रखने का अधिकार केवल उन्हीं कर्मचारियों को रहता था, और केन्द्र के विभागीय प्रधान की स्वीकृति के बिना उन्हें अपदस्थ नहीं किया जा सकता था।

इन उपायों से बालाजी विश्वनाथ ने शाहू के अधीन सहित संघीय सरकार की नई शासन-प्रणाली के दोषों को अन्तिम सीमा तक समाप्त करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया, और जीवन पर्यन्त इस संघ को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्नों में प्राणपण से व्यस्त रहा; उसे विश्वास था कि जब तक इस व्यवस्था के प्राथमिक संगठन तत्व अपना अस्तित्व बनाए रक्खेंगे, तब तक केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण प्रशंसनिक व्यवस्था को नियमित रखने में पूर्ण समर्थ रहेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है इस व्यवस्था में संगठन और विकास को विनाश करने वाले बीज भी छिपे हुए थे, परन्तु केन्द्रीय शक्ति की सतर्क दृष्टि से इन बीजों को अपनी प्रगति के लिए उपयुक्त वातावरण न मिल सका, और लगभग एक शताब्दी तक यही स्थिति रही। जैसा कि मिस्टर माउन्टस्टुआर्ट एलफिन्स्टन का विचार है, यह बात सत्य है कि शाहू की शासन-प्रणाली सिद्धान्ततः दोषों से परिपूर्ण थी, परन्तु इससे मराठा राज्य में सुख-समृद्धि एवं शान्ति की वृद्धि ही हुई, साथ ही मराठों का प्रभाव एवं आतंक इतना अधिक बढ़ गया कि सभी पड़ोसी राज्य उनसे भय खाने लगे; और उनका सम्मान बढ़ता गया। मराठों द्वारा विभिन्न राज्यों में प्रयोग की जाने वाली नियंत्रक शक्ति को अपनी मान्यतर-प्राप्त शक्ति—मुगल सम्राट—की स्वीकृति नहीं मिली थी जिसके बिना उनका मार्ग इतना सरल और सुलझा हुआ नहीं था, और बालाजी विश्वनाथ ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों को इसी अभाव

की पूर्ति करने के प्रयत्नों में व्यतीत किया। वह निरन्तर मुगल सम्राट से मराठा संघ के लिए 'स्वराज्य', तथा सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य से चौथ और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकारों की मान्यता प्राप्त करने के प्रयत्नों में लगा रहा और अन्त में सफलता प्राप्त की। इस मान्यता के प्राप्त हो जाने पर मराठा संघ को वह वैधानिक शक्ति प्राप्त हो गई जिसके अभाव में कानून और बल प्रयोग में कोई अन्तर नहीं रह जाता। बालाजी विश्वनाथ की प्रतिभापूर्ण संगठन शक्ति एवं कूटनीति को सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि यही थी, और यद्यपि अन्यान्य व्यक्तियों एवं तत्वों ने इस लक्ष्य की पूर्ति में हाथ बँटाया, फिर मराठा देश की इस अनन्य सेना का क्षेप उसी को दिया जाना चाहिए। इस प्रकार इस अध्याय में बालाजी विश्वनाथ के चरित्र एवं उपलब्धियों के विषय में दिए गए उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी के पश्चात् मराठा संघ की नींव डालने में प्रमुख हाथ बालाजी विश्वनाथ का ही था, और इन दृष्टि से उसे मराठा संघ का संस्थापक कहा जा सकता कि यद्यपि शिवाजी ने मराठा राज्य की नींव अवश्य डाली परन्तु शाहू के शासनकाल के प्रारम्भ में व्याप्त अराजकता को निर्मूल करके विभिन्न सरदारों को एक सूत्र में बाँधा, मराठा देश को मान्यता दिलाई, चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त किया और देशको सुख समृद्धि का मार्ग दिखाया।

ग्यारहवाँ अध्याय

चौथ और सरदेशमुखी

गत अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया था कि राजाराम की मृत्यु के पश्चात् तथा शाहू के शासन काल के प्रारम्भ में व्याप्त अराजकतापूर्ण स्थिति पर प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने किस प्रकार अपनी रचनात्मक प्रतिभा, धैर्य तथा कुनीति कुशलता से नियंत्रण स्थापित किया और मराठा संघ के रूप में एक सर्वसत्ता-सम्पन्न केन्द्रीय सरकार का संगठन किया। इस अध्याय में हमने जो विषय किया है, उसका उल्लेख पीछे ही किया जा चुका है, और उसकी प्रमुखता एवं उसके महत्व का आभास उस महान क्रान्ति से ही मिलना प्रारम्भ हो गया था जब कि शिवाजी द्वारा शासित सीमित राज्यक्षेत्र बढ़ते-बढ़ते अनेक राज्यों के एक अत्यन्त शक्तिशाली संघ में परिवर्तित हो गया जो सर्वमान्य परम्पराओं और उद्देश्यों पर आधारित था। बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु १७२० में हुई, और अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में ही उसने अपना सबसे महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया, और वह था मराठा सरदारों द्वारा प्रस्तावित उन नए-नए दावों और अधिकारों पर मुगल सम्राट की वैधानिक मान्यता प्राप्त करना, जिनको शाहू के राज्यारोहण के फलस्वरूप उत्पन्न परिवर्तन से निरन्तर प्रोत्साहन मिलता ही गया था। भूतपूर्व मुसलमान शासकों से मराठा संघ के हाथों में हुए इस शक्ति-परिवर्तन का इतिहास ऐसे रोचक प्रस्तुत करता है जिसका उदाहरण भारत के पिछले इतिहास में सम्भवतः किसी काल में प्राप्त नहीं हो सकता, और आधुनिक इतिहास में उनकी तुलना अत्यन्त उचित रूप उन सफलताओं एवं विजयों के साथ की जा सकती है जो मारक्विस वेलसली को इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में प्राप्त हुई थी जब कि उसने देशी नरेशों एवं सरदारों के साथ सहायक सन्धि (सब्सीडियरी एलायन्स) की प्रणाली का शुभारम्भ किया था और जिससे भारतीय उपद्वीप पर ब्रिटिश शक्ति का नियंत्रण पूर्णतः निश्चित प्रतीत होने लगा था। वास्तव में मारक्विस वेलसली द्वारा प्रारम्भ की गई

एक्सीडियरी सन्धि पद्धति मराठों की उस योजना पर आधारित थी जो उन्होंने सौ वर्ष पूर्व ही दिल्ली के मुगल सम्राट द्वारा स्वीकृत चौथ और सरदेशमुखी के रूप में प्रारम्भ किया था, अन्तर केवल यही था कि उनकी योजना अंग्रेजों के समान अधिक संगठित स्तर पर आयोजित नहीं की गई थी। मुगल सम्राट द्वारा १७१६ के स्वीकृत चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के इन अधिकारों की वास्तविक प्रकृति पाठकों के समक्ष उस समय तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक कि हम मराठों के इन दावों पर ऐतिहासिक ढंग से विवेचना न कर लें। जैसा कि शिवाजी से सम्बन्धित वर्णन से पाठकों के समक्ष यह स्पष्ट हो चुका है कि इन अधिकारों की योजना मराठा राज्य के संस्थापक द्वारा उसके राजनैतिक जीवन-काल के प्रारम्भ में ही, बालाजी की मृत्यु के लगभग पचास वर्ष पूर्व ही बनाई गई थी। मराठों के इन दावों का प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है १६५० में, जब कि शिवाजी का राज्य क्षेत्र पूना और सूपा स्थित अपने पिता की जागीरों और आस-पास स्थित कुछ दुर्गों तक ही सीमित था। ऐसा प्रतीत होता है कि मराठा राज्य के लिए सरदेश मुखी वतन प्राप्त करने की आकांक्षा शिवाजी के हृदय में प्रारम्भ से ही थी। पीछली दो पीढ़ियों से उसका परिवार प्रतिष्ठित होने के साथ साथ शक्ति सम्पन्न भी रहा था, पर न तो उसके पितामह और न पिता ही प्राचीन देशमुख परिवारों के समानता का दावा कर सकने में समर्थ हुए, जिनमें से कुछ के साथ उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था, ऐसे परिवारों में मुख्य थे Malawadi मालवड़ी के घडगे, फल्टन के निम्बलकर, जट के डफाले और सावन्तवाड़ी के भोंसले। इन देशमुख परिवारों का दावा था कि उनके पूर्वजों ने उस समय अपने (वतनों) को प्राप्त किया था जब कि आदिलशाही और निजाम शाही राज्यों की स्थापना हुई थी। देशमुखों के रूप में वे देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी थे तथा मालगुजारी की वसूली भी उन्हीं को सौंप दी गई थी। वे अपने क्षेत्र से वसूल की गई मालगुजारी का दस प्रतिशत अपने व्यय के लिए प्राप्त किया करते थे जिसमें से आधा (कुल लगान का पाँच प्रतिशत) उन्हें अन्न के रूप में और शेष आधा कृषि योग्य भूमि के रूप में दिया जाता था; इसी को सरदेशमुखी

वतन कहा जाता था जो कि सामाजिक प्रतिष्ठा का एक प्रतीक था। शिवाजी भी स्वाभाविक रूप से ही इस प्रकार के सरदेशमुखी वतन का अधिकार प्राप्त करने के लिए उत्सुक था और सर्व प्रथम १६५० में उसने सम्राट शाहजहाँ के समक्ष जुन्नार और अहमदनगर के प्रान्तों से सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त करने के ध्येय से प्रार्थना की और इन प्रान्तों पर अपने परिवार के परम्परागत वतन सम्बन्धी दावे को भी सिद्ध किया। उसने यह भी स्वीकार किया कि यदि उसे यह अधिकार प्रदान कर दिया गया तो वह पाँच हजार सवारों के साथ मुगल साम्राज्य की सेवा करने के लिए सदैव तैयार रहेगा।

शाहजहाँ ने शिवाजी की इस प्रार्थना को इस बहाने से टाल दिया कि जब शिवाजी स्वयं मुगल दरबार में उपस्थित होकर अपने प्रस्ताव की व्याख्या करेगा तभी उस पर विचार किया जा सकेगा। जब १६५७ में शाहजहाँ के अधीन उसका पुत्र औरंगजेब सूबेदार के रूप में दक्षिण आया तो शिवाजी ने उसके सम्मुख पुनः अपना प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इस बार यह निश्चय किया गया कि औरंगजेब अपने पिता के समक्ष यह प्रस्ताव रक्खे कि शिवाजी को यह अनुमति दे दी जाय कि वह सैन्य संगठन करके डाभोल तथा अन्य समुद्र तटीय क्षेत्रों को जीत ले। साथ ही औरंगजेब ने उससे यह भी वचन ले लिया कि जब तक वह स्वयं अपने प्रतिद्वन्दी भाइयों के विरुद्ध संघर्षरत रहने के कारण दक्षिण से अनुपस्थित रहे, उस अवधि में शिवाजी दक्षिण को हर प्रकार से रक्षा करेगा। जब औरंगजेब अपने भाइयों पर विजय प्राप्त करके दिल्ली के सिंहासन पर बैठने में सफल हो गया तो शिवाजी ने उसके सम्मुख अपने प्रस्ताव को पुनः उपस्थित करने के लिए रघुनाथ पन्त और कृष्ण जी नामक दो विश्वस्त दुतो को दिल्ली भेजा तथा उन्हें सरदेशमुखी का अधिकार दिए जाने की प्रार्थना को दुहराने का स्पष्ट निदेश दिया। इस बार औरंगजेब ने शिवाजी की इच्छा के अनुकूल ही उसे कोंकण-विजय का पूर्ण अधिकार प्रदान किया, और सरदेशमुखी के अधिकार के सम्बन्ध में उसने शिवाजी के विश्वस्त परामर्शदाता आबाजी सोनदेव के साथ उस स्थिति में विचार-विमर्श करने का वचन दिया जब कि अपने स्वामी के

प्रतिनिधि के रूप में आबाजी सोनदेव मुगल दरबार में उपस्थित होकर अपने पक्ष का प्रतिपादन करे।

मराठा इतिहास में मराठों द्वारा चौथ और सरदेशमुखी के दावों का उल्लेख उस समय मिलता है जब १६६६ में पुरन्दर दुर्ग में मराठा राजा शिवाजी तथा औरंगजेब के सेनापति राजा जयसिंह के बीच सन्धि वार्ता हुई थी जिसके फलस्वरूप शिवाजी ने आत्मसमर्पण करना, तथा स्वयं दिल्ली जाकर मुगल सम्राट के समक्ष औपचारिक रूप से अधीनता प्रगट करना स्वीकार कर लिया था। इसी सन्धिवार्ता में शिवाजी ने मुगल सम्राट के प्रतिनिधि जयसिंह से यह प्रार्थना भी कि जो क्षेत्र निजामशाही राज्य से जीते जाकर बीजापुर के राज्य में मिला लिए गए थे, उनसे चौथ वसूलने का अधिकार भी उसे दे दिया जाय क्योंकि बहुत पूर्व से ही निजामशाही राज्य के सम्बन्धों में उसके पूर्वजों को यह अधिकार प्राप्त था। इस सन्धिवार्ता में, सम्भवतः प्रथम बार सरदेशमुखी के अतिरिक्त चौथ (कुछ निश्चित जिलों की कुल मालगुजारी का एक चौथाई या पचीस प्रतिशत भाग) का उल्लेख मिलता है जिसे सरदेश मुखी (मालगुजारी का दस प्रतिशत) के साथ ही वसूल करने का अधिकार प्राप्त करने की प्रार्थना शिवाजी ने जयसिंह से की। उसने वचन दिया कि यदि मुगल-दरबार द्वारा उसे ये अधिकार प्रदान कर दिए गए तो वह पेशकश के रूप में प्रतिवर्ष तीन लाख रुपयों की किश्त पर मुगल-सम्राट को पचास लाख रुपये देगा; साथ ही उसने अपने ही व्यय पर शाही सेवा के लिए एक सैन्य दल संगठित करना भी स्वीकार किया। चौथ और सरदेशमुखी से सम्बन्धित अनुरोधों के विषय में औरंगजेब ने कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब जयसिंह ने शिवाजी के साथ निश्चित सन्धि पत्र को बादशाह की स्वीकृति के लिए दिल्ली भेजा तो उसने उन प्रस्तावों पर अनुकूल ढंग से विचार करने का वचन दिया, परन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी कि शिवाजी स्वयं दिल्ली आकर उसके समक्ष पेशकश प्रस्तुत करें। उसके ऊपर विश्वास करके शिवाजी ने दिल्ली की यात्रा की, परन्तु उसका कोई अनुकूल परिणाम न निकला, और जब मुगल सम्राट ने छलपूर्वक शिवाजी को कारागार में डाल दिया तो शिवाजी की सारी आशाओं एवं आकाक्षांओं पर तुषारपात हो गया। जब अपने

कौशल से शिवाजी औरंगजेब की कैद से भाग निकलने में सफल हो गया और पुनः मुगलों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया तो ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब को अपने दुर्व्यवहार के लिए पश्चाताप होने लगा और शिवाजी को सन्तुष्ट करने के लिए १६६७ में उसने उसे 'राजा' की उपाधि देते हुए बरार में उसे एक जागीर भी प्रदान की, साथ ही उसके पुत्र सम्भाजी को भी अपने दरबार में एक मनसब प्रदान किया ।

वास्तव में औरंगजेब शिवाजी के चौथ एवं सरदेशमुखी से सम्बन्धित अधिकार प्रदान करने में हिचक रहा था, परन्तु परिस्थितियों एवं घटनाओं का क्रम कुछ इस प्रकार से औरंगजेब के विपक्ष में घूम गया था कि शिवाजी को भी संतुष्ट रखना आवश्यक था, अतः, ऐसा प्रतीत होता है कि चौथ और सरदेशमुखी की तरफ से शिवाजी का ध्यान हटाने के उद्देश्य से ही मुगल सम्राट ने उसे उपरोक्त ढंग से सम्मानित किया था। परन्तु शिवाजी की महत्वाकांक्षा नाम मात्र के सम्मान के प्रतीकों से सन्तुष्ट होनेवाली न थी और बिना इन अधिकारों को प्राप्ति के उसका चैन से बैठना सम्भव नहीं था। उसने पुनः मुगल सम्राट पर इस सम्बन्ध में दबाव डालना प्रारम्भ किया, साथ ही बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों से चौथ और सरदेशमुखी वसूलना आरम्भ कर दिया। १६६८ ई० में बीजापुर के आदिलशाही शासकों ने चौथ और सरदेशमुखी के एवज में शिवाजी को प्रतिवर्ष तीन लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया; कुछ ही समय पश्चात् गोलकुण्डा के शासक भी इन दोनों के बदले में प्रतिवर्ष पाँच लाख रुपया देने के लिए तैयार हो गए। सन् १६७१ में मराठों ने मुगल साम्राज्य के खानदेश सूबे से चौथ और सरदेश मुखी वसूल करने का अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। १६७४ में कोंकण स्थित पुर्तगालियों के द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को भी चौथ और सरदेशमुखी के रूप में उन क्षेत्रों के लिए कर देने पर बिवश होना पड़ा। गोलकुण्डा तथा बीजापुर के शासकों द्वारा अदा की जाने वाली चौथ और सरदेशमुखी की रकम के बदले में शिवाजी ने मुगलों के आक्रमणों से इन दोनों राज्यों की रक्षा करने का वचन दिया और उस समय इन राज्यों तथा मुगल सम्राट के मध्य होने वाले युद्धों में

मुगलों को विफल करने में शिवाजी की सहायता अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुई। कुछ ही समय पश्चात् बेदनोर के राजा और सूँडा के सरदार ने भी शिवाजी को कर देना स्वीकार कर लिया और जब १६७६ में शिवाजी ने कर्नाटक के विरुद्ध अभियान किया तो उसने इस दूरस्थित क्षेत्र से भी चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के प्रश्न को ही प्रमुखता दी। शिवाजी की मृत्यु १६८० में हुई और उसके पूर्व ही उसने दक्षिणी भारत में मुसलमान और हिन्दू शासकों की सहमति से सहायक एवं आर्थिक सन्धियों की प्रणाली स्थापित कर चुका था। जिनके प्रतिदान स्वरूप उसने इन राज्यों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया था, साथ ही कुछ मुगल सूबों पर भी उसने बलपर्वक चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार पैतृक 'वतन' की प्राप्ति के लिए एक अनुरोध मात्र था जिसके मालगुजारी वसूलने का उत्तरदायित्व भी सम्मिलित रहता था। जिन राज्यों द्वारा सरदेशमुखी का अधिकार किसी अन्य शक्ति को दिया जाता था। वह शक्ति इन राज्यों की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने का आश्वासन देता था, और इस कार्य के लिए वह अलग से जिस सेना का संगठन करता था उसके व्यय के लिए वह इन राज्यों से प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम प्राप्त करता था; जो चौथ के रूप में सरदेश मुखी के साथ ही वसूल कर लिया जाता था। शिवाजी द्वारा प्रारम्भ की गई चौथ और सरदेशमुखी की प्रथा का मूलस्रोत यही भावना थी, और यही वह प्रणाली थी जिसका अधिक विकसित स्तर पर प्रयोग करके एक सौ पचीस वर्ष पश्चात् मारक्विस आव वेलसली ने राजनैतिक क्षेत्र में इतनी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी।

जब राजाराम तथा उसके सहयोगियो द्वारा प्रारम्भ किया गया स्वातंत्र्य-युद्ध समाप्त हो गया, और बिभिन्न मराठा सरदार कर्नाटक, गंगथड़ी, बरार, खानदेश और गुजरात तथा मालवा की सीमा तक अपना प्रभाव स्थापित करके सत्ताधारी बन बैठे, तो इस पद्धति ने स्वाभाविक रूप से अपना क्षेत्र-विस्तार किया, और आगे चलकर जब मराठों और मुगल सूबेदारों में सन्धिवार्ताएँ चलने लगीं तो बालाजी विश्वानाथ तथा शाहू के अन्य परामर्शदाताओं ने इस प्रणाली में समयानुसार कुछ परिवर्तन और संशोधन करने की आवश्यकता

का अनुभव किया। इससे पूर्व जब तक मराठों तथा मुगलों के बीच युद्ध चलता रहा, तब तक चौथ और सरदेशमुखी के सम्बन्ध में वार्ता करने का कोई प्रश्न ही नहीं था, और युद्ध-स्थगन के पश्चात् भी, मराठा सरदारों का प्रमुख लक्ष्य-केन्द्र बना स्वराज्य को पुनः प्राप्त करना, अर्थात् शाहू को उन समस्त क्षेत्रों का अधिपति बनाना जो उस समय उसके पितामह शिवाजी के राज्यक्षेत्र की सीमा में स्थित था जब कि रायगढ़ में १६७४ में उसका राज्याभिषेक किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाराम की मृत्यु के पश्चात् 'स्वराज्य' के एक भाग पर शाहू के अधिकार को मान्यता प्रदान करके औरंगजेब ने मराठों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने का प्रथम प्रयास किया। शाहू के विवाह के समय जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, उसने दहेज के रूप में शाहू की सूपा और इन्दापुर स्थित पैतृक जागीर के साथ-साथ अकालकोट और नेवासा के महालों को भी शाहू को समर्पित कर दिया। इन अधिकारों को प्रदान करने के कुछ ही समय पश्चात् औरंगजेब ने शाहू को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह मराठा सरदारों को युद्ध-स्थगित करके मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने के विषय में पत्र लिखे। औरंगजेब द्वारा युद्ध स्थगन के लिए साधन रूप में शाहू के पत्रों के प्रयोग से इस तथ्य को मुगल सम्राट की स्पष्ट मान्यता प्राप्त हो गई कि वही उन मराठा सेनाओं का न्याय अधिपति था जो उस समय मुगलों के विरुद्ध संघर्षरत थीं। सन् १७०५ में मुगल-मराठा युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से औरंगजेब को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत, दक्षिण में स्थित ६ सूबों की मालगुजारी का दस प्रतिशत भाग सरदेशमुखी के रूप में मराठों को देने के लिए विवश होना पड़ा जिसके प्रतिदान स्वरूप मराठा सरदारों ने अश्वारोही सैनिकों की एक निश्चित सेना की सहायता से इन छः सूबों में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना स्वीकार किया। इस प्रकार शिवाजी ने लगभग पचास वर्ष पूर्व जिस सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त करने के लिए शाहजहाँ से अनुरोध किया उसे १७०५ में मुगल सम्राट औरंगजेब द्वारा प्रथम बार औपचारिक ढंग से मान्यता प्रदान की गई। परन्तु औरंगजेब ने जिस उद्देश्य से मराठों के

अधिकार को मान्यता दिया था, वह पूरा न हो सका; मराठा सरदारों ने केवल छः सूबों से सरदेशमुखी वसूलने के अधिकार पर ही सन्तोष नहीं किया, तथा अपनी माँगों को बढ़ा दिया जिसके फलस्वरूप औरंगजेब के जीवन के अन्त तक मुगल-मराठा संघर्ष समाप्त न हो सका। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली में अनेक आन्तरिक संघर्ष एवं विवाद उठ खड़े हुए जिनके कारण उसके पुत्रों ने मराठों के साथ हो रहे युद्ध को तुरन्त स्थगित कर देना आवश्यक समझा; इस लक्ष्य की पूर्ति क लिए शाहू को मुक्त कर दिया गया और उसे वापस अपने देश लौट जाने की अनुमति दे दी गई, साथ ही उसे यह सूचना भी दे दी गई कि यदि वह दक्षिण में अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो गया तो मुगल सेनापति जुल्फिकार खाँ और मुगल सम्राट आजमशाह उसे शिवाजी द्वारा अधिकृत समस्त क्षेत्रों को वापस कर देने के साथ भीमा और गोदावरी नदियों क बीच स्थित क्षेत्रों को भी अतिरिक्त जागीर के रूप में उसके अधिकार में सौंप देंगे। जब सतारा में शाहू का राज्याभिषेक हो गया तो दक्षिण में नियुक्त मुगल सूबेदार दाऊद खाँ ने प्रथम बार मराठा सरदारों के साथ सन्धि-वार्ता की जिसमें निश्चित शर्तों के अनुसार कुछ मुगल सूबों से चौथ अर्थात् कुल मालगुजारी का पचीस प्रतिशत भाग प्राप्त करने का अधिकार मराठों को मिला साथ इन सम्बन्धित सूबों की मालगुजारी वसूल करने का उत्तदायित्व भी शाहू के कर्मचारियों को सौंप दिया गया।

यह व्यवस्था १७०६ से १७१३ तक चलती रही, और इन चार वर्षों में माराठों और मुगलों में कोई विशेष विरोध भाव नहीं परिलक्षित हुआ, परन्तु इसी बीच दाऊद खाँ को दक्षिण से वापस बुला लिया गया तथा दक्षिण के सूबेदार के रूप में निजाम-उल-मुल्क की नियुक्ति कर दी गई। निजाम ने आते ही दाऊद खाँ तथा मराठों के बीच निश्चित की गई व्यवस्था के अनुसार व्यवहार करने से स्पष्ट इनकार कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि मराठों ने पुनः युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध छिटपुट ढंग से १७१५ तक चलता रहा. और अन्त में मुगलों को सन्धि के लिए विवश होना पड़ा जिसके अनुसार शाहू को मुगलों के हित के लिए दस हजार अश्वारोहियों की सैन्य संगठित करने का अधिकार दिया गया। निजाम-उल-मुल्क को दक्षिण

से वापस बुला लिया गया, और नए मुगल-सम्राट द्वारा दक्षिण सैय्यद-भाइयों में से एक को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। उस सैय्यद सूबेदार ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से शंकराजी नामक एक पुराने मराठा ब्राह्मण को अपनी सेवा में नियुक्त कर लिया जो गिंगी के युद्ध में भाग ले चुका था और इस समय काशीवास कर रहा था। सूबेदार ने शंकराजी को अपना दूत बनाकर शाहू के पास भेजा; सूबेदार के प्रतिनिधियों के रूप में शंकराजी तथा शाहू के प्रतिनिधि के बालाजी विश्वनाथ के बीच जो वार्ता हुई उसके अनुसार मराठा 'स्वराज्य' तथा मुगल साम्राज्य के छः दक्षिणी सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकारों की प्राप्ति हुई। इस सन्धि के अनुसार पुरानी कर्नाटक की जागीर को शाहू को लौटा देने के साथ बरार में नागपुर कर भोसलें द्वारा विजित क्षेत्रों पर उसके अधिकार को स्थापित्व प्रदान करने का निश्चय भी किया गया। इन उपलब्धियों के प्रदान स्वरूप शाहू ने पेशकश के रूप में मुगल सम्राट को दस लाख रुपया देना स्वीकार किया और प्रत्येक दिशा से होने वाले आक्रमणों से मुगल साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा करने तथा मुगल सम्राट की सेवा के लिए पन्द्रह हजार अश्वारोहियों का सैन्य संगठित करके उसके संचालन का अधिकार मुगल सूबेदारों फौजदारों तथा दक्षिण के जिलों के अन्य सैन्याधिकारियों के हाथो सौंप देने का वादा किया। शाहू के प्रतिनिधि के रूप में बाला जी विश्वनाथ द्वारा रक्खी गई इन शर्तों को शंकरा जी के माध्यम से सैयद सूबेदार के पास भेज दिया गया जिसने मराठों की प्रत्येक शर्त को उसी रूप में स्वीकार कर लिया और इन्हीं शर्तों को दृष्टि में रखते हुए एक संधिपत्र बनाया गया। सैयद ने शाहू को यह अधिकार भी प्रदान किया कि दक्षिणी भारत के जो क्षेत्र मुगलों के अधीन नहीं है जैसे मैसूर त्रिचनापल्ली और तंजौर उनका वह अपने ही संसाधनों एवं अपने ही व्यय से अपने अधिकार में कर सकता है। सैयद की सेना के सहायतार्थ शाहू ने अविलम्ब दस हजार अश्वारोहियों को सूबेदार के पास भेज दिया और सभी कुशल मराठा सरदारों ने इस सहायक सेना के साथ प्रस्थान कर दिया इन सरदारों में प्रमुख थे, सन्ताजी भोंसले जो कि सेना साहब सूबा का

निकट सम्बन्धी था ऊदा जी पवार और विश्वासराव आठबले। बालाजी विश्वनाथ एवं सैयद के बोच इस सन्धि में जो शर्तें निश्चित की गई थी उन पर मुगल सम्राट की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए इस सन्धिपत्र को दिल्ली भेज दिया गया परन्तु इस समय तक मुगल सम्राट सैयद भाइयों की नीतियों पर अविश्वास करने लगा था अतः उसने इस सन्धिपत्र को मान्यता प्रदान करने से इनकार कर दिया। इस पर सैयद सूबेदार ने स्वयं दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और उसके साथ खण्डेराव डाभाडे बालाजी विश्वनाथ और महादजी भानु प्रभृति अन्य सरदारों के संचालन में १५००० सैनिकों का एक शक्तिशालो सैन्यदल भी दिल्ली यात्रा पर चल पड़ा। शाही सेना तथा मराठा सैन्यदल में एक हल्का संघर्ष हुआ। जिसके दौरान में एक साधारण उपद्रव में सन्ताजी भोंसले और महादजी भानु को मार डाला गया। अन्त में मुगल सम्राट को मृत्यु के घाट उतार दिया गया और मुगल सिंहासन के नये उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह ने बालाजी विश्वनाथ को मराठा राज्य के अधिपति शाहु महाराज का प्रतिनिधि मानते हुए उसे स्वराज्य चौथ और सरदेशमुखी से सम्बन्धित सनदों को प्रदान किया।

इस प्रकार निरन्तर सत्तर वर्षों के संघर्ष के पश्चात् शाहू को परामर्श देने वाले सरदारों और मंत्रियों ने उस दावे को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की जिसकी योजना शिवाजी ने १६५० में ही बना डाली थी, और जिसकी पूर्ति के लिए वह आजीवन प्रयास करता रहा था। शाहू को केवल भूतपूर्व 'स्वराज्य में स्थित समस्त क्षेत्र ही नहीं प्राप्त हुए बल्कि इस स्वराज्य की सीमा उन समस्त क्षेत्रों तक विस्तृत हो गई जिन पर मराठों ने इस बीच विजय प्राप्त किया था, साथ ही भविष्य में सीमा विस्तार का मार्ग भी खुल गया। मुगल सम्राट मोहम्मद शाह द्वारा दी गई स्वराज्य से सम्बन्धित सनद में घाटों के ऊपर स्थित-क्षेत्र दक्षिण में हिरण्यकेशी नदी से लेकर उत्तर में इन्द्रायणी नदी के बीच में स्थित शिवाजी द्वारा बिजित समस्त-क्षेत्र तथा पूना, सतारा और कोल्हापुर के पश्चिमास्थ मावलों को सम्मिलित किया गया था। इस क्षेत्र में पूना, सूपा, बारामती, मावल, इन्दापुर, जुन्नेर, वाय, सतारा, कटहार, खटाव, मॉड़, फल्टन, तरला, मलकापुर, अजरे पनहाला, और कोल्हापुर सम्मिलित थे। पूरब की तरफ स्वराज्य के सीमा का

अधिकतम विस्तार भीमा और नीरा नदियों की घाटी तक था। घाटों के नीचे, स्वराज्य में उत्तरी और दक्षिणी कोंकण, रामनगर, जवार चौल, भिवड़ी, कल्याण, राजापुर, डाभोल राजापुरी, कोंडा, उत्तरी कनारा का एक भाग, अकोला और कुडाल सम्मिलित थे। धुर दक्षिण में, तन्जोर तथा गिंगी से अपना सम्पर्क बनाए रखने के ध्येय से शिवाजी ने गडग, हल्याल, बेल्लारी और कोपल पर भी अपना अधिकार कर लिया था, और ये क्षेत्र, भी उसके स्वराज्य के ही अंग थे। उत्तारी-पूर्वी दिशा में शिवाजी की राज्य सीमा क्रमबद्ध नहीं थी, और बिखरी हुई चौकियों के रूप में संगमनेर, बागलन, खानदेश और बरार तक विस्तृत थी। इसी सकरी एवं क्रमहीन पट्टी को शिवाजी के काल में स्वराज्य कहा जाता था जिसमें से खानदेश के अतिरिक्त अन्य समस्त-क्षेत्र शाहू को वापस कर दिए गए, और खानदेश के बदले में मराठों को पुरन्दर की ओर भीमा नदी की घाटी तक अपनी सीमा का विस्तार करने की अनुमति दे दी गई। मुगल साम्राज्य में स्थित जिन छः सूबों से मराठों को चौथ वसूल करने का अधिकार मिला था ये इस प्रकार हैं—बरार, खानदेश, औरंगाबाद, बेदर, हैदराबाद और बीजापुर। मुगल सम्राटों के राजस्व विभाग (मुहकमा-लगान) के विवरणों के अनुसार इन छः सूबों की अनुमानित वार्षिक आय अस्सी करोड़ रुपए थी जिसका दसवाँ भाग सरदेशमुखी तथा चौथाई भाग चौथ के रूप में कट जाता था। बालाजी विश्वनाथ स्वराज्य, चौक और सरदेशमुखी के अधिकारों पर मुगल सम्राट की वैधानिक मान्यता प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उत्सुक था, और उसकी यह उत्सुकता अतार्किक नहीं थी। वह जानता था कि इस प्रकार की सन्धियों से मुगल दरबार को बाँधे बिना देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो ही नहीं सकती थी। जिन विभिन्न सरदारों ने दक्षिण के विभिन्न भागों में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, उनकी व्यवस्थाओं में कोई स्थायित्व नहीं था। प्रत्येक सरदार इस दिशा में पूर्णरूप से जागरूक था कि पुरानी और नई परिस्थितियों के बीच, तथा मुगल सूबेदारों; फौजादारों थता अन्यन्य श्रेणियों के कर्मचारियों तथा उन मराठा सरदारों के बीच सामजंस्य तथा एकता का बन्धन स्थापित करना उनके सामान्य हितों के लिए अत्यन्त लाभदायक

था जिन्होंने उन पुरानी परम्पराओं पर ही अपनी शक्ति को आधारित कर रक्खा था। चौथ के सम्बन्ध में प्राप्त सनद में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया था कि मुगल सम्राट की सेवा के लिए शाहू को अलग से पाँच हजार अश्वारोहियों की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इस शर्त के अनुसार ये अश्वारोही शाहू के व्यय पर ही रक्खे जाते परन्तु मुगल सूबेदारों की इच्छानुसार उन्हें विभिन्न जिलों में तैनात किया जा सकता था। सरदेशमुखी की भाँति चौथ किसी प्रकार का 'वतन' नहीं था, बल्कि यह एक ऐसी राशि थी जिसे देश में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने, तथा विदेशी शक्तियों के आक्रमणों को रोकने के रूप में की जानेवाली के बदले में अदा किया जाता था।

मुगल साम्राज्य के जिन छः सूबों से चौथ वसूलने का अधिकार मराठों को मिला था, यदि उनकी कुल आय उतनी होती जितने का अनुमान 'सनद' में किया गया था, तो मराठों को इन सूबों से चौथ के रूप में लगभग साढ़े चार करोड़ रुपए प्रतिवर्ष की आय होती परन्तु औरंगजेब के काल में हुए युद्धों तथा विजयों के कारण इन सूबों की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय हो चुकी थी कि उनसे प्राप्त होने वाली वास्तविक आय, अनुमानित आय की एक चौथाई भी नहीं थी। चौथ के रूप में लगान का पचीस प्रतिशत भाग, जो मराठों का हक समझा गया था, उसका निर्धारण इस आधार पर किया था कि मुगल साम्राज्य की सरकार अपने अधीनस्थ क्षेत्रों से जितना मालगुजारी वसूल करती थी, उसका एक चौथाई भाग कर्मचारियों के वेतन तथा अन्य स्थानीय मदों में व्यय हो जाता था, और केवल तीन चौथाई भाग ही शाही खजाने में जमा हो पाता था। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए मुगल सम्राट द्वारा मराठा सरदारों को चौथ के साथ मालगुजारी वसूलने का भार इसलिए सौंप दिया गया था कि लगान का जो भाग—अर्थात् कुल वसूल किए गए धन का पचहत्तर प्रतिशत भाग—शाही खजाने तक पहुँचता था उसमें किसी कमी या हानि की सम्भावना नहीं थी, क्योंकि एक चौथाई या २५ प्रतिशत भाग तो पहले भी व्यय हो ही जाता था। अस्तु, देश की दयनीय आर्थिक अवस्था के कारण, सरदेश-मुखी और चौथ की निश्चित रकम को पूरा करने में मराठे लगभग सारी मालगुजारी खपा देते थे और शाही खजाने तक पहुँचने के लिए

नाममात्र की ही धनराशी शेष रह पाती थी। इस सम्बन्ध में सनदें प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी मराठों की ओर से यह परेशानी बनी ही रही। जहाँ कहीं भी मराठा सेना प्रबल पड़ती थी, सरदेशमुखी के रूप में लगान का दश-प्रतिशत और चौथ के रूप में पचीस प्रतिशत भाग बलपूर्वक वसूल कर लिया जाता था जिसे मराठे राजा का 'बाबतीस' कहते थे। असनुनित लगान के शेष तीन चौथाई भाग को वसूल करने का कार्य पुराने मुगल सूबेदारों के ऊपर छोड़ दिया जाता था जो अपनी निर्बल सैनिक शक्ति के कारण लगान का शेष भाग वसूल करने में असमर्थ सिद्ध होते थे। इस प्रकार धीरे धीरे इन सूबों में मुगल सूबेदारों का प्रभाव समाप्त होने लगा और मराठा सरकार रंग पकड़ते गए तथा उनकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती गई।

मुगल सूबेदारों से मराठा सरदारों के हाथों में सत्ता का यह परिवर्तन बिना संघर्ष के ही सम्पन्न नहीं हो गया। मुगल सम्राट सनदों को बाँटने का अधिकारी अवश्य था; परन्तु अपने अधीनस्थ सूबेदारों से अपनी इच्छाओं को पूरा करा लेना उसके लिए इतना आसान नहीं था। जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, सैयद भाइयों के पराभव के पश्चात् निजाम-उल-मुल्क को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त करके भेजा गया था; वह अनुभव कर रहा था कि मराठे बल पूर्वक मुगल सम्राट पर दबाव डालकर ये सुविधाएँ प्राप्त कर रहे हैं, अतः वह मराठों के इस बल प्रयोग को रोकने के प्रयास में लगा हुआ था जिसके फलस्वरूप अगले बीस वर्षों तक मराठे निरन्तर निजाम से संघर्ष करते रहे और इस संघर्ष में बालाजी विश्वनाथ के पुत्र और द्वितीय पेशवा बाजीराव ने अपने नीति कौशल का प्रशंसनीय प्रदर्शन किया। प्रारम्भ में तो निजाम ने शान्ति बनाए रखने का प्रयास किया और इसी ध्येय से मुगल सम्राट द्वारा शाहू को प्रदान किये गए अधिकारों को उसने भी स्वीकार किया और कुछ समय तक शान्ति भी बनी रही। सैयद भाइयों के पश्चात् निजाम ने चाल चलना प्रारम्भ कर दिया इस कूटनीतिपूर्ण संघर्ष में सर्वप्रथम उसने कोल्हापुर के राजा की पीठ पर हाथ रक्खा, और उसे सुरक्षा प्रदान करने का आश्वासन देते हुए मालगुजारी वसूलने के लिए शाहू द्वारा भेजे गए कर्मचारियों के विरुद्ध उसे तैयार किया, जिससे

प्रोत्साहित होकर कोल्हापुर का राजा भी शाहू के साथ प्रतिद्वन्दिता पूर्ण व्यवहार करने के लिए तत्पर हो गया। बाजीराव ने इस विरोध को समाप्त करने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर ली और १७२२ में मुगल दरबार से १७२२ में एक नया फरमान जारी कराया।

अपनी पहली चाल पर मात खा जाने के पश्चात् निजाम ने एक नया विबाद उत्पन्न कर दिया; शाहू पर यह आरोप लगाते हुए कि वह दक्षिण में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने की सर्त का पालन नहीं कर रहा है, निजाम ने कहा कि ऐसी स्थिति में शाहू को मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार शाहू के अधिकारों को चनौती देते हुए निजाम मुगल सम्राट तथा मराठों के बीच भ्रम-जाल उत्पन्न करता रहा, और अन्त में निजाम द्वारा प्रारम्भ किए गए इस बिरोध को शान्त करने के लिए मराठों को बल प्रयोग करने के लिए विवश होना पड़ा। मराठों द्वारा निजाम के सुविधानुसार किए गए क्षेत्र परिवर्तन, तथा हैदराबाद के समीपस्थ क्षेत्रों को चौथ और सरदेशमुखी की वसली से मुक्त कर दिए जाने पर अन्त में निजाम-उल-मुल्क ने पुनः मुगल सम्राट द्वारा प्रदान की गई सनदों के अनुसार व्यवहार करने के लिए सहमत हुआ। १८३० के लगभग कोल्हापुर के राज्य के साथ गठबन्धन करके निजाम ने पुनः सिर उठाया; इस बार कोल्हा पुर का राजा शाहू द्वारा वसूल किए जाने वाले चौथ और सरदेश मुखी में स्वयम् भी हिस्सेदार होने का दावा करने लगा। इस वार भी पेशवा ने अपने उच्चतर नीति कौशल से निजाम के षड़यंत्रों को विफल कर दिया और अनन्तः पेशवा की कूटनीति से परेशान होकर उसे कोल्हापुर के राजा का साथ छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ा। शाहू के द्वारा प्रनिनिधि के अधीन भेजी गई सेना ने कोल्हा पुर के राजा को भी पराजित किया, और सतारा तथा कोल्हापुर के राजाओं के बीच बँटवारे के सम्बन्ध में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार शाहू को मुगल सम्राज्य के दक्षिण स्थित छः सूबों से प्राप्त होने वाली चौथ और सरदेश मुखी का एकमात्र स्वामी माना गया तथा कोल्हापुर के राजा को बारना के दक्षिण में तुंगभद्रा तक

के क्षेत्रों का अधिकार पाकर ही सन्तोष करना पड़ा। अन्त में तीन युद्धों और दो बार मिली मान्यताओं के पश्चात् १७३२ के लगभग चौथ और सरदेशमुखी को मुगल साम्राज्य के स्थायी नियमों के अन्तर्गत पूर्ण मान्यता प्रदान कर दी गई और इस स्थायी व्यवस्था को अपनाने के लिए समस्त विरोधी शक्तियों को विवश होना पड़ा। परन्तु अब भी विवाद एवं संघर्ष को उत्तेजित करने वाले तत्व पूर्णतः विनष्ट नहीं हुए थे; अब भी निजाम के उत्तराधिकारियों एवं मराठों के बीच प्रायः संघर्ष होते रहते थे, परन्तु अब इन संघर्षों का मुगल सम्राट द्वारा दी गई सनदों की वैधानिकता और उनके औचित्य के प्रश्न से रंचमात्र भी सम्बन्धित नहीं रहता था। १७४३ में तत्कालीन निजाम सलावत जंग और मराठा सरदारों में पुनः युद्ध छिड़ गया। जिसमें निजाम की पराजय हुई तथा मराठों एवं निजाम के मध्य हुई संधि की शर्तों के अनुसार खानदेश तथा नासिक के भूभाग मराठा साम्राज्य में सम्मिलित कर लिए गए। १७६० में एक नया झगड़ा उठ खड़ा हुआ। जिसमें मराठों के सम्मुख निजाम द्वारा संचालित मुगल सेना को शस्त्र रख देना पड़ा और अहमदनगर के समीपस्थ एक लम्बा चौड़ा क्षेत्र तथा अहमद नगर के दुर्ग को भी पेशवा के राज्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया। इसी प्रकार १७६० में पुनः निजाम एवं मराठों में मतभेद उत्पन्न हुआ जिसमें प्राप्त विजय के फलस्वरूप मुगल साम्राज्य के शोलापुर और बीजापुर जिलों को भी मराठा-राज्य में मिला लिया गया। कर्नाटक में मराठा सरदारों ने जो युद्ध छेड़ रक्खा था, उसमें उनका मुख्य विरोधी निजाम न होकर सावनूर का नवाब था। इन नवाबों के साथ लगातार हुए तीन युद्धों के परिणामस्वरूप बीजापुर बेलगाम और धारबाड़ क जिले एक के बाद एक पेशवा के राज्य में सम्मिलित कर लिए गए। इन तीनों युद्धों का संचालन पेशवा बाजीराव और उसके पुत्र बालाजी ने किया था। सावनूर के नवाबों के पतन के बाद भी मराठो को कर्नाटक के युद्धों से मुक्ति नहीं मिली।

इसी बीच मैसूर में हैदर अली अपनी सत्ता स्थापित कर चुका था, और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने मसुर

राज्य का शासन भार सम्भाला। १६६० से १६६० तक मराठा सरदारों तथा हैदर और टीपू के बीच निरन्तर युद्ध चलता रहा; अन्त में मैसूर के शासकों की पराजय हुई और मराठा राज्य की सीमा तुंगभद्रा नदी तक विस्तृत हो गई। इसके पश्चात् पेशवा बाजीराव के भाई चिमणा जी अप्पा ने पुर्तगालियों और जंजीरा के सिद्धियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और इन युद्धों में उसे भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई पुर्तगालियों और सिद्धियों के साथ हो रहे युद्ध के अन्तिम चरण में तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव द्वारा सैन्य निर्देशन किया गया था और इन युद्धों में प्राप्त सफलता का श्रेय उसीको दिया जाना चाहिए। इस प्रकार पेशवाओं के शासन काल में विभिन्न तरीकों से इस शताब्दी के अन्तर्गत ही मुख्य महाराष्ट्र देश का लगभग सम्पूर्ण भाग मराठा संघ के सदस्यों के अधिकार में आ चुका था। यह सत्य है कि मराठा राज्य का यह विस्तार विभिन्न युद्धों में प्राप्त विजयों के फलस्वरूप हुआ था। परन्तु वास्तव में इन युद्धों को उत्तेजित करने वाला मुख्य स्रोत था चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार जिसे मराठों ने मुगल सम्राट द्वारा वैधानिक रूप से प्राप्त कर लिया था और जब भी उनके इस अधिकार में बाधा पहुँचाई जाती थी तो उसका परिणाम युद्ध ही होता था। शिवाजी के समय में 'स्वराज्य' की सीमा बहुत विस्तृत नहीं था, परन्तु विभिन्न विजयों के फलस्वरूप हुए क्षेत्र-विस्तार के कारण इस स्वराज्य का अर्थ, पुरानी सनद में दी गई सीमा से कहीं अधिक विस्तृत सीमा से लिया जाने लगा था। इसके साथ ही जब कि प्रारम्भ में सम्राट प्रदत्त सनदों द्वारा मराठों को केवल छः सूबों से ही चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दिया गया था जो कि ताप्ती नदी के दक्षिण में स्थित थे—बीस वर्ष पश्चात् पुरानी शर्तों पर ही मराठों के इस अधिकार को सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य के ऊपर मान्यता प्रदान कर दी गई अतः अब मराठे उत्तर में गुजरात काठियावाड़, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, दोआब, निमुच, गोण्डवाना; सम्बलपुर, उड़ीसा, आगरा, दिल्ली, अवध और बंगाल जैसे दूरस्थ मुगल सूबों से भी चौथ और सरदेशमुखी प्राप्त करने के अधिकारी हो गए। मराठों की शक्ति एवं उनके प्रभाव का विस्तार क्षेत्र हमारे अगले अध्याय का

विषय होगा, परन्तु इस विस्तार के प्रमुख अंग भी वही थे जिनमें से अधिकांश का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। चौथ और सरदेशमुखी के अधिकारों ने मराठा सरदारों द्वारा क्षेत्र विस्तार करने और उनके कार्यों को वैधानिकता एवं न्यायपूर्णता प्रदान करने में उतनी ही सहायता पहुँचाई जितनी कि पिछली शताब्दी में मारक्विस वेलसली द्वारा प्रारम्भ की गई सहायक सैन्य सन्धि प्रणाली ने ब्रिटिश सरकार के प्रभाव एवं विजय क्षेत्र को बढ़ाने में पहुँचाई थी। मराठों के क्षेत्र-विस्तार की इस गाथा का सर्वाधिक रोचक तथ्य यह है कि मराठा संघ के सदस्यों ने स्वतंत्र राज्यों या स्वतंत्र सरदारों के रूप में न तो युद्धों को छेड़ा ही था, और न स्वतंत्र रूप से विजय ही प्राप्त की थी, बल्कि उन्होंने सामूहिक रूप से कार्य करके एकता के महत्व को प्रदर्शित किया था। मराठों के द्वारा ही शासित दो राज्य ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं को इस संघ से पृथक ही रक्खा था, और उनकी महत्वहीन राजनैतिक स्थिति ने यह स्पष्ट कर दिया कि राजनीति में संगठन का कितना महत्व होता है, ये दोनों राज्य थे कोल्हापुर और तंजौर और संघ से पृथक रहकर इन दोनों राज्यों ने स्वयं को उन सुविधाओं एवं ख्याति से वंचित कर लिया था। जिसका नाम संघ के सदस्यों के रूप में पेशवा गायकवाड़ सिन्धिया होलकर भोंसले विंचूरकर पटवर्धन बुन्देले तथा अन्य सरदार उठा रहे हैं। एक अत्यन्त ही स्मरणीय अवसर पर शाहू के परामर्शदाताओं ने पेशवा और प्रतिनिधि के परस्पर विरोधी विचारधाराओं की विवेचना करते हुए इस बात पर शाहू का निर्णय माँगा गया था कि पेशवा बाजीराव की विस्तारवादी नीति को प्रश्रय देना उचित है अथवा प्रतिनिधि की सीमित क्षेत्र में सतर्कता की नीति ही अधिक हितकारी है। इस प्रश्न पर पेशवा की प्रभावशाली वक्तृता से प्रभावित होकर शाहू ने पेशवा की पूर्णतः संगठित रूप से सीमा विस्तार करने की नीति के ही पक्ष में अपना निर्णय दिया और जिस संगठित ढंग से मराठा संघ ने भारत के हर कोने में अपना सिक्का जमाया वह इतिहास के विद्यार्थियों के लिए अध्ययन का विषय है। इस संघवादी नीति के विरुद्ध स्वतंत्र रूप से सीमित क्षेत्र में व्यवहार करने की नीति का जो परिणाम हुआ वह तंजौर के इतिहास से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है जहाँ से दक्षिणी भारत में

मराठों की प्रारंभिक विजयों का शुभारम्भ हुआ था और अगले अध्याय में हम पेशवाओं की संगठित विस्तारवादी नीति से प्राप्त प्रभाव एवं लाभों की तुलना तंजौर में पृथक रूप से व्यवस्थित मराठा जाति के उस भाग की दयनीय स्थिति से करेंगे जो मराठा संघ से अलग थी और जिसके सिंहासन पर मराठा जाति के प्रथम राजा के रूप में शिवाजी के सौतेले भाई का राज्याभिषेक हुआ था।

बारहवाँ अध्याय

दक्षिणी भारत में मराठों की स्थिति

न तो मिस्टर ग्रान्ट डफ ने और न ही मराठी 'बखरों' के देशी लेखकों में से ही किसी ने दूर दक्षिण तन्जौर में स्थित मराठों के उपनिवेश के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण दिया है, और न ही उनके अस्तित्व को कोई विशेष महत्व दिया है। यद्यपि देश के उस भाग में मराठा राज्य की स्थापना उस समय हुई थी जब कि देश के अन्य भागों में राजनैतिक एवं सैनिक दृष्टियों से मराठा शक्ति को कोई विशेष महत्व प्राप्त न था और जिस परिवार ने १६७५ से १८५५ अर्थात् लगभग दो शताब्दियों तक तन्जौर पर शासन किया, वह उस परिवार से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था जिसने पश्चिमी भारत में मराठा राज्य की नींव डाली थी। इस दूरस्थित एवं अभाग्यशाली राज्य के घटनापूर्ण इतिहास तथा राजनैतिक दुर्दशाओं से इस मत की पूर्णतः पुष्टि हो जाती है कि मराठों के प्रभाव एवं क्षेत्र विस्तार का श्रेय प्रमुखतः उस संघीय संगठन को ही था जिसकी स्थापना बालाजी विश्वनाथ के प्रतिभापूर्ण मस्तिष्क की देन थी। जिन शक्तियों ने राष्ट्रहित एवं राष्ट्रीय एकता की भावना से स्थापित इस संघ से अपने आपको पृथक ही रक्खा था, उनको मराठा इतिहास के क्षेत्र में स्थान तक नहीं मिला, न तो देशी लेखकों ने और न विदेशी इतिहासकारों ने ही उनके अस्तित्व को महत्व दिया। यद्यपि ये मराठा जाति के ही सदस्य थे, परन्तु अपनी अप्राकृतिक पार्थक्यवादी नीति का जो कुफल उन्हें भोगना पड़ा, उससे हमारे समक्ष एक दुःखपूर्ण परन्तु लाभदायक नैतिक पाठ प्रस्तुत होता है जिस पर ध्यान देना हमारे लिए अति आवश्यक है। कावेरी नदी के तट पर, अपने देश से पर्याप्त दूरी पर स्थित इस मराठा उपनिवेश के सैनिक महत्व तथा उनके प्रभाव के स्थायित्व का उचित निर्णय १८८१ की जनगणना के विवरण के अध्ययन द्वारा ही किया जा सकता है जिससे यह प्रटग

होता है कि मद्रास प्रेसीडेन्सी में मराठों की कुल संख्या लगभग दो लाख तीस हजार थी, जिसमें मैसूर, कोचीन और त्रावणकोर में स्थित, मराठों की अनुमानित संख्या जो कि बीस हजार थी, और जोड़ी जा सकती है; इस प्रकार उस समय दक्षिणी भारत में मराठों की कुल जनसंख्या ढाई लाख थी जो विभिन्न जिलों में निम्नलिखित सारिणी के अनुसार वितरित थी;—

जिला	मराठों की संख्या
१. गंजम	२०५
२. बिजगापट्टम	३६४
३. गोदावरी	६३४
४. कृष्णा	१,४१४
५. नेल्लोर	८०७
६. कड़ापा	३६७३
७. करनूल	४,०८१
८. वेल्लारी	१४, १६६
९. चिगंलपट	१,६३५
१०. उत्तरी अरकाट	११,६६२
११. दक्षिणी अरकाट	१,९५७
१२. तन्जौर	१४,५२१
१३. त्रिचनापल्ली	१,७६६
१४. मदुरा	१,९४३
१५. तिन्नेनेल्लो	८३७
१६. सालेम	७,९०६
१७. कोयम्बटूर	२,५५०
१८. नीलगिरी	७२०
१९. मलावार	६,१०७
२०. दक्षिणी कनारा	१४७,३६०
२१. मद्रास नगर	४,२३८
२२. पडुकोट	६६०

इस प्रकार मद्रास प्रेसिडेन्सी में कोई भी जिला ऐसा नहीं था

जिसमें मराठों की कोई छोटी या बड़ी बस्ती न रही हो जहाँ प्रवासी मराठों ने अपना स्थायो निवास ही बना लिया था। जहाँ तक दक्षिणी कनारा, मालाबार, कोचीन और ट्रावनकोर का सम्बन्ध था, इन-क्षेत्रों में मराठों की जनसंख्या डेढ़ लाख से ऊपर ही थी, और इन क्षेत्रों के तटीय भागों में ही मराठे विशेष रूप से केन्द्रित थे, और समुद्रीय मार्ग द्वारा ही वहाँ तक पहुँचे थे, साथ ही इन मराठा बस्तियों के निवासियों का उस राजनैतिक प्रभुत्व से कोई भी सम्बन्ध नहीं था जिसे सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में शाहजी तथा शिवाजी के सौतेले भाई वेणकोजी की सेनाओं द्वारा स्थापित किया गया था। जैसा कि आशा करना स्वाभाविक है, तन्जौर नगर तथा उसके पड़ोस में स्थित जिले जैसे उत्तरी अरकाट, सोलम और मद्रास नगर में दक्षिण-स्थित मराठों की सर्वाधिक संख्या निवास करती थी जिनके पूर्वज उस समय दक्षिण आए थे जब शाहू तथा उसके पुत्र वेणकोजी ने मराठा सेना के साथ दक्षिण की ओर अभियान किया था। जैसा कि ट्रावनकोर के महाराज ने लिखा है, तन्जौर वास्तव में मराठों का दक्षिणी आवास-स्थल था और यद्यपि उत्तराधिकारियों के अभाव में लगभग पचास वर्ष पूर्व ही तन्जौर राज्य की वैधानिकता की समाप्ति की घोषणा करके इसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जा चुका है, तन्जौर के महल की रानियाँ अब भी शहर में ही रहती हैं और ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त पेन्शन तथा एक विस्तृत निजी जागीर का उपभोग करती हैं। जब १६६६ और १६७५ के बीच प्रारम्भ में तन्जौर राज्य की स्थापना की गई थी, उस समय तन्जौर जिले में दक्षिणी अरकाट का कुछ भाग तथा त्रिचनापल्ली जिले का सम्पूर्ण भाग सम्मिलित था। उस समय महाराष्ट्र से आकर तन्जौर में बसने वाले लोगों में ब्राह्मण और मराठे, दोनों ही वर्ग सम्मिलित थे और अपनी मातृभूमि से पर्याप्त दूरी पर स्थित होने के कारण, अपनी मातृभूमि में वे जिन सामाजिक और जातीय बन्धनों एवं भेदों में बंधे हुए थे, धीरे-धीरे उनका महत्व समाप्त होने लगा; अन्त में सारा जातिवर्ग भूलकर वे एक ही नाम से स्वयं को सम्बोधित करने लगे; अब न कोई मराठा था, न कोई ब्राह्मण, बल्कि एक ही जाति रह गई जिसे देशास्थ कहा जाता था।

तन्जौर के सभी राजा ज्ञान और कला के महान संरक्षक थे। उनसे

कुछ तो स्वयं भी ख्याति प्राप्त कवियों और विद्वानों के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे; कला तथा ज्ञान के प्रति इस प्रेम के अतिरिक्त वे इतने दानशील थे कि उनके दानों के आकड़े अब भी लोगों को आश्चर्य में डाल देते हैं। भारत के किसी भी देशी राज्य क पास ऐसा संग्रह नहीं है जिसकी तुलना तन्जौर पुस्तकालय से की जा सके जो कि अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालय ही उनके शासन काल में ललित कलाओं, तथा वाद्य एवं कण्ठ संगीत इत्यादि का अभूतपूर्व विकास हुआ। उस काल में तन्जौर को दक्षिणी प्रेसीडेन्सी का सर्वाधिक उन्नत, सुसभ्य एवं सुसंस्कृत जिला होने की ख्याति प्राप्त थी, और अब भी उसने इन विशेषताओं को उसी प्रकार संजो रक्खा है। तन्जौर राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाने के पश्चात् विभिन्न कलाओं के मर्मज्ञों ने भी तन्जौर त्याग कर ट्रावनकोर को अपना केन्द्र बनाया, और उस राज्य को भी उतनी ही ख्याति दिला दी, जिसका उपभोग यह नगर आज तक कर रहा है। कोम्भकोणम नगर ऐसे अनेक परिवारों का आवास स्थल रहा है जिनके प्रतिनिधियों में से प्रायः सभी ने अपने-अपने क्षेत्र में विशेष ख्याति अर्जित की। ऐसे लोगों में से प्रमुख हैं सर टी. माधवराव, दीवान बहादुर रघुनाथराव, वेणकास्वामीराव, तथा गोपालराव आदि; और उनमें से कुछ ने तो अपने राजनीतिक ज्ञान, अपनी विद्वत्ता तथा उदारता (Philan thropy) के लिए सम्पूर्ण भारत में अपना नाम चमका दिया। गत शताब्दी के साथ-साथ इस शताब्दी में भी ट्रावनकोर तथा मैसूर की देशी रियासतों की छत्रछाया में इस प्रकार के कुछ मराठा राजनीति-शास्त्रियों को अपनी उच्चतम योग्यताओं के प्रदर्शन का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। ट्रावनकोर के मंत्री सुब्बाराव की उल्लेखनीय सेवाएँ सर्वविदित हैं, और उसके ही उत्तराधिकारियों में से एक, सर टी. माधवराव ने ट्रावनकोर में व्याप्त अव्यवस्था और अराजकता को दूर करने में सफलता प्राप्त करके इसे एक आदर्श राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया; इसी प्रकार दीवान बहादुर रघुनाथ राव के पिता ने भी मैसूर में उतनी ही उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की थी।

उत्तरी अरकाट में एक छोटी-सी जागीर अब भी स्थित है जिसे 'अर्णी'' कहा जाता है, और जो एक मराठा ब्राह्मण सरदार के अधिकार में है; उसके पूर्वजों को उनकी सैनिक सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व यह जागीर बीजापुर के शासक द्वारा प्रदान की गई थी। उसके अतिरिक्त अन्यान्य मराठा ब्राह्मण भी ऐसे थे जिन्होंने अरकाट के नवाबों की सेवा में नियुक्तियाँ प्राप्त की थीं तथा पर्याप्त महत्वपूर्ण पर पहुँचे थे, इन ब्राह्मणों को विशेष रूप से निजामशाही ब्राह्मणों के नाम से पुकारा जाता था। इसी प्रकार पडुकोट की छोटी सी रियासत में, जो सीमित अंशों में अब भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है—मराठे पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं, और प्रारम्भ से ही इस रियासत के प्रशासन का भार अनेक ब्राह्मण दीवानों के ऊपर ही रहा था, जिनमें से प्रायः सभी महत्वपूर्ण दीवान उन मराठा परिवारों के सदस्य थे जो बहुत पहले से ही दक्षिणी भारत में बसे हुए थे। कोचीन के देशी राज्य में भी मराठों की एक बड़ी जनसंख्या बसी हुई है जिनमें विभिन्न वर्गों के ब्राह्मणों का अनुपात ही अधिक है; उनमें से अधिकांश व्यापार-धन्धों में लगे हुए हैं। बिल्लारी जिले में, सोण्डा में एक अन्य छोटी-सी मराठों की रियासत है जिस पर दक्षिण में मराठों के सामान्य पतन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और उसका अस्तित्व अब भी बना हुआ है। सोण्डा रियासत का संस्थापक सान्ताजी घोरपड़े के विख्यात परिवार का एक सदस्य था जिसके प्रपौत्र मुरार राव घोरपड़े ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में लड़े गए कर्नाटक के युद्धों में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया था, और गूटी में एक छोटा-सा राज्य स्थापित करके कुछ समय तक उस पर शासन भी किया था और अन्त में हैदर नायक ने गूटी के क्षेत्र को मुरारराव घोरपड़े से जीत लिया था।

जब औरंगजेब के व्यवहारों से महाराष्ट्र में स्थित मराठे अत्यन्त त्रस्त हो उठे थे तो उनके नेता शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम ने गिंगी में ही आश्रय ग्रहण किया था जिस पर बहुत पहिले से ही उनके पितामह शाहजी का अधिकार था। और यही वह दुर्ग थे जिसमें अपनी सुदृढ़ता से सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निरन्तर सात वर्षों तक मुगलों के प्रबल घेरे का सामना किया था, और इन सात वर्षों की अवधि में राजाराम तथा उसके सहयोगियों को औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की तैयारी का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया था जिससे उन्होंने पूरा लाभ उठाया था।

ऊपर दिए गए संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुट्ठी भर मराठों ने, जिनकी अधिकतम संख्या कभी भी एक लाख से ऊपर न हो सकी, दक्षिण में मुसलमानों की शक्ति के पतन के पश्चात्, अत्यन्त ही आतंकपूर्ण वातावरण में अपने लिए दक्षिणी भारत में केवल जागीरों तथा राज्यों की स्थापना ही नहीं की, बल्कि अपने प्रभाव को स्थायित्व भी प्रदान किया जिसके चिन्ह आज दिन भी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा आज भी वे दक्षिणी प्रेसीडेन्सी की जनसंख्या में एक पर्याप्त महत्वपूर्ण अनुपात बनाए हुए हैं यद्यपि यह तथ्य भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अब उनका प्रभाव निश्चित रूप से पतनोन्मुख हो चला है। केवल यही कारण इतना महत्वपूर्ण है कि इसके आधार पर मराठों द्वारा तंजौर के विजय की कहानी को उस विस्तृत गाथा में उचित स्थान दिया जाना चाहिए जो मराठा जाति के उत्कर्ष एवं पतन का वर्णन करती है, और मैं तो यह भी कहूँगा कि सुदूर दक्षिण में स्थित इस मराठा राज्य को मराठा इतिहास में, मराठा संघ के गैर मराठा सदस्यों की अपेक्षा अधिक महत्व देना उपयुक्त होगा।

मराठों ने दक्षिणी भारत में सर्वप्रथम शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले के नेतृत्व से सन् १६३८ ई० में प्रवेश किया। उस समय शाहजी बीजापुर के आदिलशाही राजाओं के दरबार में नियुक्त था, और १६३८ में बीजापुर की सेना के सेनानायक के रूप में वह एक पर्याप्त बड़ी सेना के साथ ही दक्षिणी भारत की ओर रवाना हुआ था। उसके दक्षिण भारत में पहुँचने के फलस्वरूप कर्नाटक में युद्धों की जो शृंखला प्रारम्भ हुई उससे शाहजी तथा उसके साथ आई हुई आदिलशाही सेना को निरन्तर तीस वर्षों तक दक्षिणी भारत में ही उलझे रहना पड़ा, और इस अवधि में शाहजी ने मैसूर, बेल्लौर तथा गिंगी पर अधिकार किया। उसकी इन सेनाओं के पारितोषिक के रूप में बीजापुर दरबार की ओर से शाहजी को १६४८ में एक जागीर प्रदान की गई। जिसमें, बंगलौर, कोल्लर, सेरा या कट्टा तथा मैसूर में स्थित कुछ अन्य क्षेत्र भी सम्मिलित थे। कर्नाटक में छिड़े हुए इन युद्धों की लम्बी अवधि में शाहजी ने तन्जौर और मदुरा के पुराने नायकों को बीजापुर की आदिलशाही सत्ता

के समक्ष अधीनता स्वीकार करने तथा कर चुकाने के लिए बाध्य किया। अपने लम्बे राजनैतिक जीवनकाल की घटनापूर्ण अवधि में शाहजी ने मृत्यु पर्यन्त, अर्थात्, १६६४ तक मैसूर स्थिति अपनी जागीरों पर अपना अधिकार बनाए रक्खा। अपनी जागीरों का प्रबन्ध देखने के लिए उसने बँगलोर को अपना मुख्य केन्द्र बनाया और उसके जीवन काल में बँगलोर, दक्षिणी भारत में मराठा सेनाओं का सबसे दक्षिणी केन्द्र था। जब शाहजी के पुत्र वेणकोजी ने उत्तराधिकार के रूप में इस जागीर को प्राप्त किया, उस समय मदुरा तथा तन्जौर के पुराने नायकों के बीच मनमुटाव उत्पन्न हो गया था; अन्त में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ जिसमें तन्जौर वाले पराजित हो गए। इस पर तन्जौर के नायक ने बीजापुर दरबार का आश्रय ग्रहण किया और बीजापुर दरबार से वेणकोजी को आदेश मिला कि तन्जौर के नायक को पुनः तन्जौर के सिंहासन पर बैठा दिया जाय। इस आदेश के अनुसार वेणको जी ने बारह हजार सैनिकों के साथ मथुरा के नायक के विरुद्ध कूच कर दिया; इस युद्ध में वेणकोजी को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई और तन्जौर के नायक को उसका अधिकार वापस मिल गया। कुछ ही समय पश्चात् तंजौर के नायक के पक्ष में ही आन्तरिक संघर्ष प्रारम्भ हो गए, इसी बीच उनमें से एक दल ने वेणकोजी को तंजौर के दुर्ग पर अधिकार करने के लिए निमंत्रित किया। जिस समय मराठों ने तंजौर की सीमा में प्रवेश किया, तंजौर का नायक दुर्ग छोड़कर भाग निकला। इस प्रकार १६७४ में वेणकोजी ने तंजौर पर अधिकार कर लिया और १६७५ में उसने बंगलौर के बदले तंजौर को ही अपना मुख्य केन्द्र बना लिया।

जिस समय वेणकोजी तंजौर में अपनी सत्ता स्थापित करके राज्य कर रहा था उस समय पश्चिमी भारत की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी १७७६ में शिवाजी द्वारा दक्षिणी भारत की ओर अभियान। शिवाजी ने अत्यन्त ही सरलता पूर्वक कर्नाटक स्थित अपनी पैतृक जागीर पर अधिकार कर लिया, और वेणकोजी अपनी स्थिति को बनाए रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ। बीजापुर सरकार ने

भी कर्नाटक के साथ साथ तंजौर और त्रिचनापल्ली पर भी शिवाजी के ही अधिकार को मान्यता दी। अपने सौतेले भाई की इस सफलता पर वेणकोजी का हृदय दुख और निराशा से भर उठा और अन्त में उसने संसार को त्याग कर वैरागी हो जाने का निश्चय किया। इस अवसर पर शिवाजी ने अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय देते हुए अपने सौतेले भाई को सन्तुष्ट करने के लिए उसने सम्पूर्ण पैतृक अधिकारों को वेणकोजी को सौंप दिया। उसकी इस उदारता का इच्छित प्रभाव पड़ा वेणकोजी ने सन्यास लेने का विचार त्याग दिया और अपने जीवन प्रर्यन्त तंजौर पर शासन करता हुआ १६८७ में मर गया। मराठा संघ के हितों की दृष्टि से, यदि इस अवसर पर शिवाजी ने भावना की अपेक्षा नीति को अधिक महत्व देकर देश के इस भाग में अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाता तो निश्चित रूप से भविष्य में मराठों को इससे बहुत लाभ होता। तन्जौर राज्य तथा अन्य जागीरों का स्वामित्व वेणकोजी को प्रदान करके उसने उस क्षेत्र को मराठा संघ का एक अंग होने से वंचित कर दिया और इस प्रकार मुख्य मराठा राज्य से पृथक रहने के कारण तन्जौर राज्य को अनेकानेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। वेणकोजी में एक शासक की योग्यता एवं दृढ़ता नहीं थी. और मैसूर में स्थित अपने अधीनस्थ क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाए रखने में असमर्थ होने के फलस्वरूप उसे बँगलोर की जागीर का स्वामित्व मैसूर के राजाओं को बेच देने के लिए विवश होना पड़ा। जिसके लिए मैसूर के राजाओं को केवल तीन लाख रुपया व्यय करना पड़ा। इस प्रकार वेणकोजी क अधीनस्थ पुराने क्षेत्रों के हाथ से निकल जाने के कारण तंजौर मराठों के प्रारम्भ में अधिकृत दक्षिणी भारत के क्षेत्रों से पूर्णतः पृथक हो गया। और थोड़ा समय भी नहीं बीत पाया था कि तंजौर राज्य पर एक तरफ से अंग्रेजों द्वारा, तथा दूसरी तरफ से मैसूर के सूल्तान हैदर अली तथा पुत्र टीपू आक्रमण करने की घात में लग गए।

वेणको जी की मृत्यु १६८७ में हुई जिसके पश्चात् उसके तीनों पुत्र—शहाजी, सरफोजी और तुकोजी बारी-बारी से तंजौर के सिंहासन

पर बैठे, और इन तीनों भाइयों ने कुल मिलाकर लगभग पचास वर्षों (१६८५ से १७३५ तक) तंजौर पर राज्य किया। शहाजी के शासन काल में तंजौर के इतिहास की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी मुगल सेनापति द्वारा तंजौर पर आक्रमण। सम्भाजी की मृत्यु तथा मुगलों द्वारा उसके पुत्र शाहू के कैद कर लिये जाने के पश्चात् दक्षिणी भारत में स्थित मराठों में इतनी सामर्थ्य नहीं रह गई थी कि वे औरंगजेब की सेनाओं का सामना कर सकते। उधर शिवाजी का द्वितीय पुत्र राजाराम राष्ट्रीय भावना तथा स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रेरणा से भरे हुए मराठा सरदारों तथा राजनीतिज्ञों के साथ मुगलों के विरुद्ध पुनः शक्ति संगठित करने के ध्येय से दक्षिण की ओर चल पड़ा और पाण्डिचेरी के निकट स्थित गिंगी दुर्ग को अपना मुख्य केन्द्र बनाया। जैसा कि पीछे वर्णन किया जा चुका है अनेक वर्षों तक मुगलों का घेरा दक्षिण पर पड़ा रहा और कुछ अंशों में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, इसी अवधि में मुगल सेनापति ने तंजौर पर आक्रमण करके राजा से कर भी वसूल किया, साथ ही त्रिचनापल्ली जिले में स्थित राजाराम द्वारा अधिकृत क्षेत्र के भाग के अधिकार से राजाराम को वंचित कर दिया। शहाजी की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद उसके दोनों भाई सरफोजी और तुकोजी तंजौर के सिंहासन पर बैठे जिनके शासन काल में तंजौर के मराठों ने रामेश्वर के पड़ोस में स्थित मर्व देश तक अपनी शक्ति एवं अपने प्रभाव का विस्तार किया। १७३० के लगभग उन्होंने शिवगंगा तथा रामनाथ के जमीन्दारों को भी पराजित करके अपने अधीन कर लिया। ये जमीन्दार इतनी छलपूर्ण नीति वाले थे कि जब तंजौर का शासक दृढ़ एवं शक्ति सम्पन्न रहता था, तो वे उसकी अधीनता में रहते थे, परन्तु जब राज्य का उत्तराधिकार किन्हीं निर्बल हाथों में पड़ जाता था तो वे पुनः उस राजा का विरोध करने लगते थे।

सिदोजी तथा माणको जी नामक दो मराठा सरदारों ने १७६३ तथा १७७१ में देश के इस भाग पर अन्तिम विजय प्राप्त करने में सफलता पाई जिन्होंने इन प्रयत्नों में उल्लेखनीय साहस एवं वीरता का परिचय दिया; १७४२ तथा १७६३ के बीच हुए युद्ध में भी माणकोजी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया था।

पचास वर्षों के शासन-काल के पश्चात् जब एक के बाद एक वेणको जी के तीनों पुत्र-शहाजी, सरफो जी और तुको जी मृत्यु को प्राप्त हो गए तो १७३५ से १७४० के बीच अनेक राजा तन्जौर के सिंहासन पर आए और गए, जिसका कारण यह था कि उनमें से कुछ की तो असमय ही मृत्यु हो गई; दूसरे अब तन्जौर के राजाओं के विषय में मुगल सेनापति भी हस्तक्षेप करने लगे थे और अपने पक्ष के व्यक्ति को ही सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न करते थे। अन्त में तन्जौर की सेवा में नियुक्त मराठा अधिकारियों ने प्रतापसिंह को तन्जौर के सिंहासन पर बैठाने में सफलता प्राप्त की, जो कि तुकोजी का अवैध पुत्र था; प्रतापसिंह १७४० में सिंहासन पर बैठा और उसने लगभग ३३ वर्षों तक राज्य किया।

प्रतापसिंह के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में ही तन्जौर ने दक्षिणी भारत पर सतारा के राजा की संघीय सेना को द्वितीय आक्रमण देखा जिसका नेतृत्व नागपुर का रघुजी भोंसले कर रहा था। संघीय अभियान सतारा से भेजे गए महत्वपूर्ण सैनिक अभियानों में से एक था और यदि तन्जौर के मराठों ने द्वेषभाव भूलकर अपने बन्धुओं का साथ दिया होता और त्रिचनापल्ली के पास प्राप्त विजयों के पश्चात् रघुजी भोंसले युद्धों के क्रम को बनाए रखता तो इस संघीय सेना ने दक्षिण में अपनी विजयों को स्थायित्व प्रदान कर दिया होता। परन्तु रघुजी भोंसले ने त्रिचनापल्ली में प्राप्त सफलता के पश्चात् वहाँ एक सैन्यदल छोड़कर ही सन्तोष कर लिया, उसने चन्दासाहब को भी कैद कर लिया और सतारा भेज दिया। इस समय पेशवा उत्तरी भारत में मुगल सत्ता की जड़ों पर ही कुल्हाड़ी मारने की चिन्ता में व्यस्त था और उसका सारा ध्यान मुगल सत्ता को उखाड़ फेकने की योजनाओं में लगा हुआ था; रघुजी द्वारा किया गया दक्षिण-अभियान पेशवा-विरोधी नीति का परिणाम था; रघुजी भोंसले के साथ ही अनेक मराठा सरदारों का यह मत था कि उत्तरी भारत (हिन्दुस्तान) में अपने प्रभाव का विस्तार करने की अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि दक्षिणी प्रान्तों पर ही स्थायी रूप से अधिकार कर लिया जाय; और वे इसी नीति को अपनाने का आग्रह शाहू महाराज से करते थे। इस दक्षिण-अभियान से वापस लौटने के

पश्चात् रघुजी भोंसले जब सतारा लौटा तो बंगाल और पूर्वी भारत की समस्याएँ उसकी प्रतीक्षा कर रही थी; जिसके फलस्वरूप हैदर-अली-अली के उत्कर्ष के पूर्व मराठे दक्षिणी भारत की ओर ध्यान न दे सके। जब पांडिचेरी के फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले के आग्रह पर शाहू ने चन्दा साहब को मुक्त कर दिया, और उसके पश्चात् ही, १७५० से अंगेजों एवं फ्रान्सीसियों में युद्ध प्रारम्भ हो गया जो निरन्तर दस वर्षों तक चल कर १७६० में समाप्त हो गया। इस युद्ध में तंजौर के राजाओं ने मुहम्मद अली का साथ दिया जो कि अंग्रेजों के पक्ष का था, जब कि इस समय संघीय सेना का दक्षिणी प्रतिनिधि मुरारराव घोरपड़े फ्रासीसियों के पक्ष में था, अतः इस आंग्ल-फ्रेन्च युद्ध में तन्जौर को घोरपड़े के हाथों पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ा, और मुरारराव ने एक ऐसे अवसर पर तन्जौर पर आक्रमण कर दिया जब कि अंग्रेजो सेना तन्जौर की सहायता के लिए नहीं पहुँच सकती थी। कुछ समय पश्चात् ही फ्रांसीसी जनरल लल्ली ने भी तंजौर को लूटा, परन्तु इस अवसर पर अंग्रेजी सेना ने पहुँच कर तंजौर को विनष्ट होने से बचा लिया। जब तक कर्नाटक में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों का युद्ध चलता रहा, माणकोजी के नेतृत्व में तंजौर की सेना ने अंग्रेजों के पक्ष में और फ्रासीसियों के विरुद्ध पर्याप्त महत्वपूर्ण भाग लिया।

यद्यपि इस दस वर्षीय आंग्ल फ्रेच युद्ध में तंजौर के महा-राजाओं ने अंग्रेजों का पूरा साथ दिया था, और यहाँ तक कि अपने देशबन्धुओं के विरोधी भी बन बैठे थे, परन्तु उनके त्यागों की अपेक्षा करते हुए, नवाब मुहम्मद अली ने तंजौर के राजाओं से विरोध भाव रखने लगा; वास्तव में तंजौर अपनी समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था, और नवाब की दृष्टि तंजौर की अपार सम्पत्ति पर गड़ी हुई थी। अन्त में नवाब मुहम्मद अली और तंजौर के राजाओं में इतना अधिक विरोध हो गया कि १७६२ में अंग्रजों को हस्तक्षेप करना पड़ा; अन्त में अंग्रेज नवाब और तंजौर के महाराजा के बीच एक शान्तिपूर्ण समझौता कराने में सफल हुए जिसके अनुसार राजा ने करके रूप में नवाब को प्रतिवर्ष चार लाख रूपया देना स्वीकार किया, जिसके बदले में अंग्रेजों ने तंजौर की सुरक्षा की गारन्टी ली। कुछ वर्ष पश्चात

सन् १७७१ में नवाब मुहम्मद अली ने तंजौर पर आक्रमण करने के लिए मद्रास सरकार की सहायता प्राप्त की; इस समय तन्जौर के सिंहासन पर प्रतापसिंह का पुत्र तुलसाजी आसीन था; वह नवाब और मद्रास सरकार का सम्मिलित सेना का सामना करने का साहस नही कर सका, और युद्ध स्थगन के लिए वह नवाब और अंग्रेजों को इतना अधिक धन देने के लिए विवश हुआ कि तंजौर राज्य ऋण के बोझ से दब गया, इधर वैसे ही तन्जौर राज्य की आय कम हो गई थी, अब इस अतिरिक्त परन्तु आवश्यक व्यय ने राज्य के संसाधनों को और भी सीमित कर दिया।

इस द्वितीय सन्धि में मद्रास सरकार की नीति निर्धारित करने वाले अंग्रेज अधिकारियों तथा नवाब मुहम्मद अली के लोभ के आगे तन्जौर के राजा के हितों को पूर्णरूपेण बलिदान कर दिया गया। अंग्रेज सरकार ने ही १७६२ में नवाब मुहम्मद अली और तन्जौर के राजा के बीच समझौता कराकर तन्जौर सुरक्षा की गारन्टी ली थी, परन्तु उनके प्रबल लोभ की आँधी में गारन्टी का यह वचन एक साधारण से तिनके की भाँति उड़ गया। दो वर्ष पश्चात् ही, १७७३ में नवाब मुहम्मद अली ने पुनः तन्जौर में उपद्रव मचाना प्रारम्भ कर दिया और अन्त में अपने अंग्रेज सहायक के बल पर तन्जौर के राजा को बन्दी बना लिया और उसके राज्य पर अधिकार करके अपने राज्य में मिला लिया। छल, कपट तथा विश्वास-घात् से परिपूर्ण इन कृत्यों को मद्रास सरकार ने स्वयम् अपने, तथा नवाब मुहम्मद अली के अंग्रेज महाजनों के हित के लिये, अपने ही उत्तरदायित्व पर किया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के इंग्लैण्ड स्थित कोर्ट आव डाइरेक्टर्स को तन्जौर के विरुद्ध की जानेवाली इन कारवा-इयों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं था और जब उन्हें मद्रास सरकार की इन अन्यायपूर्ण गतिविधियों की विस्तृत सूचना मिली तो उन्होंने इस विश्वासघात् पूर्ण कार्य के लिए मद्रास सरकार की बहुत भर्त्सना की। उन्होंने मद्रास के गवर्नर को तुरन्त भारत छोड़कर इंग्लैण्ड वापस लौटने का आदेश भेजा और तुलसाजी को इसके पैतृक सिंहासन पर आसीन कराने का दृढ़ निश्चय प्रकट किया। कोर्ट आव डाइरेक्टर्स द्वारा भेजे गए इन आदेशों का परिपालन

१७७६ के अन्त तक हो गया। तन्जौर पर अपने शासन-काल के तीन वर्षों की अवधि में नवाब मुहम्मद अली ने उस राज्य के समस्त आर्थिक संसाधनों का भरपूर पोषण किया, और तन्जौर राज्य की भूतपूर्व समृद्धि एवं सम्पदा को कुछ सीमा तक वापस लाने में मराठों को पूरे दस वर्ष लग गए।

इसी समय अंग्रेजों तथा हैदर अली के मध्य विवाद उत्पन्न हुआ तथा युद्ध छिड़ गया जिसके दौरान में हैदर अली ने इस छोटे एवं दुर्भाग्यपूर्ण राज्य की विकासोन्मुख प्रगति को अवरुद्ध करके इससे पूरा बदला चुकाया, और १७८२ में उसकी लुटेरी टुकड़ियों ने तन्जौर के सम्पूर्ण क्षेत्र में लुट-पाट मचाकर राज्य की स्थिति को अत्यन्त चिन्ताजनक बना दिया। जिस समय तंजौर राज्य इस प्रकार की राजनैतिक एवं आर्थिक आपदाओं से घिरा हुआ था, उसी समय १७८७ मे अचानक तुलसोजी की मृत्यु हो गई जिसने कि तंजौर पर कुल ग्यारह वर्ष राज्य किया था। चूँकि तंजौर राज्य प्रारंभ से ही मुख्य महाराष्ट्र के मराठा राज्य से पृथक हो रहा था इसलिए संघीय सेनाओं द्वारा किए गए दक्षिण अभियानों तथा उनके हाथों हैदर-अली की पराजय से दुर्दशाग्रस्त तंजौर राज्य को कोई भी सहायता न प्राप्त हो सकी, क्योंकि हैदर और अंग्रेजों के बीच होने वाले संघर्ष में तंजौर अंग्रेजों का सहायक था, इसलिए अवसर पाते ही हैदर तंजौर शासन को परेशान करने लगता था। इन बीस वर्षों के युद्धमय वातावरण में तंजौर राज्य को इतनी अधिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा कि टीपू की अन्तिम पराजय तथा मैसूर राज्य के विलयन के पश्चात् दक्षिणी भारत में पूर्ण शान्ति एवं सुव्यवस्था के स्थापित हो जाने पर भी यह राज्य फिर न पनप सका। बाह्य आक्रमणों के साथ-साथ यह राज्य आन्तरिक संघर्षों का रंगमंच भी बना रहा। तुलसोजी के गोद लिए गए पुत्र के सिंहासन पर बैठने के कुछ समय पश्चात् ही उसके सौतेले भाई अमरसिंह ने उसे पदच्युत करके अपनी सत्ता जमा ली। इस समय तक मद्रास सरकार की छलपूर्ण नीति के कारण तंजौर राज्य पर ऋण का भार इतना अधिक हो गया था, साथ ही राज्य की आय के साधन इतने सीमित हो गए थे कि राजा को सारी व्यवस्था

सम्भालना असम्भव दिखाई पड़ने लगा था। पदच्युत कर दिए जाने के पश्चात् तुलसोजी के दत्तक पुत्र सरफोजी ने डेनिस मिशनरी, मिस्टर श्वार्ट्ज की सहायता प्राप्त की, और इंग्लैण्ड के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भी उसी को तुलसोजी का न्याय उत्ताराधिकारी होने की मान्यता दी; अतः १७९८ में पुनः उसको तंजौर के सिंहासन पर बिठाया गया तथा अमरसिंह को पेंशन देकर राजपद छोड़ने के लिए विवश किया गया। जब टीपू पतन के पश्चात् मारक्विस वेल्जली ने पुनः मैसूर की प्रशासनिक व्यवस्था के संगठन का कार्य आरंभ किया तो उसने तंजौर राज्य की स्वतंत्रता को समाप्त करने की योजना भी बना ली। उसने राजा सरफोजी को इस बात पर तैयार करने में सफलता प्राप्त कर ली कि वह अपने राज्य सम्बन्धी समस्त अधिकारों का परित्याग कर दें और ब्रिटिश सरकार से प्रति वर्ष पेंशन के रूप में एक निश्चित रकम प्राप्त करके नाममात्र का राज्य बना रहे। सरफोजी जीवन पर्यन्त राजपद तथा ब्रिटिश सरकार की पेंशन का उपभोग करता रहा, और १८३३ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् पद और पेंशन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हुआ, और १८४५ में उसकी भी मृत्यु हो गई। परंतु उसके कोई भी पुत्र नहीं था, अतः तंजौर राज्य को कम्पनी सरकार ने लावारिस घोषित करके अपने राज्य में मिला लिया और राजवंश की रानियों को पेंशन तथा उनके भूतपूर्व महल में निवास की सुविधा प्रदान की गई। रानियों की निजी सम्पत्ति पर भी कम्पनी ने अधिकार कर लिया था, परंतु अनेक वर्षों तक मुकदमा लड़ने के पश्चात् उन्हें उनकी सम्पत्ति वापस कर दी गई।

पिछले पृष्ठों में सुदूर दक्षिण में स्थापित मराठों के छोटे से सैनिक उपनिवेश की दुर्भाग्यपूर्ण कहानी का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है जब मुख्य महाराष्ट्र संघ मुगलों की समूची शक्ति से लोहा लेकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने, तथा निरंतर बीस वर्षों तक मुगलों से संघर्ष करक अपनी स्वतंत्रता को वापस प्राप्त करने म सफलता पाई, इस एकाकी मराठा उपनिवेश ने मराठा-संघ में सम्मिलित न होने की हठधर्मी पकड़े रहने, और अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने की जिद के कारण स्वयम् को कर्नाटक के युद्धों में बुरी तरह से झोंक दिया। १७६२ में ही इस

राज्य की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गई जब कि अंग्रेजों की मध्यस्थता में नवाब मुहम्मद अली तन्जौर के राजा से कर वसूलने लगा। इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यदि तन्जौर के राजाओं ने अपने पैतृक राज्य के संगठन में सम्मिलित न होने की महान भूल न की होती, या कम से कम मराठा संघ से सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध ही बनाए रक्खा होता, तो मराठा संघ द्वारा दक्षिण पर किए गये अनेक आक्रमणों में इस राज्य ने महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाई होती, विशेष कर उन आक्रमणों में जो १७६२ तथा १७९२ के बीच किए गए थे, जिनमें से सभी युद्धों में मराठा सेनाओं ने सर्वत्र विजय प्राप्त की थी। जिस हैदरअली के कारण तन्जौर के राजाओं को इतने संकट उठाने पड़े थे, उसे मराठा संघ की सेनाओं ने अनेक बार पराजित करके युद्ध स्थगन के लिए उससे तथा उसके पुत्र टीपू से प्रत्येक बार अपार धनराशि प्राप्त की थी तथा मैसूर राज्य के पर्याप्त क्षेत्र को मराठा राज्य में मिला लिया था, यदि तंजौर भी संघ के साथ रहता तो हैदरअली या नवाब मुहम्मद अली में इतना साहस नहीं था कि तंजौर की तरफ आँख उठाते। परन्तु अपनी हठधर्मी के कारण तंजौर को भी उसी परिणाम का भागी होना पड़ा जो गूटी में स्थिति मराठा उपनिवेश के सामने आया था, गूटी की मराठा रियासत के पतन का भी यही कारण था कि इसने भी मराठा संघ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रक्खा था और अपनी सत्ता को सर्वथा स्वाधीन बनाए रखने के पक्ष में था। ऊपर हमने दक्षिणी भारत में बहुत पूर्व से ही स्थापित जिस मराठा राज्य की कहानी का संक्षिप्त वर्णन करने का प्रयत्न किया है, उससे हम इसी पाठ को सीखते हैं और यह एक ऐसा पाठ है जो मराठा शक्ति की सुदृढ़ता एवं निर्बलता के कारणों को स्पष्ट करता है। जब तक मराठे संघबद्ध रहे सर्वत्र विजय प्राप्त करते रहे, परन्तु संगठन-सूत्रों के बिखर जाने पर वे अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने में असफल सिद्ध हुए।

—:*:—

तेरहवाँ अध्याय

अनुक्रमणिका

मराठी ऐतिहासिक वृत्तान्तों पर विहंगम दृष्टि

इतिहास के विद्यार्थियों के समक्ष यह तो स्पष्ट ही है कि कैप्टेन जेम्स ग्रान्टडफ लिखित मराठों का प्रामाणिक (१) इतिहास पर्याप्त अंशों में मराठी बखरों अथवा वृत्तान्तों तथा अन्य तत्कालीन मौलिक कागज़ पत्रों पर आधारित है जो कि लेखक के अधिकार में थे। इनमें से अनेक कागजातों की प्रतिलिपियाँ भी ग्रान्ट डफ़ द्वारा तैयार कर ली गई थी, जिन्हें कि उसने अपने ही कथनानुसार (२) बम्बई की लिटरेरी सोसाइटी में जमा कर दिया था। उस समय इन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रमाणों को सुरक्षित करने के लिए यही किया भी जा सकता था जिससे कि मराठा इतिहास के विद्यार्थियों को यह सुविधा मिल सके कि वे उन मौलिक सामग्रियों का निरीक्षण एवं अध्ययन कर सकें जिनकी सहायता से ग्रान्ट डफ़ ने अपने मराठा इतिहास को प्रामाणिक सिद्ध किया। दुर्भाग्यवश आज से बहुत पूर्व ही बम्बई स्थित इस लिटरेरी सोसाइटी का अस्तित्व समाप्त हो चुका है और अब ग्रान्ट डफ़ द्वारा जमा किए गए ऐतिहासिक वृत्तान्त एवं अन्यान्य पत्रों का कोई चिन्ह प्राप्त होना असम्भव है। मैंने इस सम्बन्ध में रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में स्वयं भी खोज की और सम्बन्धित अधिकारियों से पूछताछ भी की जो कि लिटरेरी सोसाइटी की उत्तराधिकारिणी संस्था है, परन्तु इस पुस्तकालय में भी उक्त पान्डुलिपियाँ नहीं मिल सकीं और दो

---

(१) देखिए 'इंटर एलिया' (Inter alia) जेनरल, बम्बई शाखा, रायल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्व ६ पृ. ६,९,३३, तथा वाल्व १०,पृ.१२०.

(२) देखिए 'इंटर एलिया' विविध ज्ञान विस्तार, बाल ८, पृ. २१३, बाल, ९,पृ. २४७। पूना कालेज के एक छात्र (अब बहादुर नीलकण्ठ जनार्दन किर्तने) द्वारा ग्रान्ट डफ के 'हिस्ट्री आफ दि मराठाज़' का विवेचन (रिव्यू) पृ.९ ।

सोसाइटियों में से किसी के भी रिकार्ड पर—जो कि इस समय प्राप्य हैं, उनके सम्बन्ध में कोई उल्लेख ही नहीं मिलता। कुछ लोगों में इधर कुछ वर्षों से यह विचार प्रश्रय पा रहा है (३) कि उपरोक्त पाण्डुलिपियों को जला डाला गया और यदि इस कृत्य के लिए ग्रान्ट डफ ने स्वयं आदेश नहीं दिया था तो इसकी जानकारी उसे अवश्य थी। मुझे इस बात पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है, और न तो मैं उन्हीं कारणों को ढूँढ़ पाने में सफल हो सका हूं जिनके आधार पर लोगों ने ऐसा विचार बना लिया है। (४) साथ ही इस काण्ड की कथा भी इतनी अविश्वसनीय प्रतीत होती है तथा इनाम कमीशन द्वारा महत्वपूर्ण कागजों एवं पत्रों को जलाए जाने से सम्बन्धित कहानी से इतनी मिलती जुलती है, कि इस पर अधिक विचार करना व्यर्थ प्रतीत होता है। इस मनगढ़न्त कहानी की उत्पत्ति सम्भवतः उस समय हुई होगी जब कि लोगों को यह विश्वास हो गया कि रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के पुस्तकालय की आलमारियों में ये पाण्डुलिपियाँ नहीं हैं।

---

(३) मुझे बताया गया है कि सतारा में इस विचार का कोई प्रभाव नहीं है जहाँ कि ग्रान्ट डफ की नियुक्ति की गई थी।

(४) ऊपर की नोट संख्या में जो आधार दिया गया है वह निश्चित रूप से तत्वहीन है और वर्तमान परिस्थितियों में उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसी रिव्यू में किसी 'दक्षिणी कमिश्नर' का भी उल्लेख किया गया है जिसने इन पाण्डुलिपियों को जलाने में सहायता पहुँचाई थी। जिस व्यक्ति द्वारा प्राप्त सूचना पर यह कथा आधारित है, उसका नाम इस रिव्यू के द्वितीय संस्करण के पृ. २८ पर दिया हुआ है। परन्तु मैं नहीं समझता कि उससे इस कहानी को कोई प्रामाणिकता मिलती है। मि० क्रिटने ने अपनी रिव्यू के दूसरे संस्करण (पृ. ६५-६७) में स्वयम् ही इस कहानी के प्रति अविश्वास व्यक्त किया है, और अविश्वास के कारण भी दिए हैं। इस सम्बन्ध में मैं इसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ कि सर एच. एलियट की 'हिस्ट्री आव इंडिया' (प्रोफेसर डाउसन द्वारा सम्पादित) (वाल ७ पृ.६, और २१०) से ऐसा प्रतीत होता है, कि ग्रान्ट डफ की पान्डुलिपियों में से एक अन्य पान्डुलिपि भी अप्राप्य हो गई है जो कि किसी मूल मुसलमानी विवरण का अनुवाद था।

फिर भी मराठा इतिहास से सम्बन्धित कुछ कागज़ात पिछले दस वर्षों के अन्दर ही प्रकाशित कर दिए गये हैं, और मराठा पाठक उससे लाभ उठा सकते हैं। इन पाण्डुलिपियों के साथ ही कुछ ऐसे वृत्तान्त प्रदर्शित किए गए हैं जिनका पता ग्रान्ट डफ़ के समय में निश्चित रूप से था ही नहीं। इन दोनों वर्गों के प्रकाशित विवरणों से हमारे समक्ष मराठा इतिहास के सम्बन्ध में अत्यन्त ही रोचक और अज्ञात घटनाओं का एक नया ही पृष्ठ खुलता है यद्यपि इन प्रकाशित विवरणों में वर्णित घटनाएँ ग्रान्ट डफ़ द्वारा लिखित मराठा इतिहास के क्षेत्र से परे है और संयोगवश ही उसने इनमें से एकाध की तरफ संकेतमात्र कर दिया है, शेष का उल्लेख भी इस इतिहास में नहीं दिया गया है। ग्रान्ट डफ़ ने अपने इतिहास में यदि पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः मराठों के युद्ध के राजनैतिक इतिहास का ही वर्णन करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है जब कि मराठों की धार्मिक एवं सामाजिक प्रगति को इसमें कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है, यद्यपि कहीं-कहीं आवश्यक हो जाने पर यत्रतत्र उन पर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया गया है।

यह सत्य है कि जिन कागज़ातों का उल्लेख ऊपर किया है उनमें भी विभिन्न समयों में घटे राजनैतिक क्रम को ही अधिक महत्व दिया गया है, तथा यह कहा जा सकता है कि इन विवरणों एवं वृत्तान्तों का मुख्य विषय उस काल का राजनैतिक घटनाक्रम ही है जिस समय वे लिखे गए हैं। (५) फिर भी जब ये वृत्तान्त एवं विवरण मौलिक रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते हैं तो उनमें मराठों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में ऐसे प्रयोगात्मक उल्लेख मिलते हैं जिनका उपयोग आज भी किया जा सकता है जब कि ग्रान्ट डफ़ द्वारा प्रयुक्त उन

---

(५) प्रोफेसर डाडसन द्वारा सम्पादित सर एलियट की 'हिस्ट्री आव इंडिया' में (बाल १ पृ. १६,२३) में कोई भी पाठक हिन्दू लेखकों द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक वृत्तान्तों की अत्यन्त ही कटु आलोचना पढ़ सकता है जिसका निरीक्षण सर एलियट को करना पड़ा था और जहाँ तक मेरी जानकारी है, सर एलियट द्वारा की गई यह आलोचना निराधार नहीं है।

पाण्डुलिपियों में जो इस समय अप्राप्य हैं, ऐसे उल्लेखों का मिलना आवश्यक नहीं है और ऊपर दिए हुए कारणों से हम नकल के रूप में भी उन विवरणों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जिनका वर्णन उनमें किया गया था। अतः प्राप्य एवं अप्राप्य पाण्डुलिपियों में वर्णित विषयों के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मराठों के धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास पर इन प्राप्त विवरणों में जितना प्रकाश डाला गया है, वह बहुत अधिक नहीं है, और केवल यत्र-तत्र, प्रकाश की कोई किरण इन विषयों पर भी पड़ गई है। यह एक अत्यन्त ही अभाग्यपूर्ण विषय है कि इस थोड़ी-सी जानकारी में कुछ अतिरिक्त प्रकाश की किरणों को जोड़ने का मार्ग ग्रान्ट डफ़ द्वारा प्रयुक्त पाण्डुलिपियों की अप्राप्यता के कारण अब बन्द हो चुका है। इन पाण्डुलिपियों के अभाव में हमारा यह विचार है कि प्रस्तुत अध्याय में मराठों के सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास पर बिखरे हुए रूप में पड़ने वाली ऐसी प्रकाश की किरणों को एकत्रित करके उनका केन्द्रीकरण किया जाय जो उन पत्रों एवं विवरणों से प्राप्त हो तो सके जिनको पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित करके जन-साधारण के लिए सुलभ कर दिया गया है और जिनका संकलन 'कायस्थ प्रभुच्या इतिहासाचिन साधनेन' के 'विविध-ज्ञान विस्तार' में तथा 'काव्येतिहास संग्रह' (६) में किया गया है।

इस स्थल पर पाठकों की रुचि का मुख्य विषय मेरे विचार से यही हो सकता है कि मराठों के प्रभुत्वकाल में जनता के

---

(६) प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में मैंने मुख्यतः इन्हीं स्रोतों का प्रयोग किया है। कुछ अन्य स्रोतों का भी उपयोग किया गया है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। बखर का जो अनुवाद प्रोफ़ेसर फारेस्ट के 'सेलेक्शन्स फ्राम बाम्बे स्टेट पेपर्स' (वाल १) में रक्खा गया है, मेरे विचार से उसके कुछ अंशों का यथार्थ अनुवाद नहीं हो सका है, और अनुवाद भी कुछ संक्षिप्त हो गया है। उदाहरण के लिए अनुवाद में एक स्थान (पृ. २५) पर 'शिवाजी के हृदय से भी काली रात्रि' जैसा वाक्य खण्ड मिलता है, जब कि यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि मूल बखर का लेखक लोकनायक शिवाजी के सम्बन्ध में ऐसी बात लिखने का साहस कर सके, जब कि लेखक स्वयम् एक मराठा था, और इस बखर की रचना रायगढ़ में हुई थी।

सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के प्रति राज्य का दृष्टिकोण क्या था। इस विषय में हमारे पास जानकारी के ऐसे स्रोत हैं जिनकी सहायता से हम यह वर्णन उस काल से प्रारम्भ कर सकते हैं जब कि मराठा शक्ति की स्थापना का कार्य प्रारम्भ ही हुआ था और इसके संस्थापक ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी नई परम्परा की स्थापना की थी। इस स्थल पर यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि उस समय की प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी प्रत्येक दिशा में व्याप्त सैनिक-आतङ्कों के बावजूद भी (७) शिवाजी ने अवसर निकाल कर, तथा अपनी असाधारण प्रतिभा का प्रयोग करके प्रशासन की एक ऐसी क्रमबद्ध प्रणाली (८) का संगठन कर डाला जिसकी तुलना में केवल एक काल को छोड़कर, मराठा इतिहास के किसी भी अन्य काल की शासन प्रणाली महत्वहीन मानी जा सकती है, और वह एक काल है उस सर्वगुण सम्पन्न पेशवा माधवराव प्रथम का (६)। शिवाजी द्वारा स्थापित शासन प्रणाली का सर्वाधिक महत्व-पूर्ण अंग था एक प्रशासक मण्डल का संगठन,–जो अष्ट प्रधान (१०) के नाम से प्रसिद्ध है और इन अष्ट प्रधानों की समीति में पंडित-

---

(७) बर्नियर ने अपनी 'ट्रवेल्स' में (देखिए, कान्स्टीबुल्स ओरिएंटल मिसेलेनी का नया संस्करण, पृ. २२०-२१) और ओविगटन ने 'वॉयेज टु सूरत' (पृ. १८६-२२८) में, उस समय की सेनाओं की विशालता, तथा उनके ऊपर किए जाने वाले अत्यधिक व्यय के सम्बन्ध में कुछ विवरण प्रस्तुत किया है।

(८) ग्रान्ट डफ, वाल १, पृ. २२३ से और आगे।

(६) माधव राव के विषय में देखिए ग्रान्ट डफ, वाल, २, पृ. २०८ और आगे; और इस वर्णन की तुलना फारेस्ट के 'बाम्बे सेलेक्शन्स', वाल १, पृ. २५० तथा Fryer's फ्रायर्स ट्रवेल्स, पृ. ७६, १४६ में दिए वर्णनों से कीजिए।

(१०) देखिए ग्रान्ट डफ, वाल १, पृ. २३५ और आगे और निम्नलिखित से तुलना कीजिए—चित्रगुप्त लिखित शिवाजी का जीवन चरित्र (पृ. १०३) सभासद द्वारा लिखित शिवाजी का जीवन (पृ. ६६) विविध ज्ञान विस्तार (वाल १३, पृ. २३८, और आगे; फारेस्ट का सेलेक्शन्स पृ. १४, ८०)।

राव (११) का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था। अन्य मंत्रियों एवं उच्च अधिकारियों की भाँति उसके कार्यों, कर्तव्यों एवं अधिकारों का वर्णन भी एक स्मृतिपत्र में किया गया है।

जिसके प्रारम्भ में दिए गए विवरण से ज्ञात होता है कि यह स्मृति-पत्र ज्येष्ठ वदी १३, वार मंगलवार को राज्याभिषेक के प्रथम वर्ष

---

(११) इस वर्णन में हम जिन स्रोतों का प्रयोग कर रहे हैं उनमें पंडित राव के पद एवम् अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न वर्णन दिए गए हैं जो एक दूसरे से मेल नहीं खाते। मराठा साम्राज्य बखर (पृ. २८) के अनुसार शिवाजी द्वारा सूरत में की गई लूट के कुछ समय पश्चात् इस पद की स्थापना की गई थी और इस पद के निर्माण का उद्देश्य था, एक ऐसे अधिकारी की नियुक्ति जो ब्राह्मणों को दान के रूप में दी गई भूमि व सम्पत्ति की रक्षा करे जिससे राज्य में सत्य एवं की रक्षा सम्पन्न हो सके। मल्हार रामराव चिट-निस भी इस वर्णन से सहमति प्रकट करते हुए (देखिये विविध ज्ञान विस्तार, भाग १०, पृ. ८) कहता है, कि शिवाजी ने अपनी समस्त प्रशासनिक संस्थाओं की स्थापना इसी समय की थी। कृष्णाजी अनन्त सभासद (पृ. २३) का कथन है कि जिस समय मिरजा राजा जयसिंह से वार्ता करने के लिए शिवाजी ने किसी योग्य व्यक्ति की खोज में दृष्टि दौड़ाई तो उसे इस कार्य के लिए रघुनाथ पंडित ही योग्यतम व्यक्ति प्रतीत हुआ, जब उसे इस कार्य के लिए नियुक्त कर दिया गया, तो उसके रवाना होने से पूर्व शिवाजी ने उसे पंडितराव की उपाधि देकर सम्मानित किया। इस नियुक्ति का उल्लेख चिटनिस भी करता है। चित्रगुप्त ने शिवाजी की जीवनी (पृ. १०५) में, तथा भोंसले बखर के लेखक गुप्ते (पृ. १०) ने इस पद की स्थापना शिवाजी के राज्यभिषेक के समय में हुई बताते हैं। पण्डितराव के कर्तव्यों के विषय में देखिए-चिटनीस लिखित राजनीति (पृ. १०,३०) और निम्नलिखित से तुलना कीजिए—मलकम लिखित सेन्ट्रल इण्डिया (भाग २, पृ. ४२६), और फॉरबीज लिखित ओरि-यन्टल मेम्वायर्स (भाग १, पृ. २१४) इस पृष्ट पर लिखे गए शब्द 'जेइरम बोप्पट Jairam Bopput—का क्या अर्थ हो सकता है—सम्भव है कि यह शब्द जयराम वापत के लिए व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया गया हो। ध्यावदासो बखर में स्वामी के मृतक संस्कार के सम्बन्ध में पंडितराव का उल्लेख किया गया है।

(१६७४) में लिखा गया था, (१२) इस स्मृतिपत्र के अनुसार पंडित राव का मुख्य कर्तव्य है राज्य की सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं धार्मिक व्यवस्था सम्भालना तथा जो लोग धर्मानुकूल आचरण न करते हों, उनकी खोज करना, तथा पूरी तरह जाँच करने के पश्चात् धार्मिक अपराधियों को यथोचित दण्ड देना इसके अतिरिक्त उसके अन्य मुख्य कर्तव्य हैं राज्य की ओर से विद्वानों का स्वागत करना एवं उनको प्रोत्साहन देना, तथा राज्य की ओर से आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जो आदेश जारी किए जाँय, उन पर राजा के नीचे अपना हस्ताक्षर करना (१३) जो कि धर्मशास्त्र के तीन मुख्य अंग हैं। 'शान्ति' (१४) समारोह तथा अन्य धार्मिक समारोहों को विधिपूर्वक सम्पन्न कराना तथा राजा द्वारा दिए जाने वाले दानों का उचित वितरण करना भी उसके कर्तव्यों के अन्तर्गत आते है। मल्हारराव चिटनिस लिखित शिवाजी के जीवन चरित्र में यह उल्लेख भी मिलता है कि शिवाजी ने इस मंत्रिमण्डल (अष्टप्रधान) का संगठन एवं विभिन्न प्रधानों के कर्तव्यों एवं अधिकारों का वितरण भूतपूर्व नियमों एवं परम्पराओं के आधार पर किया था (१५) राज्यारोहण के ४२ वें (१७१६) वर्ष में, मार्गशीर्ष शुधचार, वार मंगलवार को कोल्हापुर के राजा शम्भू छत्रपति द्वारा प्रसारित एक आज्ञा पत्र में यह कहा गया है कि प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में राजा के कर्तव्यों में से एक यह भी है कि वह अपनी प्रजा

---

(१२) ये पत्र और स्मृतिपत्र आदि 'काव्येतिहास संग्रह', पृ. ३५७ में संगृहीत है।

(१३) देखिए वेस्ट और बुहलेर लिखित हिन्दू ला, पृ. १३।

(१४) देखिए माण्डलिक लिखित हिन्दू ला, भूमिका पृ. ३२।

(१५) विविधज्ञान विस्तार, भाग १३, पृ. २०१, २३८, विशेष विवरण के लिए देखिए सभासद लिखित शिवाजी का जीवन चरित्र, पृ. ६९: मिस्टर फारेस्ट के बाम्बे सेलेक्शन्स, भाग के पृ. ७२५ पर गत शताब्दी के एक मुसलमान लेखक द्वारा लिखित एक निबन्ध का अनुवाद दिया गया है जिसका दावा है कि शिवाजी की इस योजना को मुस्लिम शासन व्यवस्था के नियमों तथा परम्पराओं पर आधारित था। उक्त लेखक ने इस दावे को सत्य प्रमाणित करने के लिए कोई भी तर्क या कारण प्रस्तुत नहीं किया है।

में व्याप्त अधार्मिकता की प्रत्येक प्रवृत्ति का दमन करे, तथा अपनी प्रजा में धर्म और दया का प्रचार करे और इस प्रकार से प्रजा के भविष्य के जीवन के लिए स्थायी सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रयत्न करे (१६) इसी उद्देश्य से (१७) राजा के लिए यह कर्तव्य स्थिर किया गया है कि वह किसी भी प्रकार के धर्मविरोधी तथा नास्तिकतापूर्ण विचारों एवं आचारणों को राज्य में कोई भी प्रश्रय न प्राप्त करने दे और यदि संयोग वश राज्य के किसी भाग में ऐसे धर्मविरोधी आचारों-विचारों का कोई भी चिन्ह दिखाई पड़ जाय तो राजा को ऐसे मामलों का निरीक्षण व्यक्तिगत रूप से करना चाहिए और जहाँ तक मैं समझता हूँ कि यह निरीक्षण-कार्य उस मंत्री द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए जिसके नाम यह आज्ञापत्र निकाला गया था—और अपराध प्रमाणित हो जाने पर अपराधियों को उचित दण्ड दिया जाना चाहिए जिससे शिक्षा लेकर कोई अन्य व्यक्ति कुपथ और दुराचरण के मार्ग पर बढ़ने का साहस न करे और ये बुराइयाँ स्वयमेव समाप्त हो जाँय।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मराठा शासक इसे अपना अधिकार, या कहा जा सकता है कि कर्तव्य समझते थे कि अपनी प्रजा के धार्मिक व्यवहारों एवं आचरणों को नियमबद्ध और संतुलित रक्खें, यद्यपि इस सम्बन्ध में यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि राजा के कर्तव्यों के इस भाग को सम्पन्न करने के लिए जो मंत्री नियुक्त किया जाता था, वह सदैव ब्राह्मण ही होता है, जैसा कि स्वाभाविक रूप से आशा भी की जा सकती है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि ये धार्मिक आज्ञापत्र केवल कागजी ही नहीं थे, बल्कि उनमें निहित आदेशों का पालन कानून द्वारा कराया जाता था, एवं अवज्ञा करने वालों को खोज-खोज कर दण्डित किया जाता था। उदाहरण रूप में, हमें यह उल्लेख प्राप्त होता है कि शिवाजी के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्भाजी के शासन काल में उसके प्रियपात्र 'कवजी'

(१६) विविधज्ञान विस्तार, भाग ५, पृ. १६४।

(१७) वही: पृ. ६१ काव्येतिहास संग्रह में (पृ. ६) संकलित पत्रों आदि से तुलना कीजिए।

(१८) कलुष ने, अपने अन्य गम्भीरतर अपराधों तथा दुराचरणों के अतिरिक्त, सम्भाजी को उत्तरदायी मंत्री पण्डित राव के विरोधों के बावजूद भी यह आदेश निकालने के लिए प्रेरित किया था कि आगे से 'प्रायश्चित' की धार्मिक क्रिया उन विज्ञ ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न कराई जाय जो 'छहों शास्त्रों' के ज्ञाता' हों (१६)। इस आदेश का औचित्य भूतपूर्व परम्परा के किन अभावों या दोषों को दिखा कर प्रमाणित किया गया था, इस विषय में यह पत्र हमें कोई ज्ञान नहीं प्रदान करता और इस विषय में विशेष सूचना प्राप्त करने का कोई अन्य स्रोत मेरी जानकारी में नहीं है।

शाहू के शासन काल में, जिस समय पेशवा की मसनद का अधिकारी बाला जी बाजीराव था, राज्य को इसी प्रकार के एक विवाद का निर्णय करना पड़ा था, जिसकी जड़ बहुत पुरानी थी; यह विवाद ब्राह्मणों और प्रभुओं (२०) के पारस्परिक भेद पर आधारित था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विवाद का सूत्रपात्र शिवाजो के शासन काल से ही हुआ था (२१) और इस सम्बन्ध में शिवाजी ने जो

---

(१८) डाउसन द्वारा सम्पादित एलियट (भाग ७ पृ. ३३८) के नोट में लेखक इस शब्द से कुछ भ्रमित प्रतीत होता है, परन्तु यह शब्द वास्तव में कवि है जिसमें सम्मान सूचक 'जी' लगा हुआ है। भोसले बखर (पृ. १४) चिटनिस लिखित सम्भाजी का जीवन चरित्र (पृ. ७) तथा श्री शिवकाव्य (कैन्टो) (खण्ड ६, २१ वां पद्यांश) के अनुसार कलुष औरंगजेब का आदमी था। इस सम्बन्ध में देखिए फारबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स (भाग १, पृ. ४६२)। डाउसन के एलियट में दिया हुआ मुस्लिम विवरण इस विचार से सहमत नहीं है; बल्कि यह कवजो का सम्बन्ध ब्राह्मण काशोपन्त से जोड़ता है जिसके संरक्षण में शिवाजी ने दिल्ली से भागते समय सम्भाजी को सौंपा था।

(१६) मराठी साम्राज्याची बखर, पृ. ५६

(२०) इस जाति के लोग अपने को इसी रूप में लिखा जाना पसन्द करते हैं, इसके बदले में परभू या परवू (जैसा कि ऐंग्लोइंडियन लिखते हैं) कहा जाना उनकी रुचि के विरुद्ध है। देखिए कायस्थ प्रभूच्ची बरवर, पृ. ६।

(२१) देखिए कायस्थ प्रभूंची बखर (कायस्थ प्रभुन्च्या इतिहासाचित साधनेन) पृ. १०—१२।

व्यवस्था की थी, उसी का पालन सम्भाजी तथा राजाराम के शासन-कालों में किया गया था।

शाहू के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में भी यही व्यवस्था प्रचलित थी, शाहू के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में यह पुराना विवाद पुनः उभरा क्योंकि प्रभु जी शाहू के भी उतने ही प्रियपात्र थे, जितना कि शिवाजी के (२२) प्रभुओं द्वारा लिखित वृत्तान्तों में ब्राह्मणों पर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने प्रभुओं के सामाजिक पद को निम्नतर सिद्ध करने के लिए प्राचीन पुराणों तथा 'सह्याद्रिखण्ड' जैसे अन्य ग्रंथों में अपनी तरफ से कुछ अंश जोड़ दिए हैं। जब यह विवाद पेशवा बालाजी बाजीराव के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया, तो इस सम्बन्ध में परामर्श देते हुए शाहू को लिखा कि शिवाजी के समय से ही प्रचलित व्यवस्था का पालन किया जाना चाहिए, और इस सम्बन्ध में ब्राह्मणों ने जो विवाद उत्पन्न कर दिये हैं, उनका दमन किया जाना चाहिए, और इस विषय में उन्हें अंतिम और स्पष्ट आदेश दे दिया जाना चाहिए। इस पर शाहू ने (२३) कृष्णा नदी के तट पर स्थित खण्डे और माहुली के ब्राह्मणों के नाम एक आज्ञापत्र जारी करते हुए आदेश दिया, कि वे मृतक संस्कार तथा अन्य सभी संस्कारों को उसी विधि से सम्पन्न करायें जिस विधि से उन्होंने बीजापुर के सुल्तानों (२४) के समय में, तथा शिवाजी, सम्भाजी, राजाराम, ताराबाई तथा स्वयं वर्तमान राजा के शासन काल के पूर्वार्द्ध में इन संस्कारों को सम्पन्न कराया जाता था।

उनको स्पष्ट आदेश दिया गया कि 'वे कोई नई विधि न प्रारम्भ करें, और किसी भी पुरानी परम्परा का खण्डन न करें। राजा शाहू की इस राजाज्ञा के साथ ही, ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराव ने भी उपरोक्त ब्राह्मणों की सभा में कुछ इसी प्रकार की बातें कहीं थीं, जिसके साथ ही राजाज्ञा को दुहराते हुए प्राचीन परम्पराओं एवं संस्कारों को

---

(२२) चित्रगुप्त लिखित शिवाजी की जीवनी, पृ. १२३।

(२३) कायस्थ प्रभूंची बखर (का. प्र. इ. सा.) पृ. १२—१७।

(२४) इस अंश से ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमान शासकों को भी इन दोनों जातियों के बीच उत्पन्न विवाद पर व्यवस्था देना पड़ा था।

पुनर्जीवित करने का परामर्श दिया था। (२५) हमें विभिन्न स्रोतों से यह सूचना भी मिलती है कि यद्यपि राज्य द्वारा इस प्रकार के आदेश घोषित कर दिये गए थे फिर भी ये विवाद समाप्त नहीं हुए क्योंकि इस समय प्रतिनिधि जगजीवनराव पण्डित, अपने प्रियपात्र धमाजी के सहयोग से, शाहू के प्रतिनिधि के रूप में सतारा का समस्त कार्य-भार सम्भाले हुए था, जिसने यह देखते हुए कि शाहू का अन्त अब समीप आ गया है, इस आज्ञापत्र द्वारा की गई व्यवस्था को स्वीकार ही नहीं किया। इसके कुछ समय पश्चात् ही. जैसी कि आशा की जा रही थी. शाहू की मृत्यु हो गई। शाहू की मृत्यु के पश्चात् प्रतिनिधि जगजीवनराव के ऊपर जैसे कोई अंकुश ही नहीं रह गया और अपने प्रियपात्र धमाजी के साथ वह मनमानी करने लगा, अन्त में उनके व्यवहारों से तंग आकर उन दोनों को ही कारा-गार में डाल दिया (२६) और आदेश दिया (२७) कि जहाँ तक प्रभुओं के धार्मिक संस्कारों और समारोहों का प्रश्न है, पुरानी परम्पराओं एवं विधियों का ही पालन किया जाय। उसके आदेशा-नुसार उस प्राचीन परम्परा का ही प्रचलन बिना किसी अवरोध के माधवराव के शासन-काल के अन्त तथा नारायणराव के काल के प्रारम्भ तक बना रहा।

इसके अनेक वर्ष पश्चात् (२८) पेशवा सवाई माधवराव के

---

(२५) का. प्र. बखर (का. प्रा. इ. सा.) पृ. १२-१३, जहां पत्रों का वितृस्त विवरण दिया गया है।

(२६) ग्रान्ट डफ, भाग २, पृ. १७-३२।

(२७) ग्रान्ट डफ, भाग ३, पृ. ३५। रघुनाथ यादव के पानीपत बखर (पृ. ७) के अनुसार अपनी मृत्यु-शैय्या पर अन्तिम सांस लेने के पूर्व शाहू ने समस्त मराठा साम्राज्य बालाजी बाजीराव को सौंप दिया था।

(२८) देखिए पत्र एवं स्मृतिपत्र आदि (काव्येतिहास संग्रह-पृ. ७६)। काफी समय पश्चात् इसी प्रचार का एक विवाद उत्पन्न हुआ श्रीपति शेषाद्रि के सम्बन्ध में, जो कि माननीय नारायण शेषाद्रि का भाई था, जिसके व्यवहारों से तत्कालीन धार्मिक कट्टरता को घातक धक्का लगा था; इस मामले में कहा जाता है कि उच्चकोटि के विद्वान स्वर्गीय प्रोफेसर बालगंगाधर शास्त्री ने भी महत्वपूर्ण भाग लिया था।

शासन-काल में, यह उल्लेख मिलता है कि नरहरि रणेलकर नामक एक ब्राह्मण को 'पवनमय' एवं 'भ्रष्ट' घोषित किया गया जिसका अर्थ मेरे विचार से यह है कि उसने हिन्दू धर्म का परित्याग करके इस्लाम धर्म अपना लिया। उसके धर्म-परिवर्तन के पश्चात् पैथण के कुछ ब्राह्मणों ने उसका शुद्धीकरण करके उसे पुनः ब्राह्मण जाति में सम्मिलित कर लिया, यद्यपि, जैसा कि पेशवा के आदेश में कहा गया है, यह एक अनिन्दनीय एवं निर्दोष कृत्य था, परन्तु उसे भ्रष्ट होने के उपरान्त हिन्दू जाति में मिला लेने से उस स्थान के ब्राह्मण में दो दल हो गए, इस प्रकार एक ही जाति में दो परस्पर विरोधी वर्गों के उत्पन्न हो जाने से राज्य को इस पर ध्यान देना पड़ा और इसकी जाँच के लिए एक राजकर्मचारी को वहाँ भेजा गया। इस राजकर्मचारी ने अत्यन्त नीतिपूर्वक इन दोनों वर्गों के ब्राह्मणों को एक साथ बैठाकर भोजन कराने में सफलता प्राप्त कर ली जैसा कि पेशवा के आदेश में आगे लिखा हुआ है, भ्रष्टाचारी वर्ग के साथ बैठकर भोजन करने के दोष के कारण देश के अन्य भागों के ब्राह्मणों ने पैथण के समस्त ब्राह्मणों को भ्रष्ट घोषित करके उन्हें वहिष्कृत कर दिया। इस पर पैथण के समस्त ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से प्रायश्चित कराने के लिए सरकार ने दो कारकूनों को वहाँ भेजा और सरकार के आदेशानुसार ऐसा ही किया गया। पेशवा द्वारा जालानपुर परगना के देखमुखों तथा देशपाण्डेयों के नाम भेजे गए आदेश में, इतना विवरण देने के पश्चात् आगे यह निर्देश दिया गया है कि चूँकि उक्त परगने के अन्य ब्राह्मणों ने भी पैथण के ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क रक्खा है, तथा उनसे वार्तालाप किया है अतः वे भी भ्रष्टाचार के दोषी हैं और उन्हें भी उचित प्रायश्चित कराया जाय, उनके सम्पर्क की अवधि के अनुसार प्रायश्चित का विधान भी विभिन्न रक्खा गया था, और उनकी प्रायश्चित-विधि सम्पन्न कराने का भार उन्हीं दो सरकारी कारकुनों को दिया गया था। यह मामला तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनेक उल्लेखनीय अंगों को स्पष्ट करता है, जिनमें विशेषतः यह तथ्य कम उल्लेखनीय नहीं है। कितने कठोर तथा तर्कपूर्ण ढंग से प्रायश्चित के दण्ड का विस्तार उन लोगों तक कर दिया गया है, जो उस परगने के निवासी थे, तथा जिन्होंने भ्रष्ट ब्राह्मण वर्ग से वार्तालाप किया था। कुछ समय पश्चात्,

एक अन्य मामले में भी इस कठोर तर्कशास्त्र का प्रमाण देखने को मिलता है; यह मामला सन् १८०० के अक्टूबर माह का है तथा इसके कुछ ही पहले नानाफड़नवीस और परशुराम भाऊ पटवर्धन की मृत्यु हुई थी। मामला यह था कि किसी प्रकार यह अफवाह उड़ी कि पेशवा के महल में रहनेवाला एक सेवक, जिसे लोग ब्राह्मण जानते थे, वास्तव में निम्नजाति का था। जाँच करने पर बात ठीक निकली; उस सेवक को दण्डित करने का आदेश दिया गया, और इसके लिए सम्पूर्ण पूना निवासियों को सामूहिक रूप से प्रायश्चित कराया गया, सम्भवतः प्रायश्चित का यह विधान केवल पूना के ब्राह्मणों के लिए ही था जिनका उस समय पूना की जनसंख्या में अधिकतम अनुपात रहा होगा, जैसा कि आज भी है (२९)।

सदाशिवराव भाऊ को भी त्र्यम्बकेश्वर में एक अत्यन्त रोचक धार्मिक विवाद पर विचार करना पड़ा था (३०)। गोसावियों के दो वर्गों गिरी और पुरी (३१) में 'सिंहस्थ' वर्ष में त्र्यम्बकेश्वर में स्नान करने के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो गया—सम्भवतः विवाद का प्रसंग यह था कि पहले स्नान करने का अधिकार गिरियों को था या पुरियों को। इस सम्बन्ध में जितनी जानकारी हमें मिलती है उसके अनुसार यह विवाद भयंकर संघर्षों का कारण बना; अन्त में जब 'सरकार के प्रतिनिधि' के रूप में सदाशिवराम भाऊ

---

(२९) पत्र, स्मृतिपत्र इत्यादि (काव्येतिहास संग्रह—पृ० ५२३)। इस मामले के सम्बन्ध में उपरोक्त संग्रह के संक्षिप्त विवरण के अतिरिक्त किसी भी अन्य स्रोत का ज्ञान मुझे नहीं है। कायस्थ प्रभुन्च्या इतिहासाचिन साधेनेन (ग्रामण्य) पृ० ६ में मृत व्यक्तियों पर भी इस प्रकार के प्रायश्चित के विधान के लागू किए जाने का उल्लेख मिलता है। और जानकारी के लिए देखिये पत्र स्मृतिपत्र आदि (काव्येतिहास संग्रह है) पृ० ६।

(३०) ऐसा प्रतीत होता है कि पेशवा के कार्यों की व्यवस्था प्रायः सदाशिवराव ही करता था और बालाजी केवल सहमति देता था। देखिये फारेस्ट का बाम्बे सेलेक्शन्स भाग १ पृष्ठ १२१, १३४ और एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ३, पृ० ६१ में दिए गए विवरण से तुलना कीजिए।

(३१) देखिए एच० एच० बिल्सन लिखित रिलीजस ऐक्टस् आन द हिन्दूज भाग १, पृ० २०२-३।

ने इस विवाद पर विचार करने का प्रस्ताव रक्खा, जिससे दोनों दलों ने सहमति प्रकट की। सदाशिवराव भाऊ ने दोनों प्रतिद्वन्द्वी वर्गों के महन्तों का हाथ पकड़ा, और एक-एक तरफ दोनों महन्तों को लिए हुए कुशावर्त नदी के पवित्र जल में प्रवेश किया। इस प्रकार दोनों महन्तों के एक साथ नदी में प्रवेश करने से, स्थान करने में प्राथमिकता से सम्बन्धित दोनों दलों का विवाद कुशावर्त को पवित्र लहरों में विलीन हो गया (३२)।

ऐसे ही एक विवाद को सुलझाने में पेशवा उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर सका था; यह विवाद दो प्रतिद्वन्द्वी ब्राह्मण वर्गों के बीच था,(३३) और त्र्यम्बकेश्वर में हुए गोसावियों के झगड़े के कुछ पहले ही उत्पन्न हुआ था। बात यह थी कि पेशवा ने त्र्यम्बकेश्वर में एक देवालय का निर्माण कराया था, बालाजो ने इस देवालय में मूर्ति की स्थापना के लिए जो शुभ मुहूर्त निर्धारित कराया था, उस समय यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सका, क्योंकि उसी समय यजुर्वेदी तथा आपस्तम्ब ब्राह्मणों में एक विवाद उत्पन्न हो गया। इस विवाद की गम्भीरता के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह विवाद देवालय के दक्षिणी फाटक के सम्बन्ध में था (३४)। उस समय इस विवाद का निपटारा किस प्रकार किया गया, इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है (३५) यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत

(३२) पेशवा का बखर पृ० ६८–९।

(३३) धार्मिक मामलों में राजकीय हस्तक्षेपों की विफलता के अन्य दृष्टान्तों के लिए देखिए कायस्थ प्रभूंची बखर, पृ० १३ तथा आगे; कायस्थ प्रभुन्च्या इतिहासाचिन साधनेन (ग्रामण्य) पृ० ५ और आगे।

(३४) पेशवा का बखर पृ० ६८-६९।

(३५) परन्तु पत्रों तथा स्मृतिपत्र (काव्येतिहास संग्रह, पृ० ५२२) से प्रगट होता है कि त्रम्बकेश्वर के देवालय की Consevration बाजीराव द्वितीय द्वारा साका १७२८ (सन् १८०६) में कराई गई थी। ब्राह्मणों द्वारा उठाए गए विवाद के बावजूद भी इस कार्य में इतने अधिक विलम्ब का कोई कारण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

होता है कि त्र्यम्बकेश्वर के देवालय का निर्माण करते समय पेशवा के आदेश के अनुसार कुछ ऐसे पत्थरों का प्रयोग किया गया था जिन्हें कहा जाता है कि, मुगल जिलों में स्थित मस्जिदों में से उखाड़ लाया गया था; इस विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती कि उस समय ये मस्जिदें प्रयोग में लाई जाने योग्य थीं या नहीं (३६)।

एक अन्य ऐसे मामले भी का विवरण उपलब्ध है जिसमें जनता द्वारा विरोध किए जाने के कारण तत्कालीन पेशवा अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में असमर्थ हो रहा था। यह मामला पेशवा बाजीराव प्रथम के काल का है। इस मामले के सम्बन्ध में मैंने स्वयम् कोई मौलिक आधिकारिक विवरण नहीं देखा है; लेकिन पेशवा के बखर में सम्पादक द्वारा दिए गए एक नोट से ज्ञात होता है, कि अपनी मुसलमान स्त्री मस्तानी से पेशवा बाजीराव को एक पुत्र हुआ था, तथा पेशवा उस लड़के का यज्ञोपवीत संस्कार कराकर उसे ब्राह्मण बनाना चाहता था; परन्तु ब्राह्मणों ने इस विचार का बहुत विरोध किया और अन्त में बाजीराव को इसी विचार का परित्याग कर देना पड़ा (३७)। बाजीराव के जीवन का एक संक्षिप्त विवरण उपलब्ध है जिसका लेखन काल १८४० दिया हुआ है (यद्यपि सम्भवतः यह तारीख उक्त विवरण के प्रतिलिपि की है और मूल विवरण शायद पहले ही लिखा गया); इसमें बाजीराव तथा मस्तानी के अर्ध-विवाह समारोह के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त उल्लेख दिया

---

(३६) पेशवा का बखर पृ० ६८ तुलना कीजिए डाडसन की एलियट, भाग ७, पृ० ४०४, ४१५, ४४६, ४५६, और मलकम लिखित सेन्ट्रल इण्डिया भाग १, पृ० ५६।

(३७) पेशवा का बखर पृ० ४०। एक हिन्दू तथा उत्तरदायी धर्मरक्षक के मस्तिष्क में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ था, यह तथ्य पुरानी परम्पराओं के ढीले होते हुए बन्धनों के उदाहरण के रूप में एक उल्लेखनीय तथ्य है। तुलना कीजिए ग्रान्ट डफ, भाग १, पृ० ५६६ से। ग्रान्ट डफ कह सकता है कि बाजीराव higotry से मुक्त था।

गया है (३८)। उक्त पुस्तिका में जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार मस्तानी हैदराबाद के नवाब (निजाम) की पुत्री थी, निजाम की बेगम ने निजाम को परामर्श दिया कि बाजीराव के साथ मित्रता को स्थायी बनाने के लिए मस्तानी का विवाह बाजीराव से कर दिया जाय। बेगम की राय मान ली गई और मस्तानी तथा बाजीराव का विवाह सम्पन्न हो गया, परन्तु दूल्हे के रूप में बाजीराव स्वयम् नहीं गया था, बल्कि अपनी कटार भेज दी थी (३९) बाद में बाजीराव मस्तानी को हैदराबाद से ले आया और उसे एक बिलकुल पृथक महल में रक्खा जो विशेष रूप से उसी के लिए पूना के शनवार महल के मैदान के एक भाग में बनवाया गया था।

पेशवाओं के शासन-काल में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को सुलझाने के लिए पेशवा द्वारा एक कानून बनाया गया था, और वह समस्या ऐसी है जो आज भी वर्तमान है और हिन्दुओं का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित हो रहा है। यह आदेश किस पेशवा के काल में निकाला गया था, इसकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती, इस कानून द्वारा यह आदेश दिया गया है कि बाइ प्रान्त में कोई भी ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के उपलक्ष्य में वरपक्ष से धन नहीं लेगा, और यदि कोई ब्राह्मण ऐसा करता है, तो दण्डस्वरूप, जितना

(३८) पत्र एवं स्मृति पत्रआदि (का० इ० संग्रह) पृ० ५३९। यह कहानी अत्यन्त ही रोचक है; बाजीराव तथा मस्तानी के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों के विवरणों में भी विभिन्नता है; देखिए—श्री शिवकाव्य, खण्ड १०, पद्यांश ५८; मराठी साम्राज्य बखर, ७४–७७; काशीराज लिखित भोंसले बखर, पृ० ४०; पेशवा का बखर, पृ० ३७–४०, ४९; पेशवा शकावली, पृ० ६; रघुनाथ यादव लिखित पानीपत बखर, पृ० ४८; चिटनिस लिखित शाहू की जीवनी पृ० ७६; फारेस्ट का बाम्बे सेलेक्शन, पृ० ६५८। मस्तानी के पुत्र शमशेर बहादुर के जीवन, पद, सामाजिक स्थिति और पेशवा परिवार में उसके स्थान के विषय में विशेष विवरण के लिए देखिए फारेस्ट, पृ० १०२ और डाडसन की एलियट भाग ८, पृ० २८३, और पेशवा के बखर पृ० १५० से तुलना कीजिए।

(३९) इस सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखना चाहें तो देखें। मलकम द्वारा लिखित सेन्ट्रल इन्डिया, भाग २, पृ० १५८।

धन उसने लिया होगा उसका दुगुना राजकोष में जमा करना पड़ेगा, साथ ही वधू के बदले में धन देने वालों के लिए भी इसी दण्ड की व्यवस्था की गई थी; साथ ही इस आदेश में ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख किया गया था जो दोनों पक्षों के बीच मध्यस्थता करके विवाह सम्बन्धी समस्त शर्तें तय करते थे। इन सेवाओं के बदले में दोनों दलों से धन प्राप्त करते थे; ऐसे लोगों के लिए यह दण्ड निश्चित किया गया था कि इस प्रकार दलाली द्वारा वे जो भी धन प्राप्त करें, उतना राजकोष में जमा कर दें। जिस अधिकारी को सम्बोधित करके यह आज्ञापत्र लिखा गया है, उसे स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह कानून तथा उसके दण्डों की सूचना निश्चित रूप से समस्त ब्राह्मण जाति के लोगों, तथा समस्त जमीन्दारों, धार्मिक अधिकारियों, पुरोहितों, ज्योतिषियों (जोशियों), पाटिलों तथा कुलकर्णियों तक पहुँचा दिया जाय, साथ ही उसे यह भी आदेश दिया गया है कि आज्ञापत्र में निर्धारित दण्ड को पूरा करने में वह अपराधी पक्ष का व्यय आदि के सम्बन्ध में कोई भी बहाना न सुनें। जो पत्र अब प्रकाशित किया गया है उसमें आदेश प्राप्त करने वाले अधिकारी ने प्राप्ति की स्वीकृति दी है; पूरे आदेश को दुहराने के पश्चात् इसमें यह प्रतिज्ञा की गई है कि पेशवा के आदेश को शीघ्रातिशीघ्र, वाइ के निवासियों, सरकारी गाँवों, देशमुखों तथा देश पाण्डेयों तक पहुँचा दिया जायगा, इस आदेश की सर्वांग पूर्णता उल्लेखनीय है, इसके अतिरिक्त इस आदेश के सम्बन्ध में कुछ और कहना आवश्यक प्रतीत होता है इसमें इस सौदेबाजी के सभी भागीदारों को दृष्टि में रक्खा गया है—और उन सभी के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है जो अपनी लड़की को बेचते हैं, जो लड़की को खरीदते हैं और जो इस क्रय-विक्रय का प्रबन्ध करते हैं (४०)।

(४०) पत्र और स्मृतिपत्र आदि (का० इ० संग्रह) पृ० १२१-२। मनु—अध्याय ३, श्लोक ५१ और आगे तथा अध्याय ६, श्लोक ९८ और आगे—कन्याओं के विक्रय का निषेध करता है, और इस क्रय विक्रय के लिए अब भी 'कन्या विक्रय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। और विवरण के लिए देखिए मनु, अध्याय ११, श्लोक ६२ और आगे। यह उल्लेखनीय है, कि पेशवा द्वारा

उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठों के शासन काल में धर्म तथा राज्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट था; इस सम्बन्ध की घनिष्ठता केवल सिद्धान्त के रूप में तथा कागजो ही नहीं थी बल्कि व्यवहार रूप में भी इसे लागू किया जाता था तथा जनता का सामाजिक जीवन राजनैतिक कानूनों के साथ-साथ धार्मिक कानूनों द्वारा भी नियंत्रित किया जाता था, और केवल मराठा राजाओं के शासन काल में भी यह व्यवस्था पूर्ववत प्रचलित थी; यद्यपी यहाँ इस काल का भी उल्लेख कर दिया जाना चाहिए कि पेशवा का जिस आज्ञापत्र का विवरण ऊपर दिया गया है उस पर भी अन्य अज्ञात-पत्रों की ही भाँति राजा शाहू के नाम की मुहर अंकित है। (४१) राज्य और धर्म का यह घनिष्ट सम्बन्ध कोई ऐसी चोज नहीं है जिस पर आश्चर्य किया जा सके, क्योंकि एक ऐसे राज्य का विचार जो समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों को अपने प्रशासन क्षेत्र की सीमा से पृथक कर दे—कोई ऐसा विचार नहीं है जिसे आज भी सर्वमान्य समझा जा सके; यह विचार इस राज्य और धर्म की इस घनिष्ठता को और भी स्वाभाविक बना देता है कि शिवाजी द्वारा प्रारम्भ किया हुआ और पेशवाओं के शासन काल के अन्तिम चरण तक उसके उत्तराधिकारियों द्वारा प्रगति के मार्ग पर ले जाया गया महान आन्दोलन विदेशी तथा विधर्मी आक्रमकों के अन्यायपूर्ण पंजों से हिन्दू धर्म को सुरक्षित रखने की भावना से ही प्रेरित हुआ था (४२)। केवल एक बात ऐसी है जो किसी

इस अपराध के लिए निर्धारित दण्डों के विषय में मनुस्मृति में कोई उल्लेख नहीं मिलता। और इस दृष्टि से पेशवा द्वारा कन्याविक्रय के निषेध के लिए प्रसारित आज्ञापत्र, आधुनिक दृष्टिकोण से पूर्णतः वैधानिक कहा जा सकता है।

(४१) कायस्थ प्रभूंची बखर पृ. १२ में एक पत्र का उल्लेख है जिसमें पेशवा ने ऐसे आदेश के लिए राजा से सिफारिश की है, तथा एक अन्य पत्र द्वारा राजा ने पण्डितराव के माध्यम से उपरोक्त आदेशों को राजकीय मान्यता प्रदान की है।

(४२) सभासद लिखित जीवनी, पृ. २७, विविध ज्ञान विस्तार, भाग ६, पृ० ५०–५३, मराठी साम्राज्य बखर, पृष्ठ ७६ भोंसले बखर पृ. ७ भोंसले के पत्र तथा स्मृतिपत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ. १४७, निगुडकर लिखित

भी व्यक्ति के ध्यान को आकर्षित कर सकती है, और वह यह है कि मराठा राजाओं को भी उसी प्रकार Meddle के लिए तत्पर एवं समर्थ होना चाहिए या जिस प्रकार उन्होंने धर्म के मामलों में में किया था। इसके लिए एक सम्भव व्याख्या दी जा सकती है कि सम्भवतः लोगों ने इस दावे को स्वीकार कर लिया होगा कि शिवाजी क्षत्रिय कुल से सम्बन्धित थे, यह एक ऐसा विषय है जिस पर इसी सिलसिले कुछ और कहना आवश्यक प्रतीत होता है; परन्तु कुछ कहने के विपरीत इस तथ्य पर भी ध्यान देना पड़ेगा कि शास्त्री अब ब्राह्मणों एवं शुद्रों के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के अस्तित्व को मान्यता देना ये प्रायः असमंजस प्रकट करते हैं, और यहाँ तक कि वे किसी अन्य जाति के अस्तित्व से स्पष्ट रूप से इन्कार कर जाते हैं (४३) मेरा विश्वास है कि

परशुराम भाऊ पटवर्धन की जोवनी, पृ. ८७, मलकम की सेन्ट्रल इण्डिया, भाग १, पृ. ६६।

(४३) वेस्ट और बुहलर की डाइजेस्ट आव हिन्दू लॉ, पृ. ६२१, नोट। इस पुस्तक के विद्वान लेखकों, सर आर० वेस्ट तथा डाक्टर जे० जी० बुहलर ने अनेक शास्त्रियों के मतों की खोजबीन की है; जिनके रिकार्ड बम्बई प्रेसि-डेन्सी के विभिन्न ब्रिटिश कोर्टों में रक्खे हुए हैं। देश के अन्य भाग के शास्त्रियों ने भी विभिन्न अवसरों पर इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के मत प्रकट किए हैं। शास्त्रियों के इन मतों का उल्लेख इंगलैंड की प्रिवी कौंसिल में चलने वाले एक मामले के सम्बन्ध में किया गया था, जिसका विवरण मूद के इंडियन अपील केसेज़, भाग ७, पृ. ३५-७ तथा ४६-६ में मिलता है। इस मामले में यह सिद्ध करने के लिए स्टील से उद्धरण लिया गया है कि भोंसले तथा मराठा परिवारों द्वारा क्षत्रिय होने का दावा निराधार और असत्य है, और उनके दावों को अमान्य करवे का आधार भागवतपुराण का वह अंश नहीं है जिसका उल्लेख इस पृष्ठ पर ऊपर किया गया है, बल्कि इस पर आधारित है कि परशुराम ने क्षत्रिय वंश का विनाश कर दिया था। इस आधार से यह स्पष्ट है कि यह आखिरी बहस ही भ्रमपूर्ण विचार पर आधारित है; क्योंकि यदि परशुराम द्वारा क्षत्रिय विनाश की बात मान ली जाय, तो केवल एक उदाहरण के रूप में अयोध्या के राम को किस जाति का सदस्य माना जा सकता है तथा कालिदास के रघुवंश में दिए गए अनेका-

उनके इस अधिमत का आधार भागवत पुराण (४४) का एक पुराना संस्करण है जिसमें दिए गए वर्णन के अनुसार नन्द-वंश की समाप्ति के पश्चात् क्षत्रिय जाति के अस्तित्व का लोभ हो गया, और जहाँ तक मैं जानता हूँ, कि भागवत पुराण के इसी अंश के आधार पर शास्त्रियों ने शिवाजी को क्षत्रिय मानने में असमंजस प्रकट किया था और स्पष्ट अमान्यता भी दे दी थी, जब कि शिवाजी के गुरू रामदास (४५) ने शिवाजी को क्षत्रिय मान लिया था, ऐसी जानकारी मिलती है। शिवाजी द्वारा ग्रहण किए गए राजपद को सर्वसाधारण को मान्यता मिलने के सम्बन्ध में यह व्याख्या भी दी जा सकती है कि प्राचीन दैवी शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राजा में, कम या अधिक मात्रा में दैवी शक्ति का अंश होता है—इस पर मराठा जनता का विश्वास रहा हो। हाल ही में प्रकाशित कुछ बखरों में से एक में दिल्ली के मुगल सम्राट को भी इस सिद्धान्त का लाभ मिल गया है और उसमें भी ईश्वरीय

नेक रघुवंशी राजाओं की वंशावली को कैसे अमान्य किया जा सकता है? विशेष विवरण के लिए देखिए मलकम लिखित सेन्ट्रल इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ४३।

(४४) भागवत पुराण की इस प्रतिलिपि के उक्त अंश की जिस व्याख्या को मैं सही समझता हूं उसके अनुसार क्षत्रियों के अस्तित्व के लोप की बात मगध के सम्बन्ध में कही गई है, पूरे भरत खण्ड के लिए नहीं। बनारस के पंडितों द्वारा दी गई एक व्याख्या के लिए देखिए कायस्थ प्रभूची बखर, पृ. १७।

(४५) दासबोध, भाग १३, पृ. ६। हेमाद्रि भी जाधव राजा महादेव के सोमवंशी होने तथा उसके द्वारा यज्ञ सम्पन्न किए जाने का वर्णन करता है। विविध ज्ञान विस्तार भाग ६, पृ. ३५ में मराठों को राजपूत बताते हुए कहा गया है कि केवल उनका नाम भर बदल गया है। इस सम्बन्ध में और विवरण के लिए देखिए जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी की बाम्बे शाखा, भाग ६, पृ. cxliv, और तुलना कीजिए—भोंसले बखर, पृ. ३-५, म० र० चिटनिस लिखित राजनीति, पृ. ७ फारेस्ट का सेलेक्शन, पृ. ७२६; डाडसन का एलियट, भाग ७, पृ. २५४, भाग ८, पृ. २५८।

अंश का अस्तित्व माना गया है। (४६) और यदि मुगल सम्राट को इस दैवी अंश का अधिकारी माना जा सकता है तो शिवाजी तथा सम्भाजी को भी ईश्वरीय प्रतिनिधि न मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता (४७)

इस स्थल पर मैं कृष्णाजी और सभासद द्वारा लिखित शिवाजी के जीवन चरित्र के एक अंश की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा गया है शिवाजी द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक था, परन्तु इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि हिन्दू

---

(४६) इस सम्बन्ध में सभी स्रोतों में विभिन्न एवम् रोचक विवरण दिए गये हैं और विशेष जानकारी के लिए मूल स्रोतों का अध्ययन करना ही उचित होगा; देखिए पानीपत बखर; पृ. १९-२०, चिटनिस कृत राजाराम की जीवनी, भाग १, पृ. ७१, भाऊ साहेब का बखर, पृ. ५६; चित्रगुप्त का शिवाजी पृ. १३७; चिटनिस का राजाराम भाग २, पृ. ५५, श्री शिव काव्य, प्रथम खण्ड, छन्द ११९, तुलना के लिए देखिए पत्र और स्मृति पत्रादि, पृ. ३७ फॉरबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग ३, पृ. १४९ (जिसमें अकबर को ईश्वरीय अंश बताया गया है और डाडसन का एलियट, भाग ५, पृ. ५६९-७०, इसी पुस्तक के भाग ७, पृ. २८४ में बताया गया है कि दिल्ली में हिन्दुओं का एक वर्ग ऐसा था जो औरंगजेब का 'दर्शन' किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करता था और इसीलिए इस वर्ग को दर्शनी कहा जाता था।

(४७) देखिए चिटनिस लिखित राजनीति पृ. १२३, चित्रगुप्त लिखित शिवाजी, पृ. ५, १६, ३२, ४१, १०१; खर्दा बखर पृ. २२। कायस्थ प्रभूंचा इतिहासाचिन साधनेन (ग्रामण्य) पृ. ५ में यह कहा गया है कि जब नारायण राव पेशवा के शासन-काल में ब्राह्मण तथा प्रभुओं का विवाद जोर पर था तो ब्राह्मण-नेताओं ने तर्क दिया, इससे क्या मतलब कि शास्त्रों में क्या लिखा है ? शास्त्रों को कौन देखने जाता है ? पेशवा ही देश के स्वामी हैं अतः जैसा वे कहें, वैसा ही करना चाहिए।'' टैवर्नियर (भाग १, पृ. ३५९) भी दिल्ली के मौलवियों की औरंगजेब के प्रति इसी प्रकार की निष्ठा का वर्णन करता है और विवरण के लिए देखिए बर्नियर पृ. २८८।

मन्दिरों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराने की व्यवस्था करने (४८) के साथ ही, उसने उन पुराने दानों को भी प्रचलित रक्खा जो मुस्लिम राज्य के समय में पीरगाहों तथा मस्जिदों में रोशनी करने के लिए (४९) तथा अन्य धार्मिक आवश्यकताओं के लिए दिए जाते थे। चूंकि—ऐसा माना जाता है—सभासद ने शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम के आदेश पर १६९४ में शिवाजी का जीवन चरित्र लिखा था, और चूंकि इस जीवनी में लिखित तथ्यों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हैं अतः शिवाजी की जीवन-कथा के लेखक द्वारा प्रस्तुत की गई सूचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

अब हमें पुनः अपने मुख्य विषय की ओर लौटना चाहिए। मराठा राज्य में धर्म और राजनीति की घनिष्ठता के सम्बन्ध में इस बात का उल्लेख कर देना उपयोगी प्रतीत होता है कि कायस्थ

(४८) सभासद कृत शिवाजी का जीवन चरित्र पृ. २७, चित्रगुप्त पृ. ४०, त्रिविध ज्ञान विस्तार भाग ६, पृ. ३१, फायर्स ट्रेवेल्स, पृ. ६८, और बर्नियर पृ. १८८-८९ में भी स्वतंत्र ढंग से इन कथनों से सहमति प्रकट की है। इस सम्बन्ध में डाडसन के एलियट का विशेष महत्व है क्योंकि यह मुस्लिम स्रोत के आधार पर लिखा गया है। यह धर्म सहिष्णुता यदा कदा सीमा से आगे बढ़ जाती थी देखिए—मराठो साम्राज्य बखर, पृ. १४ (पृ. ४८ पर दी हुई रोचक कथा को भी देखिए), म० रा० चिटनिस कृत सम्भाजी पृ. ५, होलकर की कैफियत पृ. १०८ (जहाँ होलकर 'फकीरो' ग्रहण करता है), फारेस्ट का सेलेक्शन्स पृ० १, फारबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग २, पृ० ११८, २५५। मराठों की इस धर्मसहिष्णुता की तुलना मुगल सम्राट द्वारा महादजी सिन्धिया को दिए गोबध निषेध सम्बन्धी आज्ञापत्र में निहित धार्मिक उदारता की नोति से की जा सकती है। इस सम्बन्ध में देखिए ग्रान्ट डफ, भाग ३ पृ० ७६, मल्कम की सेन्ट्रल इण्डिया, भाग १, पृ० १६४, १६४। और भी देखिए बर्नियर, पृ० ३०६, ३२६, पुर्तगालियों को बहुत ही असहिष्णु बताया गया है। देखिए साबूती बखर, पृ० १ डाडसन का एलियट, भाग ७ पृ० २११, ३४५, ओविंगटन लिखित वॉयेज टु सूरत, पृ० २०६।

(४९) इस सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए स्काट लिखित डेकन, भाग १ पृ० २०३, फायर्स ट्रवेल्स, पृ० १२४।

प्रभून्ची बखर से यह स्पष्ट है (५०) कि बीजापुर के मुसलमान शासकों के समक्ष भी, अपनी हिन्दू प्रजा के विभिन्न वर्गों के बीच उत्पन्न होने वाले धर्म सम्बन्धी विवादों पर विचार करने के अवसर आ पड़ते थे। उदाहरण के लिए, कोंकण स्थित ब्राह्मणों एवं प्रभुओं के बीच उठने वाले पारस्परिक विवादों के दौरान में दो प्रतिद्वन्द्वी दल न्याय के लिए स्थानीय बीजापुरी राज्याधिकारी के सम्मुख उपस्थित हुए। यह अधिकारी जाति का मुसलमान था; उसने दोनों पक्ष वालों से स्पष्ट कह दिया कि वह दोनों में से एक भी पक्ष के शास्त्रों के विषय में कोई भी जानकारी नहीं रखता। उसने दोनों पक्षों को सलाह दी कि वे अपने विवादग्रस्त विषय का उचित निर्णय कराने के लिए शास्त्रीय ज्ञान के केन्द्र-बनारस चले जायँ और वहाँ के पंडितों के समक्ष अपना विवाद उपस्थित करें, और प्रतिज्ञा की कि उक्त विषय में बनारस के पंडित जो निर्णय दें उसी को वह भी मान्यता प्रदान करके कोंकण में लागू करेगा। बखर के वर्णनानुसार, दोनों ही पक्षों ने इसी सलाह को मानकर बनारस के लिए प्रस्थान कर दिया। उनके विवादग्रस्त विषय पर विचार करने के लिए बनारस के पण्डितों की एक वृहत सभा का आयोजन किया गया और पर्याप्त लम्बे वाद विवाद के पश्चात यह निर्णय किया गया कि प्रभु शुद्ध क्षत्रिय हैं, वे वैदिक संस्कारों तथा समारोहों में भाग लेने के (५१) तथा

---

(५०) पृ० ८-६। यह विवाद इसी प्रकार चलता रहा और कुछ समय पश्चात् नाना फड़नवीस के समय में प्रभुओं ने यह प्रस्ताव रक्खा, 'हमारी जाति की ओर से प्रार्थना है कि समाज में हमारा स्थान निश्चित करने के लिए विद्वान ब्राह्मणों की एक समिति बना दी जाय। इस समिति द्वारा जो भी निर्णय किया जाय उसे राजाज्ञा के रूप में घोषित कर दिया जाय और यह हमारा कर्त्तव्य होगा कि विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न कराने की जो विधि आज्ञा के रूप में बताई जाय, हम उसी का प्रयोग करें। लेकिन राज्य को इस प्रकार की आज्ञा को उचित विचार के उपरान्त घोषित कराएँ।' कायस्थ प्रभून्च्यां इतिहासाचिन साधनेन (प्रामण्य) पृ० १७, कायस्थ प्रभून्ची बखर, पृ० १२।

(५१) इस सम्बन्ध में देखिए वेस्ट तथा बुह्लर कृतः डाइजेस्ट आव हिन्दू लॉ, पृ. ६२०, माण्डलिक कृत हिन्दू लॉ पृ. ५६ से तुलना कीजिए।

गायत्री मंत्र का पाठ करने के अधिकारी हैं। बखर में कहा गया है कि इस निर्णय से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो गए, और प्रभुओं के समस्त संस्कारों को विधिवत् सम्पन्न कराने के लिए सहमत हो गए। बखर में बाद में यह भी लिखा हुआ है कि ब्राह्मणों ने ऐसा ही किया।

शाहजी के विवाद के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी घटनाएँ घटी थीं, जिनपर यदि ध्यान दिया जाय तो उनको भी इसी प्रकार के मामले का उदाहरण माना जा सकता है। कुछ अन्य दृष्टियों से भी ये घटनाएँ अत्यन्त रोचक हैं इसलिए उनका वर्णन कुछ विस्तार में देना उचित होगा (५२) शाहजी का पिता मालोजी तथा उसका भाई विठोजी दोनों ही लुकजी जाधवराव की सेवा में नियुक्त थे, जो कि स्वयम् निजाम शाही सरकार के अधीन एक मनसबदार था। एक बार १५९८ में जब लुकजी जाधवराव के निवास-स्थल पर 'राँगा' का 'शिमगा' समारोह सम्पन्न हो रहा था, और उच्चकुलीन सामन्त सरदार आदि भोजन पर बैठे हुए थे; इस अवसर पर मालोजी भी अपने छोटे से पुत्र शाहजी के साथ उपस्थित थे, शाहजी की आयु उस समय मुश्किल से पाँच वर्ष थी और देखने में वह बहुत सुन्दर था। उसकी सुन्दर आकृति से मोहित होकर जाधवराव ने उसे अपनी पुत्री की बगल में बैठा दिया, जिसकी आयु कुल तीन ही वर्ष थी। मालोजी से वार्तालाप करते समय बिना किसी पूर्व निश्चय के अनायास ही जाधवराव के मुख से निकल गया कि शाहजी तथा उसकी (जाधवराव की) पुत्री की जोड़ी क्या ही सुन्दर रहेगी: इसके पश्चात् उसने हँसी-हँसी में ही अपनी अबोध पुत्री से पूछा कि क्या वह शाहजी को पति रूप में प्राप्त करना पसन्द करेगी ! जाधवराव के ऐसा कहते ही मालो जी तथा विठोजी, दोनों भाइयों ने समस्त उपस्थित अतिथियों के सम्मुख घोषित किया कि जाधवराव ने शाहजी के साथ अपनी पुत्री जीजाबाई का विवाह करने का वचन दे दिया है और समस्त उपस्थित अतिथिगण इसके साक्षी रहेंगे। जाधवराव की पत्नी ने इस सम्बन्ध को स्वीकार करने में अनिच्छा प्रकट की, और जाधवराव से कहकर उसने मालो जी तथा विठो जी को नौकरी से अलग

(५२) देखिए मराठी साम्राज्य बखर पृ० ४-७ और विविध ज्ञान विस्तार भाग ६. पृ. ३७ और आगे से तुलना कीजिए।

करवा दिया। उन दोनों ने जाधवराव की नौकरी छोड़ दिया, परन्तु कुछ समय पश्चात् ही उनको भी समृद्धि के दिन लौटे; उनके अधीन अब लगभग दो-तीन हजार सैनिक एकत्रित हो गये थे। साथ ही उन्हें कुछ अन्य सजातीय सरदारों की सहायता भी प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार कुछ शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद वे दौलताबाद के पास स्थित एक स्थान पर गए, और दौलताबाद की मस्जिद में कुछ सुअरों की लाशें फेंक दीं, इसी के साथ पत्र द्वारा निजाम को सम्बोधित करते हुए उन्होंने उसे अपने जाधवराव के बीच हुए विवाह-प्रस्ताव की सूचना दी और धमकी दी कि यदि पूर्व निश्चित इस विवाह के सम्पन्न किए जाने के लिए यदि उसने जाधवराव को तैयार नहीं किया तो वे इसी प्रकार उसके राज्य में स्थित अन्य मस्जिदों को भी भ्रष्ट कर देंगे। (५३) निजाम ने तुरन्त इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाई प्रारम्भ कर दिया और जाधवराव को आदेश दिया कि वह अपने वचन को पूर्ण करे। निजाम ने मालोजी और विठोजी को अपनी सेवा में नियुक्त कर लिया और शाहू तथा जीजाबाई का विवाह निजाम की व्यवस्था के अन्तर्गत अत्यन्त धूमधाम से सम्पन्न हुआ। यह स्पष्ट है कि शाहजी के विवाह से सम्बन्धित इस कहानी के समस्त अंग अत्यन्त रोचक तथा अभूतपूर्व हैं, परन्त उनसे यह जानकारी तो मिलती ही है कि विवाह जैसे गम्भीरतम सामाजिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में कोई विवाद उठने पर मुस्लिम राज्यों की हिन्दू प्रजा चाहे जिस तरह से भी, अपने शासकों द्वारा ही विवादों का निपटारा कराने का प्रयत्न करती थी।

खर्दा के युद्ध के बखर में एक ऐसा अंश मिलता है जिससे यह जानकारी प्राप्त होती है कि जनता धार्मिक विवादों, या समस्याओं या प्रश्नों की ओर किस प्रकार राज्य के न्याय विभाग का ध्यान आकर्षित कराती थी, और उस पर न्याय विभाग द्वारा किस ढंग से

(५३) टैवर्नियर्स ट्रैवेल्स, भाग १, पृ. ११ में इसी प्रकार का अत्यन्त मनोरंजक विवरण मिलता है जिसके अनुसार एक मुसलमान और एक अंग्रेज में विरोध उत्पन्न हो जाने पर अंग्रेज ने अपने विरोधी से बदला लेने के लिए सुअर के मांस का प्रयोग किया था।

कारवाई की जाती थी। ऐसा विवरण मिलता है कि तलेगाम में एक ब्राह्मण स्त्री थी जो एक मुसलमान के साथ रखेल के रूप में रहती थी। ५४) उस गाँव के ब्राह्मणों ने पूना में नाना फड़नवीस के पास उस स्त्री की शिकायत पहुँचाई, और सारे तथ्यों का यथावत वर्णन करते हुए उन्होंने प्रचलित ढंग से कहा कि ब्राह्मण-धर्म रसातल को चला गया है। नाना फड़नवीस ने सहसा इस आरोप पर विश्वास नहीं किया, इसलिए इस मामले की जाँच करने के लिए उसने पंचों की एक समिति बना दी (५५)। अब उस मुसलमान ने पंचों को घूस देकर उन्हें अपने पक्ष में कर लिया; पंचों ने निर्णय के लिए निश्चित समय से पहले ही अपना यह विचार प्रकट कर दिया कि वे उस मुसलमान के विपक्ष में अपना मत नहीं देंगे क्योंकि वे इस मामले में उसे निर्दोष मानते हैं और उक्त आरोप को झूठा समझते हैं। ज्योंही पंचों के इस विचार की भनक लोगों को मिली, 'लगभग सौ या दो सौ ब्राह्मण' एक दल बनाकर पुनः पूना की ओर चल पड़े। पूना पहुँचकर वे पेशवा के शिविर के सामने गए (जो कि उस समय सेना के साथ उस अभियान के लिए प्रस्थान करने की तैयारी कर रहा था जिसका अन्त खर्दा में हुआ) और मध्य दोपहर को जलती हुई मशालों के साथ वहीं बैठ गए। जब पेशवा शिविर से बाहर निकला तो ब्राह्मणों ने एक-स्वर से 'हर हर महादेव' का जोरदार नारा लगाया और जब पेशवा ने उनके आगमन के उद्देश्य तथा इस

(५४) देखिए खर्दा बखर, पृ. ५-६। (खर्दा के लिए ग्रान्ट डफ ने कुईला लिखा है, जो कि गलत है)।

(५५) अपराध सम्बन्धी मामलों के निर्णय के लिए की जाने वाली पंच व्यवस्था के लिए देखिए ग्रान्ट डफ, भाग २, पृ. २३७ और तुलना कीजिए फारबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग १, पृ. ४७४; मलकम का सेन्ट्रल इण्डिया, भाग १, पृ. ५३६; भाग २, पृ. २६०, ४२६; स्टीफेन लिखित इम्पी-ऐण्ड नन्दकुमार, भाग १, पृ. २४७, भाग २, पृ. ७८। ग्रान्ट डफ के अनुसार ब्राह्मणों तथा स्त्रियों को मृत्युदण्ड नही दिया जाता था तुलना के लिए देखिए मल्हारराव चिटनिस लिखित छोटे शाहू का जीवन चरित्र, पृ. ७२-८०; पेशवा का बखर, पृ. १२८; फारेस्ट, पृ. १८, चित्रगुप्त लिखित शिवाजी, पृ. ५, चिटनिस लिखित शाहू, भाग १, पृ. २५, ५, सम्भाजी, पृ, १२, १४।

प्रकार के व्यवहार का रहस्य जानने की इच्छा प्रगट की तो उन्होंने कहा कि वे तलेगाम से आ रहे हैं; उन्होंने पेशवा को पंचों के पक्षपात पूर्ण मत से अवगत कराया तथा अपने व्यवहार की व्याख्या करते हुए बताया कि वे मध्यान्ह में भी मशाल इसलिए जलाए हुए हैं कि राज्य में सर्वत्र अन्धकार व्याप्त है, अर्थात् न्याय का अस्तित्व समाप्त हो गया है। इस पर पेशवा ने नाना फड़नवीस को बुलाए जाने का आदेश दिया, तथा पंचों और अभियुक्ता ब्राह्मणी को भी बुलवाया गया। जिस समय अभियुक्ता से उसका बयान माँगा गया, वह कुछ समय तक चुप रही; परन्तु जब बेंत लाने का आदेश दिया गया। (५६) तो उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उसकी अपराध स्वीकृति से पेशवा ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे दोनों ही व्यक्ति मुसलमान तथा ब्राह्मणी-जिन पर आरोप लगाया गया था, अपराधी थे। इस मामले के निर्णय में यज्ञेश्वर शास्त्री का सहयोग भी मिला था, ऐसा वर्णन मिलता है। इन अपराधियों के लिए जो दण्ड निर्धारित किया गया था वह यह था कि पुरुष अभियुक्त को पहले गधे पर उल्टे मुँह (५७) बैठा कर पूना की गलियों में निकाला जाय, तत्पश्चात् उसे हाथी के पैरों में बाँधकर मरवा डाला जाय और चूँकि ब्राह्मणी को स्त्री होने के कारण मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था। (५८) अतः उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया।

---

(५६) यह व्यवस्था प्राचीन परम्परा के अनुकूल ही थी; तुलना के लिए देखिए, मुद्राराक्षस, अंक ५, विलसन कृत हिन्दू थिएटर, भाग १, पृ. २०१।

(५७) देखिए स्काट लिखित डेकन, भाग १, पृ. ३७५।

(५८) देखिए ऊपर की नोट संख्या ५५। जिन दण्डों का उल्लेख यहाँ किया गया है उनका प्रयोग विभिन्न अपराधों के लिए प्रचलित था। गधे पर उल्टे मुँह बैठाकर शहर में निकालने को 'ढिन्डा' कहा जाता था और कुख्यात अपराधी घासीराम कोतवाल को यह दण्ड दिया गया था (पेशवा का बखर, पृ. १५७), यद्यपि उसे गधे के बदले सवारी के लिए ऊँट दिया गया था। इस सम्बन्ध में देखिए फाँरबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग २, पृ. १३५ जहाँ इस घटना का विस्तृत विवरण दिया गया है। फ़ायर का पृ. ९७ भी देखिए

ऊपर हमने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है उनसे मराठा राजाओं के धर्म सम्बन्धी नीति तथा धार्मिक न्याय-प्रणाली के लगभग समस्त अंगों पर प्रकाश पड़ता है। इन घटनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठा राजा राज्य तथा धर्म के प्रधान के रूप में वैधानिक शक्तियों तथा न्याय सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग स्वयम् भी करते थे और पंचों के माध्यम से भी कराते थे; वे अपने प्रशासनिक अधिकारों का प्रयोग विभागीय मंत्रियों के माध्यम से तथा कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकार प्रयोग सरकारी कारकुनों के माध्यम से करते थे। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि जिन कागजात में से हमें ये सूचनाएँ प्राप्त होती हैं उनका लेखन काल शिवाजी के समय से लेकर सवाई माधवराव के शासनकाल तक, अर्थात् मराठों के पूरे शासन काल तक विस्तृत है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जिन मराठा राजाओं के अत्यन्त

नारायणराव पेशवा के हत्यारों में से कुछ को तथा सदाशिवराव भाऊ को हाथियों के पैरों में बँधवा कर मृत्यु दण्ड पूर्ण किया गया था। देखिए भाऊसाहेब की कैफियत, पृ. ३, और तुलना के लिए फारेस्ट का सेलेक्शन्स, पृ. ४, डाडसन का एलियट, भाग ७, पृ. ३५९-६३; बर्नियर्स ट्रेवेल्स, पृ. १७७; स्काट का डेकन, भाग १, पृ. ११४, २८५, ३९३ और हैमिल्टन लिखित ईस्ट इन्डीज, भाग १, पृ. १७८, जहाँ यह लिखा गया है कि इस प्रकार की मृत्यु को अत्यन्त अपमान-जनक माना जाता था)। अन्य श्रेणी के अपराधियों को मृत्यु दण्ड देने के लिए उनका सर काट लिया जाता था अथवा गोली मार दी जाती थी। कुछ अन्य श्रेणियों के अपराधियों को मृत्यु दंड देने के लिये उनके शरीर में मशालें बाँध दी जाती थीं, और मशालों में आग लगाकर जीवित जला दिया जाता था, और ऐसा करने से पूर्व उनकी उंगलियों को सुइयों से छेद डाला जाता था। देखिए पेशवा का बखर, पृ. १३२। सदाशिवराव भाऊ को दिए गए मृत्यु दण्ड के सम्बन्ध में विभिन्न विवरणों के लिए देखिए पेशवा का बखर पृ. १३४, निगुडकर लिखित परशुराम भाऊ पटवर्धन का जीवन चरित्र, पृ. ४०, ग्रान्ट डफ भाग २, पृ. ३३१-३५, पेशवा की शकावली, पृ. ३०; डाडसन का एलियट, भाग ८, पृ. २९४, मराठी साम्राज्य बखर, पृ. १०० और चिटनिस लिखित राजाराम की जीवनी, पृ. ४५।

व्यापक रूप में प्रशासनिक अधिकारों के साथ धार्मिक अधिकारों का पूर्ण उपभोग किया, उन्हें क्षत्रिय माना जाता था। हाल ही में प्रकाशित किए गए वृत्तान्तों में मराठा राजाओं के क्षत्रियत्व के सम्बन्ध में अनेक विवरण मिलते हैं। परन्तु इनमें से जो विवरण शिवाजी के सम्बन्ध में हैं, (५९) यदि हम उनका आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें पता लग सकता है कि शिवाजी के क्षत्रिय होने के दावे को सम्बन्धित लोगों ने स्वीकार कर लिया था, परन्तु इस दावे को सभी लोगों ने सत्य और वास्तविक नहीं माना था यद्यपि राजनीति तथा शिवाजी के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा के कारण इस दावे का विरोध जन-साधारण द्वारा नहीं किया गया था। शिवाजी के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में दो जीवनियाँ मुख्य हैं जिनके लेखक हैं कृष्णाजी अनन्त सभासद (६०) और चित्रगुप्त (६१) जिनके द्वारा दिए गए वर्णनों से प्रतीत होता है कि जिस समय शिवाजी के औपचारिक अभिषेक का प्रस्ताव नहीं उपस्थित हुआ, शिवाजी के परिवार की उत्पत्ति को इतिहास में कोई उत्सुकता नहीं दिखाई गई; और जब इस इतिहास की खोज की गई तो सिद्ध किया गया कि वह परिवार राजपूतों के सीसौदिया (६२) वंश से संबंधित था जो उदयपुर में राज्य करते थे (६३) मल्हार रामराव चिटनिस द्वारा लिखित वृत्तान्त

---

(५९) देखिए चित्रगुप्त लिखित जीवनी, पृ. १०८, ११६ और १६८, मराठी साम्राज्य बखर, पृ. २४७ से तुलना कीजिए।

(६०) देखिए पृ. ६८; फारेस्ट के सेलेक्शन का पष्ठ २२ भी देखिए।

(६१) पृ. ६८।

(६२) देखिए विविध ज्ञान विस्तार, भाग १०, पृ. ४४, ११६-१९।

(६३) देखिए चिटनिस लिखित शाहू, पृ. ६, इसके अतिरिक्त देखिए विविध ज्ञान विस्तार, भाग ६, पृ. ३२, गुप्ते लिखित भोंसले बखर पृ. ४, पत्र और स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ. ३६२; म० रा० चिटनिस छोटे शाहू का जीवन पृ. १०१-२; जहाँ किसी विशेष धार्मिक संस्कार के सम्बन्ध में उदयपुर के राजपरिवार में प्रचलित भिन्न विधि का उल्लेख किया गया हैं यह स्मरणीय है उदय पुर परिवार को राजपूत वंशों में सबसे प्राचीन माना जाता है। (देखिए ग्रान्ड डफ, भाग १ पृ. २७), और वही एक ऐसा परिवार था जिसने

में समस्त तथ्यों को पूर्वनिश्चित मानकर उनका वर्णन किया गया है, परन्तु फिर भी सम्बन्धित विवाद के सम्बन्ध में चिटनिस लिखता है कि अभिषेक के समारोह को सम्पन्न कराने के लिए बनारस के विख्यात पण्डित गागाभट्ट को निमन्त्रित किया गया था, और इस समारोह को सम्पन्न कराने का आग्रह करने से पूर्व उसके समक्ष कुछ नीतिपूर्ण सुझाव रक्खे गए थे (६४) अभिषेक के पूर्व, प्रारम्भिक संस्कार के रूप में जिस समय शिवाजी का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया, जो कि क्षत्रियों के लिए आवश्यक माना जाता है, उस समय उसकी आयु "छियालिस या पचास वर्ष" थी, और वह दो पुत्रों का पिता था, ऐसी अवस्था में शिवाजी का यज्ञोपवीत संस्कार करना हिन्दू धर्मशास्त्र के विरुद्ध था, परन्तु किसी भी ब्राह्मण या पंडित ने इसका विरोध नहीं किया और तुरन्त सहमति प्रकट कर दी (६५)। किस प्रकार ब्राह्मण और पण्डित इस निर्णय पर पहुँचने के लिए प्रेरित किए गए उसका उल्लेख किसी भी वृत्तान्त अथवा जीवनी में नहीं किया गया है। साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि इन वृत्तान्तों और जीवनियों में उन व्यक्तियों को छोड़कर जो राज्याभिषेक के अधिकारी होते थे, (६६) शिवाजी के परिवार के किसी

अपनी किसी भी कन्या का विवाह महान मुगल सम्राटों के साथ नहीं किया था (देखिए कॉनेल द्वारा सम्पादित एलफिन्सटन कृत इण्डिया पृ. ४८०–५०६-७ और तुलना के लिए वि० ज्ञा० विस्तार, भाग ६, पृ. २६; बर्नियर्स ट्रवेल्स, पृ. १२६, नोट; डाउसन का एलियट, पृ. १६५–६६।

(६४) विविधज्ञान विस्तार, भाग १३, पृ० २०२। देखिए चिटनिस परिवार का इतिहास (का० प्र० इ० साधनेन) पृ० ६, ८ और का० प्र० बखर पृ० १०-११। पूना के 'ज्ञान प्रकाश' नामक अखबार के एक लेखक के अनुसार गागाभट्ट ने अपनी कार्यसिद्धि के लिये इस कार्य की उपयोगिता बताकर लोगों को हो रहे कार्यों से सहमत किया था, इस बात को पुष्ट करने के लिये उक्त लेखक ने कोई प्रमाण या उद्धरण नहीं दिया है।

(६५) देखिए वि० ज्ञा० विस्तार, भाग १३, पृ० २०३।

(६६) राजाराम के यज्ञोपवीत संस्कार का उल्लेख म०रा० चिटनिस (वि० ज्ञा० विस्तार, भाग १३, पृ० २४८) ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है

अन्य व्यक्ति के यज्ञोपवीत संस्कार करने के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता, और जहाँ कहीं भी यज्ञोपवीत संस्कार का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध अभिषेक समारोह से अवश्य रहा है (६७)। उपरोक्त तथ्यों को देखते हुए उस शंका को निराधार नहीं कहा जा सकता कि दोनों ही जीवनी लेखकों—कृष्णाजी अनन्त सभासद (६८) और मल्हार रामराव चिटनिस--द्वारा शाहजी को सीसौदिया राजपूत सिद्ध किए जाने अथवा मिरजा राजा जयसिंह द्वारा शिवाजी को क्षत्रिय माने जाने तथा उसके अभिषेक के पूर्व उसके साथ बैठकर भोजन करने से निकले निष्कर्ष पर विश्वास किया जा सकता है अथबा नहीं (६९) मराठा इतिहास के विद्यार्थी जानते होंगे कि कालान्तर में सतारा के राजा (७०) सिन्धियाँ (७१), नागपुर के भोंसले, घोरपड़े तथा अन्य सरदार क्षत्रिय होने का दावा करने लगे थे, परन्तु शिवाजी के मामले के पश्चात् इन लोगों के दावों पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कृष्णाजी, अनन्त सभासद

कि सम्भाजी का यज्ञोपवीत संस्कार शिवाजी को अपेक्षा कम आयु में ही हो गया था, स्पष्टतः उस समय से पूर्व जबकि उसे युवराज घोषित किया गया था।

(६७) उदाहरण के लिये देखिए चिटनिस लिखित राजाराम की जीवनी भाग २ पृ० २ शाहू की जीवनी पृ० १६।

(६८) सभासद लिखित जीवनी पृ० २८, ३८ देखिए वि० ज्ञा० विस्तार भाग ६, पृ० ३० भाग १०, पृ० ४४, ११६ भाग १३, पृ० २०२, जहाँ शिवाजी दावा करता है कि उसके परिवार के अन्य सदस्य कच्छ और नेपाल में शासन कर रहे हैं।

(६९) देखिए चिटनिस लिखित शाहू की जीवनी पृ० ९, ६१ राजाराम की जीवनी, भाग २ पृ० २१ फारबीज लिखित ओरियन्टल मेम्वायर्स (भाग १, पृ० ४५६, भाग २, पृ० ६१) के अनुसार 'मराठे हिन्दुओं की निम्न जातियों में' मराठों की 'गणना की जाती है।' तुलना कीजिये डाडसन के एलियट (भाग ७, पृ० २०९ से।

(७०) देखिए मराठी साम्रज्य बखर पृ. ११६, स्काट लिखित डेकन, भाग १, इ. ३२, भाग २, पृ. ०, फोरेस्ट का सेलेक्शन्स, इ. ७२५।

(७१) देखिए भाऊ साहेब का बखर, पु. ६८।

लिखित जीवनी का एक अंश इन समस्त धर्मविरोधी व्यवस्थाओं की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है। सभासद कहता है कि शिवाजी ने गागाभट्ट (७२) का अत्यन्त भव्य स्वागत किया जिससे वह पण्डित शिवाजी के ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वही प्रथम व्यक्ति था जिसने शिवाजी को यह बात सुझाई कि जब एक मुसलमान बादशाह सिंहासन पर बैठता है और अपनी सत्ता के प्रतीक रूप में छत्र धारण करता है (७३) तो यह उचित नहीं है कि इतने विस्तृत क्षेत्र का स्वामी होते हुए भी वह (शिवाजी) राजत्व के प्रतीकों वह चिन्हों को धारण न करे (७४) और जब शिवाजी ने इस परामर्श को स्वीकार कर लिया एवं एक औपचारिक राज्याभिषेक की तैयारियाँ की जाने लगी, तब तक शिवाजी के परिवार की उत्पत्ति के मूल स्रोत का पता लगाना तथा यह सिद्ध किया जाना कि शिवाजी जन्म से ही क्षत्रिय है—आवश्यक हो गया। इस मामले से सम्बन्धित प्रमाणों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्ध रूप से एक राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाई गई योजनाओं को सहायता पहुँचाने के लिए जानबूझ कर धार्मिक नियमों को तोड़-मरोड़ कर, तथा तथ्यों को घुमा-फिरा कर योजना के अनुकूल बनाने का सफल प्रयास किया गया था। जिसका अन्तिम उद्देश्य था शिवाजी को क्षत्रिय सिद्ध करके, तथा उसका अभिषेक करके राजसत्ता को विधिसंगत ढंग से सबल हाथों में सौंपना (७५)।

---

(७२) चित्रगुप्त (पृ. ९५) के वर्णन से ज्ञात होता है कि गागाभट्ट को निमंत्रित नहीं किया गया था, बल्कि वह स्वयम् शिवाजी से भेंट करने आया था। अन्य स्रोत इस बात को दूसरे ढंग से कहते हैं, उनके अनुसार इस कार्य की पूर्त्ति के लिए भेंट के रूप में गागाभट्ट को एक लाख रुपया दिया गया था; देखिए चिटनिस परिवार, पृ. ६, (का० प्र० इ० साधनेन)।

(७३) देखिए स्काट कृत डेकन, भाग, १, पृ. ८१, ९३, २१०, २८८, ३५१, ३७०-६; पृ. ३५१ का अंश नोट करने योग्य है, तुलना के लिए देखिए ओविंगटन लिखित वायेज टु सूरत, पृ ३१५।

(७४) पृ. ३०

(७५) कुछ वर्णनों के अनुसार शिवाजी अपने यज्ञोपवीत संस्कार के लिए बहुत उत्सुक था—देखिए चित्रगुप्त पृ० ८४। विविध ज्ञान विस्तार भाग १३,

हाल ही में प्रकाशित वृत्तान्तों में धार्मिक नियमों एवं बन्धनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तोड़ने के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनेकानेक अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है उस समय जब कि शिवाजी दिल्ली के कारागार से अपने पुत्र सम्भाजी के साथ भाग निकला था, और सम्भाजी की सुरक्षा की दृष्टि से उसे अपने साथ न रखकर काशीपन्त नामक विश्वस्त ब्राह्मण के संरक्षण में छोड़ दिया था; सम्भाजी को पीछे छोड़ देने का कारण यह भी था कि इससे शिवाजी को सुरक्षित रूप से भागने में किसी प्रकार का अवरोध न रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब के कुछ जासूसों को सम्भाजी पर शक हो गया। काशीपन्त ने सम्भाजी को अपना पुत्र प्रसिद्ध कर रक्खा था; जब मुगलों की ओर से इस सम्बन्ध पर सन्देह किया जाने लगा तो उनकी शंका का समाधान करने के लिए काशीपन्त ने मुगलों द्वारा नियोजित चुनौती को स्वीकार किया और उसी थाली में से ग्रास उठा कर खाया जिसमें सम्भाजी भोजन कर रहा था। ब्राह्मण काशीपन्त ने थाली में से केवल चिवड़ा (७६) उठा कर तथा Plantain पत्ते (७७) पर रखते हुए उसमें दही मिलाकर खाया

पृ० २०२ में यह उल्लेख मिलता है कि इस संस्कार को सम्पन्न कराने के लिए शिवाजी प्रायः पण्डितों एवं धर्माचार्यों से परामर्श लेता था। यह भी कहा गया है [देखिए मराठी साम्राज्य बखर पृ० ४७ और बाबा साहब गुप्ते का वर्णन (का० प्र० इ० सा०) पृ० ८] कि एक बार शिवाजी ने गायत्री मंत्र का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त क्षत्रिय धर्म के बदले ब्राह्मण धर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करने का निश्चय किया (तुलना करें श्री शिवकाव्य खण्ड १ छन्द ५०) परन्तु उसके अधिकारियों ने उसे ऐसा करने से रोकने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद उसने आदेश दिया कि ब्राह्मणों को किसी क्षुद्र सेवा कार्य में नियुक्त न किया जाय, और तदनुसार नियुक्तियों में अनेक परिवर्तन किए गए—देखिए ग्रांट डफ भाग १ पृ० २६६, फारेस्ट भाग १ पृ० २५१।

(७६) तुलना करें—डाउसन का एलियट भाग ७ पृ० २८५, भाग १ पृ० ६ विविध ज्ञान विस्तार, भाग १० पृ० २००।

(७७) फारबीज (ओरियण्टल मेम्वायर्स) कहता है कि उसके समय कोई ब्राह्मण टिन की पर्त्त चढ़े हुए तांबे के बर्तन में भोजन नहीं कर सकता था, बल्कि बर्तन में से उठा कर तथा plantain पत्ते पर रखकर खाता था।

जिससे कि उसके द्वारा स्वामिभक्ति के लिए किया गया यह अपराध कम से कम हल्का हो जाय और औरंगजेब के जासूसों को विश्वास भी हो जाय कि वास्तव में सम्भाजी ब्राह्मण-पुत्र ही है उसने इस प्रकार का धर्मविरोधी आचरण करके मुगल जासूसों के सन्देह को दूर कर दिया और सम्भाजी की जान बच गई। परन्तु शिवाजी के जीवनी लेखकों में से एक— चित्रगुप्त का कहना है कि काशीपन्त ने जो धार्मिक अपराध किया था, उसके लिये उसने गुप्त रूप से प्रायश्चित भी किया था (७८) यह बात भी उल्लेखनीय है कि इसी लेखक के अनुसार काशीपन्त के साथ ब्राह्मणोचित वेशभूषा (७९) में रहता था; कमर में एक धोतर (८०) बाँधता था और गले में यज्ञोपवीत धारण करता था,

---

(७८) पृ० ७५ अन्य स्रोतों में काशीपन्त द्वारा किए गए पश्चात्ताप का कोई उल्लेख नहीं मिलता। साथ बैठकर खाने की इस परीक्षा के प्रयोग के अनेक उदाहरण मराठा इतिहास में प्राप्त होते हैं। देखिए मल्हार राव चिटनिस लिखित राजाराम की जीवनी, भाग २ पृ०२, एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३, पृ० १३७, ग्राण्ट डफ, भाग २ पृ० ३९, मलकम का सेण्ट्रल इण्डिया भाग २ पृ० १३१, १४९, चित्रगुप्त लिखित जीवनी पृ० ६२, गायकवाड़ की कैफियत पृ० ६ मराठी साम्राज्य बखर पृ० ३२, वि० ज्ञा० विस्तार भाग ९, पृ० ३१, २, ७०, भाग १० पृ० २०२, गुप्ते लिखित भोंसले का बखर पृ० ९, २०, ३१। साथ खाने से सम्बन्धित दो रोचक घटनाओं के विवरण के लिए देखिये होलकर की कैफियत पृ० ४, पूना के ज्ञान प्रकाश नामक समाचार पत्र का एक लेखक कहता है कि जब राजाराम अपने अनुयायियों के साथ देश में भटक रहा था तो एक स्थान पर उसकी मुठभेड़ औरंगजेब के आदमियों से हो गई और उनके मन में सन्देह न उत्पन्न होने देने के लिए मराठों, प्रभुओं और ब्राह्मणों ने रेशमी वस्त्र धारण करके एक पंक्ति में भोजन किया था। किसी भी प्रकाशित बखर में इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता।

(७९) देखिए चित्रगुप्त लिखित जीवनी पृ० ७७ वि० ज्ञा० विस्तार, भाग १० पृ० १८५, स्काट का डेकन भाग २, पृ० १६।

(८०) पेशवा के बखर पृ० १०५, १३९, १४२ से पता चलता है कि ब्राह्मण बिना विशेष बाधा के पैजामे और पैण्ट का उपयोग करते थे। वर्णन मिलता है कि सवाई माधव राव ने अपने विवाह के अवसर पर ऐसा वेष धारण

यद्यपि १६७६ के पूर्व उसे यह पवित्र सूत्र धारण करने का अधिकार विधिसंगत रूप से प्राप्त नहीं हुआ था, जब कि शिवाजी ने उसे युवराज घोषित करने के पूर्व उसका यज्ञोपवीत (मूँज) संस्कार सम्पन्न कराया था (८१)।

इसी प्रकार के धर्म के प्रतिकूल आचरण का एक अन्य उदाहरण शिवाजी के परिवार में ही प्राप्त होता है जिस समय शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्यु हो गई थी। परम्परानुसार अपने पति की मृत्यु के पश्चात् जीजाबाई ने सती होने का संकल्प प्रकट किया, और शिवाजी द्वारा किए गए अनुरोध भी उसे उसके निश्चय से विरत करने में असफल सिद्ध हुए; अन्त में जीजाबाई के सती होने की तैयारियां की जाने लगी। चित्रगुप्त (८२) लिखता है कि उसके संकल्प का त्याग कराने के लिए लोगों ने उससे कहा कि यदि वह सती हो गई तो शिवाजी भी न बच सकेगा, और अपने पुरुषार्थ से उसने जो कुछ भी प्राप्त किया है, उसका अस्तित्व लुप्त हो जायगा अतः उसके सती न होने में ही राज्य तथा मराठा देश का हित

किया था। देखिए चित्रगुप्त लिखित शिवाजी पृ० ५, फॉरबीज का ओरियण्टल मेम्वायर्स भाग २, पृ० १२ भोंसले के बखर (पृ० ४८) में सिर पर बाँधे जाने वाले वस्त्र के पुराने ढंग में हुए परिवर्तन की आलोचना की गई है। इस बात की तुलना एक अंग्रेज वकील द्वारा प्रदर्शित रूढ़िवादिता से करना सम्भवतः अनुचित नहीं होगा, जिसका उल्लेख चार्ल्स ममनर की अत्यन्त रोचक पुस्तक लाइफ ऐण्ड लेटर्स भाग १, पृ० ३३८ में किया गया है।

(८१) देखिए वि० ज्ञा० विस्तार, भाग १० पृ० १८५, मराठी साम्राज्य बखर पृ० ३२, भोंसले बखर पृ० ६, चित्रगुप्त लिखित शिवाजी पृ० ७७। डाउसन के एलियट (भाग ७ पृ० ३७२) में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सम्भा जी का विवाह दिल्ली जाने से पूर्व ही हो गया था। इसके प्रतिकूल विचार के लिए देखिए विविध ज्ञान विस्तार भाग १० पृ० २०३ मराठी साम्राज्य बखर पृ० ११७, और विविध ज्ञान विस्तार भाग १३, पृ० २४२ में किया गया वर्णन भी देखें।

(८२) देखें पृ० ८५। तुलना के लिए देखिये सभासद लिखित शिवाजी की जीवनी पृ० ५५ होलकर की कैफियत पृ० ६७ और बर्नियर प० ३०८।

है। इस तर्क ने तत्काल जीजाबाई के निश्चय को परिवर्तित कर दिया, और वह सती नहीं हुई। आगे के वर्षों में तथा पेशवाओं के शासन-काल में भी इसी प्रकार की घटनाओं के अनेकानेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं। धार्मिक नियमों की सबसे महत्वपूर्ण अवहेलना तो यही थी कि ब्राह्मण जाति के होते हुए भी पेशवाओं ने सैनिक व्यवसाय ग्रहण किया था, और यह बात इतनी साधारण और सर्वमान्य हो गई है कि अब लोग इसे धर्मविरोधी मानने के विचार को अपने हृदय में स्थान देने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते हैं, और न यही सोचने का कष्ट करते हैं, ब्राह्मणों द्वारा शस्त्र ग्रहण किए जाने से धार्मिक नियमों का उलंघन होता है (८३)। इस प्रश्न के सम्बन्ध में रामशास्त्री द्वारा किया गया यह विरोध कि पेशवा माधवराव धार्मिक कर्मकाण्डों तथा पूजा पाठ में बहुत अधिक व्यय कर देता था (८४) जब कि क्षत्रियाचित कार्य करने में वह उतनी क्षमता का प्रदर्शन नहीं करता था जितना कि उसे करना चाहिए था, क्योंकि पेशवाओं ने ब्राह्मण धर्म का त्याग कर छत्रिय धर्म ग्रहण किया था--अत्यन्त महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करता है। श्रद्धा विश्वास का हनन मराठों में इतनी सीमा तक बढ़ गया था, तथा राजनीतिक कारणों से इसे ऐसा औचित्य प्राप्त हो गया था कि इसकी विवेचना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती (८५) इसी पेशवा माधवराव के सम्बन्ध में इसी प्रकार की एक अन्य कथा प्रचलित है। जब पेशवा

---

(८३) इस विषय में आज के ब्राह्मणों का विचार जानने के लिए देखिये वि० ज्ञा० विस्तार भाग २१, पृ० २८४, श्री शिव काव्य खण्ड १, पृ० ११२, १५, १२१, खण्ड २ पृ० ४६, ११७। तुलना के लिए मलकम का सेन्ट्रल इण्डिया भाग १, पृ० ७७। फाँरबीज का ओरियन्टल मेम्बायर्स भाग २, पृ० २०६; फारेस्ट पृ० ७२८। पत्रों तथा स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ९ से पता लगता है कि राजसत्ता प्राप्त करने के लिए पेशवाओं ने विशेष धार्मिक संस्कारों का आश्रय लिया था।

(८४) फारबीज (ओरियण्टल मेम्बायर्स भाग १ पृ० ४७२) के अनुसार माधवराव का, 'मस्तिष्क' हिन्दुओं में प्रचलित निषेधों तथा व्याप्त अन्धविश्वासों से मुक्त था।

(८५) ग्रान्ट डफ भाग २, पृ० २०६।

माधवराव हैदर अली के विरुद्ध अभियान करने का प्रबन्ध कर रहा था तो उसने सदैव की तरह (८६) नागपुर के भोंसले सरदार को, पूना पहुँचकर अभियान के लिए तैयार मराठा सेना में सम्मिलित होने का आदेश भेजा। भोंसले का पूना स्थित एजेन्ट इस सम्बन्ध में परामर्श लेने के लिए भूतपूर्व मंत्री सखाराम बापू के पास गया कि भोंसले को क्या करना चाहिए। इस समय पेशवा का एक कारकुन सखाराम बापू के पास ही था, अतः वह भोंसले के एजेन्ट को स्पष्ट उत्तर नहीं दे सका। परन्तु उसने एक रोचक ढंग से भोंसले के एजेन्ट को उचित परामर्श दे दिया और पेशवा का कारकुन कुछ भाँप भी नहीं पाया। हुआ यह कि सखाराम बापू के पास ही दो व्यक्ति बैठे शतरंज खेल रहे थे। सखाराम बापू ने उन्हीं में से एक को सम्बोधित करके कहा कि दूसरी तरफ के पैदल (८७) पूरी शक्ति से उसकी ओर बढ़ रहे हैं इसलिए वह अपने बादशाह को एक या दो कदम पीछे हटा ले। भोंसले का चतुर एजेन्ट सखाराम का इशारा समझ गया, और अविलम्ब अपने स्वामी भोंसले को पत्र लिखा कि पेशवा के आदेश को मानकर उसका पूना आना खतरे से खाली नहीं है, बल्कि उचित तो यह होगा कि वह दो तीन मंजिल और पीछे हट कर नागपुर लौट जाय। भोंसले ने ऐसा ही किया। माधवराव जिस बात या घटना में रुचि लेने लगता था, उसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेने के लिए विख्यात था (८८), जब उसने सुना कि भोंसले ने नागपुर से प्रस्थान तो किया, परन्तु दो ही तीन

---

(८६) इसी कारण पेशवाओं और भोंसले सरदारों में विरोध बढ़ा और अनेक सन्धियाँ हुई—देखिए भोंसले के पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० २३, ६४ ६५, ७०, ११४ और चिटनिस लिखित राजाराम की जीवनी पृ० २३ तथा पेशवा का बखर पृ० ६१ से तुलना कीजिए।

(८७) शतरंज के पैदल मोहरों को महाराष्ट्र में 'प्यादा' कहते हैं।

(८८) अधिकांश इतिहासकारों का विश्वास है कि माधवराव की ही भांति नाना फड़नवीस भी प्रत्येक स्थान से सूचनाएँ एकत्र करने में सिद्धहस्त था, देखिये—ग्राण्ट डफ भाग २ पृ० २२६ गोपिका बाई द्वारा सवाई माधवराव के नाम लिखे गए पत्र में इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है देखिए पत्र और स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ४५६, नाना फड़नवीस के सम्बन्ध में तुलना के लिए देखिए पेशवा का बखर पृ० १४६-४८।

पड़ाव आकर पुनः लौट गया, जब इस बात की जाँच के लिए सखाराम बापू के पास भेजे गए कारकुन से प्रश्नोत्तर करना प्रारम्भ किया तथा उसकी उपस्थिति में वार्तालाप के प्रत्येक शब्द का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसे सखाराम बापू के चातुर्यपूर्ण परामर्श के रहस्य का भी पता चल गया। माधवराव एक अत्यन्त दृढ़ इच्छा-शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति था; उसने तुरन्त भोंसले के एजेन्ट को बुला भेजा; तथा उसके समक्ष उसके तथा सखाराम बापू के बीच हुए वार्तालाप तथा सखाराम बापू के परामर्श एवं उसके (एजेन्ट के) पत्र के फलस्वरूप भोंसले के नागपुर लौट जाने का वर्णन करते हुए अन्त में कहा "यदि तुम्हारा स्वामी पन्द्रह दिन के अन्दर पूना आ जाता है, तब तो ठीक है अन्यथा मैं इस बात की ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं दूँगा कि तुम ब्राह्मण हो (८९) और तुम्हारे सिर में शिविर की कील ठोंकवा दूँगा" (९०)।

महाराष्ट्र के ब्राह्मण शासकों के इस व्यवहार से ही मामले की इतिश्री हो गई हो ऐसी बात नहीं। ब्राह्मण सरदार परशुराम भाऊ पटवर्धन के जीवन हरण का वर्णन करने के पश्चात, एक ब्राह्मण

---

(८९) देखिए पेशवा बखर पृ० ९४। राघोबा दादा के सम्बन्ध में एक और भयानक कथा के लिए देखिए बखर पृ० ८१-२। पूना के ज्ञान प्रकाश नामक समाचारपत्र में हाल ही में इसी प्रकार की एक कथा छपी थी जिसके अनुसार पेशवा की सेवा में नियुक्त सैनिक विभाग के एक व्यक्ति द्वारा अचानक बन्दूक की गोली छूट गई जिससे एक अन्य ब्राह्मण मर गया और पहले को ब्रह्महत्या के लिए समाज से वहिष्कृत कर दिया गया। परन्तु रामशास्त्री ने इस आधार मृत्यु को दुर्घटना मान कर उस वहिष्कृत ब्राह्मण के साथ खुले रूप से भोजन किया और जब इस कृत्य के लिए उससे उत्तर मांगा गया कि किस अधिकार से उसने ऐसा किया। इस पर रामशास्त्री ने कहा—कि उसी अधिकार से- जिससे पेशवा ब्राह्मण होते हुए भी इससे भी व्यूणित ढंग से अपने ही जाति भाइयों की हत्या करता है।

(९०) शिविर की कील द्वारा प्राण हरण करने के सम्बन्ध में देखिये चिटनिस लिखित राजाराम पृ० ७२, मराठी साम्राज्य बखर पृ० १०८ पेशवा शकावली पृ० ३० होलकर की कैफियत पृ० ७९।

कारकुन, अन्त में लिखता है (६१), "मृत व्यक्ति की मृत्यु गौरवपूर्ण थी, क्योंकि उसने उन पेशवाओं की सेवा की थी जो अपने शासन काल के अन्त तक क्षत्रियोचित धर्म का पालन किया था।" (९२) परन्तु यदि हम राजनीति में लिप्त (६३) इन ब्राह्मणों के द्वारा ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध किए गए कार्यों को एक तरफ़ अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाय, तो भी हम देखेंगे कि ब्राह्मण वर्ग सासांरिक अर्थात् राजनैतिक-स्वार्थों का साधन करने से मुक्त नहीं था। उदाहरण के लिए कयगाम के पुरोहितों, और मेरा विचार है, धावदसी के स्वामी को भी लिया जा सकता है, जो बाह्य रूप से धार्मिक प्रवृत्ति-रखने वाले माने जाते थे। धावदसी के स्वामी के विषय में मेरी जितनी जानकारी है उसका मुख्य स्रोत हैं मौखिक सूचनाएँ, हम कुछ ही समय पूर्व प्रकाशित बखर और ग्रान्ट डफ के इतिहास में दिया हुआ एक नोट (६४)। जहाँ तक कयगाम के पुरोहितों का सम्बन्ध है, प्रकाशित पत्रों से ज्ञात होता है वे व्याज पर पेशवाओं को धन उधार दिया करते थे (६५), पेशवा भी राज्य से सम्बन्धित सभी मामलों, समस्याओं तथा व्यक्तियों के विषय में उनसे परामर्श लिया करते थे, और वास्तव में राज्य के सार्वजनिक मामलों में, अवसर आ पड़ने पर वे व्यक्तिगत रूप से भाग लिया करते थे (६६)।

---

(६१) पत्र और स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ५०१।

(९२) लगभग यह पूरा वर्णन हाल ही में प्रकाशित निगडकर लिखित भाऊ की जीवनी में उद्धृत किया गया है, पृ० १२३। तुलना के लिए देखें पानीपत बखर, पृ० ४२, और भाऊ साहब की कैफियत, पृ० ७६।

(६३) एक शास्त्री द्वारा सैनिक व्यवसाय ग्रहण किए जाने के विषय में देखिए चिटनिस लिखित राजाराम, पृ० १०४।

(६४) ग्रान्ट डफ, भाग १, पृ० ५२३, नोट।

(६५) एक वेद शास्त्र सम्पन्न सज्जन के विषय में पत्रों और स्मृतिपत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ३६५, में यह वर्णन मिलता है कि वह आर्थिक सौदेबाजियों में खुलकर भाग लेता था।

(६६) देखिए पत्र, स्मृतिपत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० २ और आगे; इस सम्बन्ध में गोसावियों द्वारा सैनिक व्यवसाय ग्रहण किए जाने का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं; देखिए ग्रान्ट डफ, पृ० ३३,३३८ और भाऊ साहेब की कैफि-

इस सम्बन्ध में इसी प्रकार की एक अन्य बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जसे कुछ दृष्टिकोणों से उल्लेखनीय माना जा सकता है। हाल ही में प्रकाशित कागजात में एक पत्र मिलता है जो पेशवा सवाई माधवराव को सम्बोधित करके लिखा गया है, तथा इसकी लेखिका है उसकी मातामही (दादी) गोपिका बाई; माधवराव ने गोपिका बाई से पूछा था कि वह अपनी सफलता के लिए किस प्रकार से आचरण करे, और इसी अनुरोध के उत्तर में गोपिका बाई द्वारा यह पत्र भेजा गया था। बालाजी बाजीराव की विधवा पत्नी ने अपने पौत्र को जो परामर्श दिए थे उनमें से एक यह भी था कि उसे अपनी संध्या-पूजन का समय कुछ कम कर देना चाहिए, और साथ ही यह भी लिखा था कि जब कि परिवार के पुरोहित द्वारा कुलदेवताओं की सामान्य पूजा रोज समाप्त हो जाया करे, तो वह देवताओं को केवल तुलसी की पत्तियाँ चढ़ा दिया करे। एक वृद्धा ब्राह्मण स्त्री द्वारा एक किशोर को दिया गया यह परामर्श-जो कि अभी पढ़ना-लिखना सीख ही रहा था इस बात का उल्लेखनीय प्रमाण देता है कि किस प्रकार समय की हवा ब्राह्मण पेशवा के परिवार में भी पुरातन धार्मिक विचारों और संस्कारों का बन्धन ढीला करने में अपना पूर्ण प्रभाव डाल रही थी (९७)। गोपिका बाई एक अत्यन्त ही व्यावहारिक और नीतिपटु महिला थी, जिसकी बुद्धि अत्यन्त तीव्र, तथा इच्छा शक्ति बहुत प्रबल थी (९८) उसने पेशवाओं के शासन-

---

यत पृ० २३; भाऊ साहेब का बखर, पृ० ५३, होलकर की कैफियक, पृ० ५३, डाडसन का एलियट, भाग ७, पृ० २९४, मलकम का सेण्ट्रल इण्डिया, भाग २, पृ० १९८; फारवीज का ओरियण्टल मेम्वायर्स भाग २, पृ०६; वैरागियों के विषय में देखिए होलकर की कैफियत पृ० ७,८, ६२, पेशवा का बखर; पृ० २३० ।

(९७) देखिए पत्र, स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ४५८; वि.ज्ञा. विस्तार भाग ५, पृ०१३९; इसमें भी गोपिका बाई का पत्र संकलित है; तुलना के लिए पेशवा का बखर, पृ० ६२-६४; मराठी साम्राज्य बखर, पृ० ९३ ।

(९८) देखिए ग्रान्ट डफ, भाग २, पृ० १२०, १६८ । तुलना के लिए भाऊ-साहेब का बखर, पृ० ८०, ९०, पेशवा का बखर, पृ० ६१, ६४,६५; फारेस्ट, पृ० २५०-५१, पृ० ६७७ में उसके प्रति अंग्रेजों के विचारों को व्यक्त किया

काल में निश्चित रूप से अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों की स्वाभाविक जीवन-चर्या को देखा था, और उनसे उचित शिक्षा ली थी (९९)।

भोजन करने से सम्बन्धित नियमों का बन्धन ढीला होने के विषय में भी दो-एक रोचक बातों का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। इस संबन्ध में प्रथम उल्लेखनीय बात की जानकारी का मुख्य स्रोत है मल्हार एम राव चिटनिस द्वारा लिखित शाहू के जीवन चरित्र (१००) में सम्पादक द्वारा दिया गया एक नोट। प्रतिनिधि त्र्यम्बक के पुत्र ने शाहू के विरुद्ध कोल्हापुर के राजा का पक्ष ग्रहण कर लिया था और सतारा से कोल्हापुर चला गया था। पुत्र के इस राजद्रोह का कुफल उसके पिता को भोगना पड़ा, इसी बात के लिए शाहू प्रतिनिधि पर अत्यन्त कुपित हो गया और उसे मृत्यु दण्ड दे दिया। शाहू के आदेशानुसार प्रतिनिधि का बध किया ही जाने वाला था कि अचानक खण्डो बल्लाल चिटनिस वहाँ पहुँच गया, और प्रतिनिधि के बदले में अपना ही बध किए जाने का प्रस्ताव रख कर, प्रतिनिधि परशुराम त्र्यम्बक की प्राण रक्षा की (१०१) उसी समय के बाद से, कहा जाता है, प्रतिनिधि के परिवार में जब भी कोई श्राद्ध या भोज पड़ता था तो खण्डो चिटनिस के परिवार के एक प्रमुख व्यक्ति को निमंत्रण दिया जाता था, और उसे निमंत्रित ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठा कर भोजन कराया जाता था। खर्दा के युद्ध के बखर में भी भोजन करने के कठिन नियमों की उपेक्षा के, इसी प्रकार के दो अन्य दृष्टान्त उपलब्ध हैं।

गया है, परन्तु अंग्रेज अपने साथी राघोबा के पक्षपाती थे, इसलिए राघोबा की विरोधिनी गोपिका बाई के सम्बन्ध में उनके विचार पूर्णतः निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण न हो सके। इस सम्बन्ध में देखिए डाडसन का एलियट भाग, ८, पृ० २६७, २८७, फॉरबीज का ओरियण्टल मेम्बायर्स, भाग १, पृ० ४७८।

(९९) देखें फारेस्ट का सेलेक्शन्स, भाग १, पृ० ७२५।

(१००) पृ० २६; जहाँ तक इस प्रश्न से प्रभुओं का सम्बन्ध है, मैं एक मूल आधिकारिक स्रोत से उद्धरण दे सकता हूं; देखें चिटनिस परिवार का इतिहास—का० प्र० इ० साधनेन, पृ० ११ और का० प्र० बखर (का० प्र० इ० साधनेन) पृ० १३, नोट।

(१०१) देखें भोंसले का बखर, पृ० १७, ग्रान्ट डफ, भाग १, पृ० ४२६।

इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् नाना फड़नवीस के परामर्श को मानकर पेशवा विभिन्न सरदारों को सम्मानित करने के लिए बारी-बारी से सबके यहाँ गया। अन्य सरदारों के यहाँ जाने के साथ नाना फड़नवीस और पेशवा सिन्धिया के दो सरदारों जिवबा दादा तथा लखोबा नाना के यहाँ भी पहुँचे। वहाँ उक्त दोनों सरदारों ने नाना और पेशवा को 'फराल' में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया ('फराल' एक प्रकार का भोज होता है जिसमें भोजन के औपचारिक नियम उतनी कठोरता से लागू नहीं होते)। उनके इस निमंत्रण पर पेशवा ने नाना फड़नवीस की ओर घूमकर कहा, "ये लोग तो शेणवी (१०२) हैं; इनके आग्रह को किस प्रकार पूरा किया जाय? "इस पर नाना ने कहा," भोज की सारी सामग्रियों को तो हमारे ब्राह्मण रसोइयों ने तैयार किया है; हमें इससे क्या मतलब कि ये लोग शेणवी हैं; जीवबा के अनुरोध को नहीं ठुकराना चाहिए; उसने अपनी तलवार का पानी बनाए रक्खा है। सरदारों के विषय में ऐसी कठिनाइयों पर विजय पा लेना आवश्यक है"। नाना फड़नवीस की इस बात पर पेशवा तथा उसके साथ ब्राह्मण 'फराल' पर बैठ गए; पेशवा ने केवल औपचारिकता प्रदर्शित करते हुए एकाध सामग्री चख ली, परन्तु साथ के ब्राह्मणों ने प्रचलित ढंग से फराल का आनन्द लिया। बखर में दिए हुए वर्णन से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि सभी लोगों ने यह सोचा कि जो कुछ वे कर रहे थे, वह समाज में मान्य नियमों के अनुकूल नहीं था, और स्वयम् द्वारा प्रचलित धर्म के प्रतिकूल किए गए व्यवहार के औचित्य को उन्होंने अवसरवादिता तथा राज-

---

(१०२) पृ० २०। शेणवियो को 'मछली खानेवाले ब्राह्मण' कहा जाता है (चित्रगुप्त लिखित शिवाजी, पृ० १२३, तथा कृ० अ० सभासद लिखित जीवनी, पृ० ५७, जहाँ के कुछ अंशों को सम्पादक ने बाद में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जोड़ा गया घोषित किया है, परन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं रोचक है)। शेणवियों द्वारा मछली खाये जाने की बात से पेशवा ने उक्त सरदारों के भोज में सम्मिलित होने में असमंजस व्यक्त किया था, क्योंकि ब्राह्मणों के अन्य वर्ग मछली नहीं खाते थे। देखिए फायर, पृ० १६०।

नैतिक हितों के दृष्टिकोण से स्वीकार कर लिया। अस्तु, जिवबा दादा के शिविर से निकलकर पेशवा परशुराम भाऊ पटवर्धन के शिविर की ओर बढ़ा (१०३) यहाँ भी पेशवा को भोजन के लिए रुकने का निमंत्रण मिला। भाऊ के यहाँ भोजन करने में जाति सम्बन्धी कठिनाइयों का कोई प्रश्न ही नहीं था क्योंकि पेशवा तथा परशु राम भाऊ पटवर्धन, दोनों एक जाति तथा वर्ग के सदस्य थे परन्तु फिर भी पेशवा ने नाना से कहा, "इस समय परशुराम भाऊ शोक में डूबा हुआ है (१०४); ऐसी स्थिति में क्या किया जाना चाहिए ?" नाना ने पुनः वही उत्तर दिया "इस प्रकार के शोकपूर्ण अवसर पर भाऊ की इच्छाओं का दमन नहीं किया जाना चाहिए, उसके शोक से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए कोई न कोई मार्ग निकाल लिया जायगा" (१०५)। पेशवा का सहमत हो जाना स्वाभाविक ही था, वह अपने दल-बल सहित रुक गया और रात्रि का भोजन वहीं किया—अपने परिवार के एक सदस्य की मृत्यु के कारण भाऊ उसी पंक्ति में न बैठकर, अलग बैठकर भोजन किया। बखर का लेखक कहता है कि इस प्रकार पेशवा को भोजन करते देखकर भाऊ अपने भतीजे की मृत्यु का शोक भूल गया और पेशवा से कहा (१०६) कि युद्धस्थल में मेरे द्वारा किए गए

---

(१०३) खर्दा बखर, पृ० २०।

(१०४) खर्दा के युद्ध में परशु राम का भतीजा मारा गया था, और हिन्दुओं के रीति के अनुसार, जिस घर का कोई प्राणी मर जाता है, उसकी मृत्यु के दस दिन पश्चात् तक उस घर के सदस्यों को अपवित्र माना जाता है और उस घर में, या उनके साथ कोई बाहरी व्यक्ति भोजन नहीं कर सकता।

(१०५) यह विचार नोट करने योग्य है।

(१०६) पृ० २०; जिनबा दादा ने भी कुछ इसी प्रकार पेशवा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। नागपुर के चिटनिसों की जीवनियों (का० प्र० इ० साधनेन) पृ० ३ में पेशवा माधवराव प्रथम तथा जनोंजी भोंसले के एक साथ भोजन करने का उल्लेख है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। मि० फॉरेस्ट के सेलेक्शन्स फ्राम बाम्बे स्टेट पेपर्स (भाग १, पृ० १६२) से ज्ञात होता है कि माधव राव प्रथम ने एक बार

सारे परिश्रम का पारितोषिक, आपको अपने यहाँ भोजन करते देखकर मिल गया (१०७)।

इस सम्बन्ध में जिस दूसरी बात की ओर अब मैं अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं, उसके विषय में उतने स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल सके हैं जितना कि मैं चाहता हूं। अस्तु, इस सम्बन्ध में जितनी भी जानकारी मिली है, मैं अब उसी का वर्णन करूँगा। पेशवाओं के प्रभुत्वकाल में जितने भी उत्सव एवं समारोह किये गए उनमें से अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्सवों में से एक था सवाई माधवराव के विवाह के अवसर पर किया गया समारोह। पेशवा के बखर (१०८)

मि० मोस्टिन को 'रुकने तथा साथ भोजन करने के लिए' निमन्त्रण दिया जिसे मि० मोस्टिन ने स्वीकार भी किया। पाठक यह जानने को उत्सुक अवश्य होंगे कि यह भोज किस ढंग से हुआ और कैसे सामग्रियों की व्यवस्था की गई, परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस विषय में कहीं भी कोई भी सूचना नहीं दी गई है। भारतीय भोजन सामग्रियों के विषय में पश्चिमवालों का विचार जानने के लिए देखिए ओविंगटन का वायेज टू सूरत, पृ० २९५-६, ३९७; फाँरबीज का ओरियण्टल मेम्वायर्स, भाग २, पृ० ४९, टैवर्नियर्स ट्रैवेल्स, भाग १, पृ० ४०१।

(१०७) निगुडकर लिखित तथा हाल ही में प्रकाशित परशुराम भाऊ की जीवनी में उसे अत्यन्त पवित्र एवं शुद्ध विचारवाला हिन्दू बताया गया है। इसलिए पेशवा से भोजन के लिए भाऊ का अनुरोध, नाना का व्यवहार कुशल परामर्श तथा पेशवा की सहमति, ये तीनों ही बातें एक न एक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

(१०८) देखें पृ० १५३-५४; पेशवा के बखर के इस अंश के सम्बन्ध में जो नोट दिया गया है, मेरे विचार से सम्पादक ने महाद जी सिन्धिया के विषय में न्यायपूर्वक विचार नहीं किया है। यह सत्य है कि महाद जी सिन्धिया स्वाभाविक रूप से वास्तव में ऐसी प्रदर्शनियों से रंचमात्र भी लगाव नहीं रखता था (देखें फारेस्ट का सेलेक्शन्स, भाग १ पृ० २६, जो सम्भवतः मलकम लिखित सेन्ट्रल इण्डिया, भाग १ पृ० १२१ पर मुख्यतः आधारित हैं)। और इसलिए इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि उसके द्वारा उक्त अवसर पर इस प्रकार की व्यवस्थाओं के किए जाने में उसका कोई उद्देश्य अवश्य था। परन्तु सम्पादक ने उपरोक्त नोट में महादजी सिन्धिया का जो क्षुद्र उद्देश्य दिखाया गया है

में इस समारोह के भव्य आयोजनों का वर्णन पर्याप्त विस्तृत रूप से किया गया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य स्मृतिपत्र भी उपलब्ध है जिस पर शके १७०४ (सन् १७८२ ई०) की तारीख अंकित है। इस स्मृतिपत्र में ऐसी असंख्य वस्तुओं तथा सज्जाओं की एक विस्तृत सूची दी हुई जिनसे किसी भी विवाहोत्सव को गर्व करने योग्य तथा पूर्ण सज्जित समझा जा सकता है, इन सामग्रियों तथा सज्जाओं में इत्र, सुगन्धित जल, जलपान की सामग्रियाँ, मनोरंजन के साधन, तथा विभिन्न व्यवस्थाओं को सम्भालने के लिए कुशल एवं दक्ष कार्यकर्ताओं

उसकी सम्भाव्यता में सन्देह होना स्वाभाविक है। महादजी सिन्धिया के राजनैतिक जीवन, कार्यों, चरित्र तथा नीतियों में कोई ऐसा तत्व नहीं मिलता जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि वह अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति तथा अपना गौरव एवं महत्व बढ़ाने के लिए दक्षिण के समस्त मराठों का (onfeable) महत्व कम कर देना चाहता था।

वास्तव में उक्त अवसर पर किए गए कार्यों में उसका जो उद्देश्य निहित था, वह था, केवल एक व्यक्ति, पेशवा सवाई माधवराव के ऊपर से नाना फड़नवीस के प्रभुत्वपूर्ण प्रभाव को समाप्त कर उसे अपनी नीतियों के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देना। और सम्भवतः इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पेशवा सवाई माधवराव के लिए वह इस प्रकार के प्रदर्शनों का आयोजन करता था, जिससे उसे पेशवा के निकट पहुँच सकने में सफलता मिलने की सम्भावना थी, क्योंकि अन्य सभी मंत्री तथा स्वयं नाना फड़नवीस अभी उसके साथ अनुभवहीन मानकर वैसा ही व्यवहार करते थे। पेशवा के बखर में इस बात का कोई उल्लेख नहीं हैं कि इस प्रकार के आयोजनों में पेशवा के सम्मिलित होने में नाना फड़नवीस ने कभी रंचमात्र भी बाधा उपस्थित करता था। यह धारणा सही हो सकती हैं कि उसने अवश्य निषेध किया होगा, परन्तु इस धारणा के पक्ष में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव में उपलब्ध प्रमाण इस धारणा की विपरीत दिशा में संकेत करते हैं—जहाँ तक कि उस समय की सामान्य रुचि का सम्बन्ध है यद्यपि इस सम्बन्ध में नाना की धारणा क्या थी, मैं इस विषय में कोई जानकारी नहीं रखता।। देखिए पेशवा का बखर, पृ० १३१, १६२, १७२, १७५, १६८, भाऊ साहेब का बखर, पृ० ६६, १३०; वि० ज्ञा० विस्तार भाग ५, पृ० २००; भाग १०, पृ० ६०७। चिटनिस का शाहू, पृ० ४६, मराठी साम्राज्य बखर पृ० ८७, १०२, पेशवा सकावली पृ० १७, ६०; चिटनिस कृत राजाराम पृ० ५०,

आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया है (१०९)। इस सम्बन्ध में अन्य चीज़ों के साथ स्मृतिपत्र में यह निर्देश भी मिलता है कि विभिन्न सरदारों, सिलेदारों, मराठों, मुसलमानों, अली बहादुर (११०) तथा अन्य वर्गों के लोगों को एकत्रित कर लेने के पश्चात् सामूहिक रूप से वधू के पिता के यहाँ भोजन और फ़राल के लिए पहुँचना चाहिए, और अन्य उचित अवसरों पर उपरोक्त वर्गों के लोगों को महल में भी, भोज अथवा फराल के लिए निमंत्रित करना चाहिए। आगे पुनः कहा गया है कि नवाब, भोंसले, होलकर, उच्च सिलेदारों, सरकारकुनों, मराठों तथा मुसलमानों को निमंत्रित करना चाहिए, और उचित क्रियाओं के सम्पन्न किये जाने के पश्चात् भोजन करने के लिए तथा नृत्यादि प्रदर्शनों का आनन्द लेने के लिए उन्हें वधू के पिता के घर तथा महल में ले जाना चाहिए, उनको विधिवत निमंत्रण देना, तथा उनके लिए प्रत्येक आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध कर देना चाहिए। स्मृतिपत्र में दिए गए इन निर्देशों से यह स्पष्ट नहीं होता कि विभिन्न वर्ग एवं जाति--ब्राह्मण, मराठा, मुसलमान के लोगों के भोजन के समय बैठाने की व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी, तथा उन्हें भोजन कैसे परसा जाता था, और इसीलिए यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि सभी जातियों एवं वर्गों के लोग एक साथ बैठते थे, और सभी को उन्हीं पात्रों से भोजन परसा जाता था, यद्यपि ऐसा होना असम्भाव्य नहीं माना जाना चाहिए, (१११) जो भी हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट

एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ३ पृ० २४ ओविंगटन का वायज टू सूरत पृ० ३२९ और आगे ग्रान्ट डफ भाग २ पृ० १५९ डाउसन का एलियट भाग ८, पृ० २८०। सवाई माधवराव के विवाह में, केवल वस्त्रों के प्रबन्ध में पचास हजार रुपए व्यय हुए थे, जिसकी व्यवस्था नाना फड़नवीस के हाथ में थी, और महाद जी सिन्धिया का इसमें कोई हाथ नहीं था। देखिए पत्र, स्मृति पत्रादि (का० ई० संग्रह) पृ० २२६; इस सम्बन्ध में उपरोक्त संग्रह का पृ० ३७३-७४ भी देखिए।

(१०९) पत्र और स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० २७७, २९२,

(११०) बाजीराव प्रथम तथा मस्तानी से उत्पन्न शमशेर बहादुर का पुत्र।

(१११) देखें पत्रादि (काव्य इतिहास संग्रह, पृ० २७८; पेशवा के बखर

हो ही जाता है कि मुसलमान तथा मराठे महल में बैठ कर भोजन करने के साथ-साथ वधू के पिता के घर भी भोज-आयोजन में सम्मिलित होते थे, और वैवाहिक व्यवस्थाओं तथा समारोहों के विषय में अत्यन्त विस्तार से लिखे गए इस स्मृतिपत्र में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया है कि घर का एक भाग मुसलमानों के भोजन के लिए निर्धारित कर दिया जाता था जो कि घर के उस भाग से एकदम अलग होता था जहाँ निमंत्रित ब्राह्मणों की पंक्ति भोजन करने के लिए बैठती थी।

अब भोजन सम्बन्धी व्यवस्थाओं के वर्णन के उपरान्त हम वैवाहिक व्यवस्था सम्बन्धी महत्वपूर्ण बात की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में भी ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पेशवाओं ने व्यक्तिगत रूप से पुरानी परम्परा में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनके द्वारा किए गए परिवर्तनों को स्थायित्व प्राप्त न हो सका और ऐसे दृष्टान्त अपवाद होकर रह गए। उपरोक्त कथन से मेरा तात्पर्य बाजीराव तथा मस्तानी के विवाह से नहीं बल्कि बालाजी बाजीराव से है जो कि ब्राह्मणों के कोंकणस्थ अथवा चितपावन वर्ग का था, परन्तु उसने विवाह किया था राधाबाई से, जो कि ब्राह्मणों के दूसरे वर्ग-देशस्थ में उत्पन्न हुई थी (११२)। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु कहा जाता है कि बालाजी ने ब्राह्मणों के तीनों प्रमुख वर्गों—कोंकणस्थ, देशस्थ, तथा करहादा—को एक सूत्र में बद्ध करने के लिए करहादा वर्ग की एक लड़की से भी

पृ० १४३ में एक ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि पेशवा द्वारा निमंत्रित मुसलमानों के लिए पृथक भोज की व्यवस्था की गई थी।

(११२) पत्र, स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ५४१, पेशवा सकावली पृ० ५८। पूना बार के मिस्टर वी० वी० लेले की कृपा से मुझे विभिन्न स्रोतों से संकलित किए गए एक संग्रह को देखने का अवसर मिला है, जिसका नाम पेण्डसेज डायरी है। उपरोक्त दो स्रोतों की भाँति, बालाजी बाजीराव के दो विवाहों का ही उल्लेख इस संग्रह में भी है, तथा बालाजी की रखैल स्त्रियों का उल्लेख भी इसमें किया गया है। इसलिए करहादा लड़की से बालाजी के विवाह की बात को शंकास्पद समझा जा सकता है।

विवाह किया था, परन्तु बालाजी का यह उद्देश्य पूर्ण न हो सका, और अब भी ब्राह्मणों के विभिन्न वर्गों तथा उपवर्गों के बीच अन्तवर्गीय विवाहों (११३) को सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित नहीं समझा जाता।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि पेशवाओं के शासन काल में भी, ऐसे ब्राह्मणों की संख्या बहुत थी जिनमें इतनी योग्यता नहीं थी कि साधारण धार्मिक संस्कारों को सम्पन्न करा सकें। परशुराम भाऊ पटवर्धन के जोवन के अन्तिम दिनों का जो उल्लेख पीछे किसी स्थान पर किया गया है उसी में यह वर्णन भी मिलता है कि युद्ध में मारे गए प्रमुख सरदारों का दाह संस्कार करने के लिए ईंधन आदि एकत्रित कर लिया गया तथा आस पास के गाँवों से दान आदि ग्रहण करने के लिए ब्राह्मणों को बुला लिया गया तो कारकुन नरोहरी करणीकर के मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि धार्मिक मंत्रों का पाठ कराकर इन मृतकों का दाहसंस्कार विधिवत् सम्पन्न किया जाय, अतः उसने उपस्थित ब्राह्मणों में से किसी को यह कार्यभार सौंपना चाहा। परन्तु दानेच्छुक ब्राह्मणों के समूह में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जो मृतक संस्कार कराना जानता था, जिस गाँव के पास दाह की तैयारी हो रही थी, वहाँ के जोशी तो निरे बुद्धू निकले, अतः अन्त में मृतकों को बिना मन्त्रोच्चार द्वारा पवित्र बनाई हुई अग्नि में ही जला दिया गया (११४)।

---

(११३) ऐसे विवाह होते हैं परन्तु बहुत कम। ज्ञान-प्रकाश अखबार के अनुसार बाजीराव के समय से पूर्व तीनों वर्गों के ब्राह्मण, एक दूसरे के साथ बैठकर खाने में भी दोष मानते थे।

(११४) पत्र और स्मृतिपत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ३००। निगुडकर द्वारा लिखित हाल ही में प्रकाशित जीवनी में परशुराम भाऊ के विधिवत् जलाए जाने का उल्लेख मिलता है (पृ० १२५) जो कि ऊपर उल्लेख किए गए वर्णन के विरुद्ध है जिसमें स्पष्टः 'भदाग्नि' शब्द का प्रयोग किया गया है। ग्राण्ट डफ—(भाग ३, पृ० १८५-६, नोट) में शव के प्रति कोल्हापुर के महाराजा द्वारा किए गए जिस अमानवीय दुर्व्यवहार का उल्लेख किया है, वह करणीकर के वर्णन से मेल नहीं खाती (लगता है कि ग्रान्ट डफ ने बिना मूल

बाजीराव प्रथम तथा अन्य लोगों द्वारा महापुरुष माने जाने वाले धावदसी के विख्यात स्वामी की मृत्यु के सम्बन्ध में दिए गए विवरण में भी ब्राह्मणों में व्याप्त अज्ञानता का एक उदाहरण मिलता है, यद्यपि यह उतना अक्षम्य नहीं है। धावदसी के ब्रह्मेन्द्र स्वामी के बखर में यह वर्णन मिलता है कि स्वामी की मृत्यु हो जाने पर उसके ब्राह्मण शिष्य हाथ में धार्मिक संस्कारों की संहिता लेकर गुरु के मृतक संस्कार का कार्य आरम्भ किया। यद्यपि वे संहिता में देख देख कर दी हुई विधियों को सम्पन्न कर रहे थे; ऐसा लगता है कि इस पुस्तकीय सहायता के बावजूद भी इन ब्राह्मणों ने संस्कार विधि में कोई भूल कर दी; जब शाहू के पूछने पर ब्राह्मणों ने कहा कि प्राथमिक संस्कार की सम्पूर्ण विधि पूरी कर दी गई है, तो शाहू ने पूछा कि क्या आप लोगों की संहिता में शंख द्वारा स्वामी के सिर को तोड़ने के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं दिया गया है, जैसा कि सन्यासियों के मरने पर किया जाता है। उसके इस असंगत प्रश्न पर, ब्राह्मणों ने उत्तर दिया कि संहिता में ऐसा निर्देश दिया तो गया है परन्तु जल्दी-जल्दी में वे इस क्रिया को पूर्ण करना भूल गए हैं; इस प्रकार शाहू ने चक्करदार प्रश्न पूछ कर उनकी अज्ञानता तथा लापरवाही का भण्डाफोड़ कर दिया। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह मामला, परशुराम भाऊ पटवर्धन की मृत्यु-संस्कार के सम्बन्ध में ब्राह्मणों द्वारा प्रदर्शित अज्ञानता वाले मामले के समक्ष क्षम्य है। दाह संस्कार के समय सम्पन्न की जानेवाली विधियाँ इतनी साधारण हैं और प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाली हैं कि सभी पुरोहित ब्राह्मणों से, इन विधियों को ज्ञान रखने की आशा की जाती है, परन्तु जहाँ तक सन्यासी की मृत्यु पर मृतक संस्कार की विधियों का प्रश्न है, यह सम्भव है कि अधिकांश साधारण पुरोहित उस सम्बन्ध में जानकारी न रखते हों, क्योंकि उसकी आवश्यकता कभी-कभी ही पड़ती है। फिर भी, इस दूसरे मामले में

स्रोतों को देखे, कैप्टेन रावर्टसन लिखित लाइफ आव नाना फड़नवीस पृ० १६७ में दिए गए वर्णन को उतार लिया है) यह कथा इस बात का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है कि लेखक द्वारा प्रामाणिक स्रोतों का अध्ययन स्वयम् न करने, अपितु दूसरों द्वारा प्राप्त सूचना को ही सत्य मान लेने से कैसे-कैसे भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं।

घटना के समय तथा स्थान की दृष्टि से स्वयं स्वामी के ब्राह्मणों द्वारा इस प्रकार की अज्ञानता का प्रदर्शन किया जाना कम उल्लेखनीय नहीं है। यह नहीं माना जा सकता कि इस अज्ञानता का कारण यह था कि जिस प्रकार के ज्ञान का उस समय सामान्यत: अभाव पाया जाता था, उसकी माँग नहीं थी। ब्राह्मणों की अज्ञान सम्बन्धी ये परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनके चिन्ह अब भी देश के अनेक भागों में देखने को मिल सकते हैं. बल्कि कहना यह चाहिए कि देश के कुछ भागों में वर्तमान ज्ञान का भी ह्रास होने के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे हैं। परन्तु इन घटनाओं का अध्ययन करते समय हम जिस काल तक पहुँच जाते हैं, उस समय भी इस प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व न रहा हो ऐसी बात की आशा नहीं की जा सकती (११५) इस विषय में हम कोई निश्चित तथा

---

(११५) कान्हरपन्त नामक एक पटवर्धन सरदार द्वारा संकेश्वर स्थित शंकराचार्य स्वामी के मठ पर जो आक्रमण किया गया था (देखिये त्रि० ज्ञा० विस्तार, भाग २०, पृ० ११८, मैं समझता हूँ यह वही घटना है जिसका उल्लेख फॉरबीज ने ओरियण्टल मेम्वायर्स भाग २, पृ० १३४ में किया है, यद्यपि वहां कान्हरपन्त के बदले परशुराम भाऊ का नाम दिया गया है) उसका औचित्य उन घटनाओं तथा ब्राह्मणों में व्याप्त अज्ञानता तथा भ्रष्टाचार से सिद्ध नहीं किया जा सकता जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और न कायगौम के ब्राह्मण पुरोहितों के यहाँ मचाई गई लूट (देखें पत्रादि का० इ० संग्रह पृ० २६) को ही उचित कहा जा सकता है। यही बात जयराम स्वामी के बड़गाम [देखें पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० १८८] और उन लोगों के विरुद्ध किए गए दुष्कृत्यों (फारेस्ट का सेलेक्शन्स, पृ० ५५०) के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, देखे फारबीज का ओरियण्टल मेम्वायर्स भाग ३, पृ० ४३१ और तुलना करें भोंसले के पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ७६, होलकर की कैफियत, पृ० १२८ टैवर्नियर के इस कथन का औचित्य भी इसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता, कुछ वर्गों के लोग अपनी साधारण दिनचर्या में एक दूसरे के स्पर्श में भी दोष मानते थे, परन्तु युद्ध काल में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता था (टैवर्निचर, भाग १, पृ० २४५, २५४, तुलना करें, फारबीज, का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग १, पृ० २३१ जहां वह अपने तथा अपने साथियों के निवास का दुव्यवस्था की शिकायत करता है। जिसका कारण यह था कि हिन्दू उनके स्पर्श में दोष मानते थे, यद्यपि यह प्रबन्ध राघोवा दादा द्वारा किया गया था। फिर

वास्तविक व्याख्या देने की स्थिति में नहीं है, फिर ऊपर जिन तथ्यों एवं प्रसंगों का उल्लेख किया गया है, वे ध्यान देने योग्य हैं (११६)।

मृत्यु संस्कार के विषय में वर्णन किए इन घटनाओं के सम्बन्ध में, एक और घटना का उल्लेख किया जा सकता है जो बापू गोखले के चाचा धुन्दू पन्त गोखले की मृत्यु के समय घटित हुई थी। एक मुठभेड़ में कुख्यात डाकू ढोंड़ी बाध के हाथों धुन्दूपन्त मार डाला गया; इसी संघर्ष में बापू गोखले अपने चाचा की मृत्यु के पूर्व ही घायल हो चुका था जिससे वह अपने चाचा की जान बचाने में सफल न हो सका, धुन्दू पन्त के मारे जाने पर बापू गोखले ने युद्ध स्थल में ही उसका दाहसंस्कार कर दिया तथा वापस पूना लौटने पर उसने अपनी

भी इस सम्बन्ध में दिए गए उपरोक्त विवरणों तथा तथ्यों में रोचकता का अभाव नहीं है। संकेश्वर की घटना का उल्लेख मुझे किसी हिन्दू द्वारा लिखित वर्णन में प्राप्त नहीं हुआ। इसका व्याख्या सहित उल्लेख वि० ज्ञा० विस्तार भाग २१ पृ० २८५ में मिलता है। इस सम्बन्ध में मलकम लिखित सेन्ट्रल इण्डिया भाग १ पृ० १८४, २२४ भी देखें।

(११६) भिक्षुकों और ब्राह्मणों की अज्ञानता से सम्बन्धित उपरोक्त विवरणों के साथ, शिवाजी के यज्ञोपवीत (मुज) संस्कार के समय पण्डितों तथा शास्त्रियों द्वारा व्यवस्थित सुविधाओं तथा रियायतों को जोड़ लेना चाहिए (जिनका उल्लेख इस पुस्तक की नोट संख्या ५९,७२ तथा ७५ में तथा इन नोटों से सम्बन्धित पुस्तकों से उद्धृत अंशों में किया गया है) ऐसी ही उदारता उस मामले में भी बरती गई थी। जब चिमणा जी अप्पा को उसके भतीजे सवाई माधवराव की विधवा पत्नी द्वारा गोद लिए जाने का निश्चय किया गया था। बाद में उसका विरोध हुआ, और इस गोद लिए जाने को अनुचित मान कर रद्द कर दिया गया, चिमणा जी अप्पा ने इसके लिए प्रायश्चित किया, और जिन शास्त्रियों ने इस गोद लिए जाने को विधि सम्पन्न कराई थी, उन्हें निष्काशित कर दिया गया। इस सम्बन्ध में देखें राबर्टसन लिखित लाइफ आव नाना फड़नवीस पृ० ११८ जो सम्भवतः ग्रान्ट डफ (भाग ३, पृ० १४५) पर आधारित है। मूल विवरणों के लिए देखें, चिटनिस लिखित शाहू का जीवन चरित्र, भाग २, पृ० ६७ पत्र स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ४४४ और वी० वी० खरे लिखित नाना फड़नवीस की जीवनी पृ० २०३।

जाति में प्रचलित नियमों के अनुसार अपने मृत चाचा का अन्तिम संस्कार करने का निश्चय किया। कहा जाता है कि धुन्दूपन्त का विधवा ने मृतक-संस्कार के विषय में कोई भी बात सुनने से इनकार कर दिया, इस अवसर पर उसने बापू गोखले को अत्यन्त कटु बातें सुनाईं, और उससे स्पष्ट कह दिया कि जब तक ढोंड़ी बाघ से धुन्दूपन्त की मृत्यु का बदला न ले लिया जायगा तब तक उसके मृत पति का अन्तिम संस्कार नहीं होगा। उसकी जिद्द पर अन्तिम संस्कार की कारंवाई स्थगित कर दी गई। शीघ्र ही संयोगवश बापू गोखले को ढोंड़ी बाघ से निपटने का अवसर प्राप्त हो गया और मुठभेड़ में ढोंड़ी बाघ मारा गया (११७) बापू गोखले ने उसका सिर काटकर भाले की नोक पर टाँग लिया और ले जाकर धुन्दूपन्त की विधवा लक्ष्मी बाई को दिखाया। अब लक्ष्मीबाई के हृदय की ज्वाला शान्त हो गई और मृतक संस्कार की विधियों को पूर्ण किया गया (११८)

(११७) गरवुड द्वारा प्रकाशित वेलिंगटन के पत्रादि पृ ६।

(११८) गायकवाड़ की हकीकत, पृ० ११, उपर्युक्त घटना के सम्बन्ध में मेरी जानकारी का एकमात्र स्रोत ऐतिहासिक गोष्ठी है; यह मराठी भाषा के ऐसे ग्रन्थों में से एक है जिसके लिए हम उस व्यक्ति के ऋणी हैं, जो इस विवरण के पढ़े जाने के पश्चात् अधिक समय तक हम लोगों के बीच न रह सका; वह विभिन्न प्रकार की रोचक सूचनाओं का कुशल संवाददाता था और उसे गोपाल राव हरी देशमुख के नाम से जानते थे। इस कथा के सम्बन्ध में मैंने किसी भी मूल स्रोत का अध्ययन नहीं किया है और हाल ही में प्रकाशित बापू गोखले की जीवनी में इसका कोई उल्लेख नहीं है, उसमें केवल यही लिखा है कि बापू गोखले ने स्वयं ही उत्तेजित होकर उस समय पगड़ो न बाँधने की प्रतिज्ञा की थी जब तक कि वह ढोंड़ी बाघ से अपने चाचा की मृत्यु का बदला न चुका ले, देखें, बापू गोखले की जीवनी, पृ. ३७ (इस सम्बन्ध में तुलना के लिए देखें चित्रगुप्त कृत शिवाजी पृ. ५६; कृष्णाजी अनन्त सभासद लिखित शिवाजी, पृ. ३५)। बापू गोखले की जीवनी के प्रथम संस्करण में ढोंड़ी बाघ की मृत्यु के सम्बन्ध में ग्राण्ट डफ (भाग ३, पृ. ९८-९९) के वर्णन की वैसा आलोचना की गई है जैसो कि इतिहास में उचित नहीं मानी जाती। दूसरे संस्करण में इस आलोचना को नहीं रक्खा गया है, इसलिए यहां इस विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों के दृढ़ संकल्प सम्बन्धी ग्रन्थ

परशुराम भाऊ पटवर्धन की जीवनी में एक ऐसी घटना की सूचना मिलती है जिसका उल्लेख इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत होता है, यद्यपि जितने भी लिखित मूल-विवरण एवं ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें से किसी में भी जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस घटना का वर्णन नहीं किया गया है। इस घटना से महाराष्ट्र का प्रत्येक निवासी अच्छी तरह परिचित है, परन्तु हाल ही में प्रकाशित मिस्टर निगुडकर लिखित परशुराम भाऊ की जीवन-कथा (११६) में इस घटना का वर्णन मिलता है, और इस स्थल पर मैंने उक्त जीवनी की ही सहायता ली है। उक्त पुस्तक में दिए गए वर्णन से ज्ञात होता है कि परशुराम भाऊ की ज्येष्ठा पुत्री बयाबाई का बिवाह बारामती के जोशी परिवार में किया गया था। उसके विवाह के समय बयाबाई की अवस्था मुश्किल से सात आठ वर्ष थी। दुर्भाग्यवश उसके विवाहोपरान्त, एक पक्ष के अन्दर ही उसके पति की मृत्यु हो गई। और प्रचलित परम्परा के अनुसार वह बाल विधवा हो गई। कुछ समय पश्चात् अपनी बाल-विधवा पुत्री क दुर्भाग्य से दुखी परशुराम भाऊ ने रामशास्त्री के समक्ष इस भाग्यहीना बाला का मामला रक्खा; (इस महान पण्डित का उल्लेख पीछे किसी स्थल पर किया जा चुका है। बयाबाई की दुःख पूर्ण कथा को सुनकर रामशास्त्री का हृदय सहानुभूति से भर गया, और परशुराम भाऊ को अपनी राय देते हुए रामशास्त्री ने घोषित किया कि इस अबोध बाला का पुनर्विवाह कर देने में कोई दोष नहीं है। परन्तु केवल रामशास्त्री की स्वीकृति से भाऊ को सन्तोष न हो सका, और उचित व्यवस्था के लिए धर्म-केन्द्र उसने बनारस के पण्डितों के पास यह मामला भेजा, और वहाँ

दृष्टान्तों के लिए देखें भाऊँ साहेब का बखर, पृ. १४, मलकम का सेन्ट्रल इंडिया भाग १, पृ० १०७, वर्नियर पृ० ४१, हैमिल्टन का ईस्ट इण्डीज भाग १ पृ० १३६, डाउसन का एलिएट भाग १, पृ. २।

(११६) पृ. १३१–३२। लेखक के अनुसार यह पुस्तक कुछ मूल, अप्रकाशित वृत्तान्तों पर आधारित है और यह भी कहा गया है कि निगुडकर के वर्णन की सत्यता की जाँच के लिए राव बहादुर साम जो रानाडे ने इस मूल कागजात में से कुछ को स्वयं पढ़ा है।

भी समस्त शास्त्रियों ने एक मत होकर इस प्रकार के पुनर्विवाह के पक्ष में ही अपना विचार प्रगट किया। परन्तु पण्डितों तथा शास्त्रियों की सहमति प्राप्त कर लेने के पश्चात् अचानक परशुराम भाऊ ने बयाबाई के पुनर्विवाह के विचार का परित्याग कर दिया, क्योंकि समाज के स्तम्भों द्वारा उसके इस विचार का विरोध करते हुए कहा गया कि विधवा का पुनर्विवाह उस परम्परा के विरुद्ध है जो देश में अनेक सदियों से चली आ रही है और उसे परामर्श दिया गया कि अपनी विधवा पुत्री का पुनर्विवाह करके, प्राचीन परम्परा को न ड़े और स्वयम् को अपने देशवासियों के सामान्य जीवन से पृ करने का खतरा न उठाए। इस विरोध का परिणाम अन्ततः यह ह कि भाऊ अपनी पुत्री का पुनर्विवाह करने का साहस न कर सका रन्तु फिर भी यह घटना ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण ज्ञात होती है। परशुराम भाऊ पटवधन एक ऐसा व्यक्ति था पेशवाओं के दरबार में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता था, और जैसा कि उसके जीवनी लेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है वह अत्यन्त धर्मनिष्ठ, तथा अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित परम्पराओं पर पूर्णरूपेण विश्वास करता था (१२०)। इस समय, जब कि हम इसका अध्ययन कर रहे हैं कि पूर्व काल में स्थापित धार्मिक नियम, न इस पीढ़ी की चेतना को किस सीमा तक नियंत्रित कर रक्खा था, तो यह तथ्य तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय प्रतीत हो कि परशुराम भाऊ पटवर्धन जैसे कट्टर पंथी ब्राह्मण ने स्थापित परम्पराओं का सक्रिय खण्डन करने के लिए (१२१) उतनी गम्भीरता पूर्वक सोच रहा था। इस बात इस घटना का महत्व और बढ़ जाता है कि रामशास्त्री जैसे व्यक्ति ने परशुराम भाऊ द्वारा नियोजित,

---

(१२०) वही, पृ. १२३-२४; तुलना करें पत्र आदि (का० इ० संग्रह) पृ० ५०१।

(१२१) बुद्धिस्ट रिकार्डस आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड (जो आज से हजार-बारह सौ वष पूर्व के भारत की स्थिति के सम्बन्ध में ज्ञान का अमूल्य भण्डार है) से ज्ञात होता कि ह्वेन सांग के समय में भी हिन्दुओं में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था देखें भाग १ पृ० ८२)।

प्रचलित परम्परा के विरुद्ध इस कृत्य के पक्ष में ही अपना मत दिया था; जब कि वह ऐसा महान विद्वान था कि उसके जीवन-काल में सम्पूर्ण मराठा साम्राज्य में उसे सम्मान का पात्र समझा जाता था और आज भी महाराष्ट्र के जनमानस में उसका वह प्रतिष्ठित स्थान सुरक्षित है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात तो यह है कि बनारस के वेदशास्त्र सम्पन्न शास्त्रियों ने भी अपना, अनुकूल परामर्श देकर इस रुढ़िवादी परम्परा के मार्ग से पृथक होने का निश्चय करने में परशुराम भाऊ को प्रोत्साहन तथा सहयोग दिया था। दूसरी तरफ इस घटना से तत्कालीन, संकुचित सामाजिक मनोवृत्ति का स्पष्ट ज्ञान भी हो जाता है कि रामशास्त्री तथा बनारस के ख्याति प्राप्त पण्डितों द्वारा बाल विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में मत प्रगट किए जाने (१२२) के पश्चात् तथा इसके बावजूद कि परशुराम भाऊ के पास, पण्डितों के सहयोग से इस बात के प्रमाण भी थे कि इस सम्बन्ध में तत्कालीन मनोवृत्ति का कोई ठोस आधार नहीं था, यह सम्भव नहीं हो सका कि परशुराम भाऊ पटवर्धन जैसा प्रभावशाली व्यक्ति भी, सामाजिक वातावरण में व्यस्त संकुचित मनोवृत्ति के कारण, परम्परा विरोधी कदम उठाने का साहस न कर सका, और वह कार्य पूर्ण न कर सका जिसके लिए उसकी आत्मा उसे पूर्ण रूप से प्रेरित कर रही थी।

इसी श्रेणी की एक अन्य घटना का भी उल्लेख यहाँ कर देना मेरी विचार से आवश्यक एवं उपयोगी है, यद्यपि इस घटना के विषय में भी मैं उपलब्ध कागजात, वृत्तान्त तथा ग्रंथों से कोई मौलिक सूचना नहीं प्राप्त कर सका हूँ। यह मामला ऐसा है जिसके विषय में आज भी भारत के हर कोने में स्थित हिन्दू जाति के अनेक सदस्य कुछ न कुछ मात्रा में चिन्तामग्न रहा करते हैं, जैसा कि मेरा विचार है। इस घटना के सम्बन्ध में मेरी जानकारी का एकमात्र स्रोत है,

---

(१२२) पूना के समाचार पत्र, ज्ञान प्रकाश में, एक लेखक लिखता है कि बनारस के पण्डितों की अनुमति मिलने के पूर्व ही रामशास्त्री की मृत्यु हो गई थी, और उसके प्रभावपूर्ण सहयोग से वंचित हो जाने के कारण हा परशुराम भाऊ अपनी इच्छा को पूर्ण करने में सफल न हो सका।

लिखित ओरियण्टल मेम्वायर्स (१२३) जो जिसका लेखक फॉरबीज १७६६ में पश्चिमी भारत में था, और उसके पश्चात भी अनेक वर्षों तक रहा। फॉरबीज लिखता है कि "जिन दो ब्राह्मणों को उसने (अर्थात् राघोबा दादाने) दूत के रूप में इंग्लैंड भेजा था, उनके हिन्दुस्तान लौटने पर, धर्म व्यवस्थापकों ने उन्हें पवित्र 'योनि' में से गुजरने के लिए वाध्य किया जो कि अत्यन्त शुद्ध स्वर्ण से निर्मित थी। प्रायश्चित की इस विधि को पूर्ण कर लेने के पश्चात् दोनों ब्राह्मणों ने पुरोहित ब्राह्मणों को अनेक मूल्यवान वस्तुएँ उपहार स्वरूप दीं, तब कहीं उन्हें उन जातिगत सुविधाओं का अधिकार मिला जिसे उन्होंने इतने भ्रष्ट देशों में यात्रा करके तथा स्वयम् को अपवित्र बनाकर, खो दिया था। इससे यह ज्ञात होता है कि उन पुराने और अच्छे दिनों में, जब कि देश का शासन ब्राह्मण शासकों के हाथ में था तथा सामाजिक जीवन का प्रत्येक अंग धर्म द्वारा नियंत्रित था, 'कालापानी' के अपराध को इतना गम्भीर नहीं माना जाता था, और कुछ साधारण विधियों को सम्पन्न करने के पश्चात् दोषी व्यक्ति को पुनः जाति का अंग मान लिया जाता था। आज हिन्दू समाज ने जो सिद्धान्त अपना लिया है कि कोई भी व्यक्ति, जो समुद्र यात्रा

---

(१२३)—भाग १, पृ० ३७६। इसी रोचक पुस्तक में, आगे चलकर कहा गया है कि जब राघोवा जलमार्ग से सूरत से खम्भात गया तो "अनेक धार्मिक ब्राह्मणों तथा हिन्दू धर्म के उच्चजाति के अनेक गणमान्य व्यक्तियों ने समुद्रयात्रा के लिए उसकी आलोचना की और कहा कि उसने न केवल अपनी जाति के सनातन नियमों एवं परम्पराओं का किया है बल्कि इस प्रकार उसने दैवी आदेशों का भी विरोध किया है। देखें, फारबीज, भाग २, पृ० ८। इसी प्रकार इन धर्म-पण्डितों ने अपनी बिरादरी के उन लोगों की भी निन्दा की थी जो अनेक वर्षों से लंका तथा करांची के बीच समुद्र-यात्रा करते थे; उनके आधुनिक उत्तराधिकारियों ने अपना कार्यक्षेत्र केवल यूरोप यात्रा तक ही सीमित कर लिया है, परन्तु वे छोटी से छोटी समुद्रयात्रा के लिए भी बहिष्कार और प्रायश्चित जैसे दण्डों की आयोजना करते थे। राघोवा ने एकाधिक बार समुद्र यात्रा किया था (देखें नारायणराव पेशवा का बखर, पृ० १३)। शिवाजी भी समुद्र—मार्ग द्वारा यात्रा करके बेदनोर गया था—देखें विविध ज्ञान विस्तार, भाग ६, पृ० १३२।

करता है, प्रायश्चित के पश्चात् भी न जाति में सम्मिलित किया जा सकता है और न जातिगत सुविधाओं का उपभोग ही कर सकता है, उस पर मराठों के पेशवा युग के ब्राह्मणों का विचार उतना कट्टरपंथी नहीं था, और न तो शासक पेशवाओं ने ही इस पूर्ण वहिष्कार के सिद्धान्त को मान्यता दी थी।

अभी ऊपर मैंने ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनसे ज्ञात होता है कि समाज तथा धर्म के जितने भी रूढ़िवादी और सनातन माने जाने वाले नियम प्रचलित थे, उन सबका बन्धन कम या अधिक सीमा तक (१२४) ढीला हो चला था (१२५) इसी के साथ दो एक ऐसे दृष्टान्तों का उल्लेख कर देना मेरे विचार से उचित एवं उपयोगी होगा जो कि कुछ अर्थों में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन सामाजिक चित्र का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं कि उपलब्ध विवरण पेशवाओं के परिवार में अत्यन्त ही कम अवस्था में हुए विवाहों के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं (१२६ उदाहरण के लिए जिस समय बालाजी बाजीराव का विवाह हुआ था, उसकी आयु कुल नौ वर्ष ही थी; विश्वासराव का विवाह आठ वर्ष की ही अवस्था में ही हो गया था; इसी प्रकार माधवराव प्रथम का विवाह नौ वर्ष की आयु में नारायणराव का दस वर्ष की आयु में और सवाई माधवराव का, आठ वर्ष तथा कुछ महीनों की आयु में हो गया था। और बाल विवाह की यह रीति केवल पेशवाओं के परिवार में ही प्रचलित रही

---

(१२४) विविध ज्ञान विस्तार, भाग ११ के पृ० २३२ में एक अंश के अनुसार यह एक सर्वविदित तथ्य था कि राघोवा को विश्वस्त दूत अबा ाले को ऐसे ही परम्परा-विरोधी कार्य करने के पश्चात् बिना प्रायश्चित के ही पुनः जाति में सम्मिलित कर लिया गया था; यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई लिखित मौलिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फारबीज के तत्कालीन विवरण में इस तथ्य का कोई भी उल्लेख नहीं किया गया है।

(१२५) तुलना करें चिटनिस लिखित राजाराम का जीवन चरित्र, भाग १, पृ० ५८, ८६; ग्राण्ट डफ, भाग १, पृ० ३२९, ३७२, नोट।

(१२६) देखिए पेशवा सकावली, पृ० ५, १०, १४, २२, ३३।

हो, ऐसी बात नहीं है (१२७)। नाना फड़नवीस के जीवन के सम्बन्ध में लिखे गए संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि जब वह दस वर्ष का था, उसी समय उसका विवाह कर दिया गया था (१२८)। उसी प्रकार, एक पत्नी के मर जाने पर विवाहों, पुरुषों द्वारा एकाधिक बार पुनर्विवाह करने के सम्बन्ध में अनेक विवरण उपलब्ध हैं (१२९)। विधवाओं के सम्बन्ध में, पेशवाओं के शासन-काल में, जो राजकीय; सामाजिक तथा धार्मिक नियम प्रचलित थे उनके सम्बन्ध में एक रोचक परन्तु प्रामाणिक सूची मिलती है जिसे पेशवा-काल के अन्तिम वर्षों में तैयार किया गया था (१३०) श्रावण शुक्ल १२, १७२९ की तारीख में यह वर्णन मिलता है कि विधवाओं को अपना केश कटवाना पड़ता था, और उनके मुण्डन का केन्द्र पूना स्थित नागझरी

---

(१२७) देखिए वि० ज्ञा० विस्तार, भाग ६, पृ० ४१, ५१. चिटनिस लिखित राजाराम, पृ० ४४, ५२ रामदास चरित्र पृ० १, २, मराठा साम्राज्य बखर पृ० १२६ आदि में इस प्रकार के कुछ और दृष्टान्त हैं। इस सम्बन्ध में विवरण के लिए देखें हमिल्टन लिखित ईस्ट इण्डाज, भाग १, पृ० १५८; ओविंगटन्स वायेज, पृ० ३२१-२४, फ्रायर पृ० ३३ फाॅरबीजका ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग १, पृ० ७३।

(१२८) पत्र और स्मृति पत्रादि (का० इ० संग्रह) पृ० ३४। ऐसा प्रतीत होता है कि कैप्टेन राबर्टसन ने इस स्केच को नहीं देखा था, क्योंकि इसका उल्लेख उसने नाना फड़नवीस की जीवनी में नहीं किया है। कहा जाता है कि इस स्केच की मूल लिपि मिस्टर ब्रुक के साथ इंगलैण्ड पहुँच गई-देखिए वी० बी० खरे लिखित नाना की जीवनी, पृ० ४। निगुडकर लिखित परशुराम भाऊ पटवर्धन की जीवनी से ज्ञात होता है कि परशुराम भाऊ का विवाह तेरह वर्ष की आयु में हुआ था।

(१२९) देखें पेशवा का बखर पृ० १७२; पेशवा शकावली पृ० १५, ३५, चिटनिस लिखित राजाराम का जीवन-चरित्र, भाग २, पृ० ३, ५७, साम्राज्य बखर पृ० १०३, विचूंरकर का बखर पृ० ६।

(१३०) पत्र और स्मृतिपत्रादि (काव्य इतिहास संग्रह, पृ० ५२३; देखें ओविंगटन पृ० ३४३-४, टैवर्नियर भाग २, पृ० २०९ —जिनमें उनके समय में प्रचलित इस रीति के विषय में उल्लेख ही मिलते हैं।

में था। इस सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए कोई अन्य साधन नहीं है, इसलिए मैं इस विषय में कुछ और कहने की स्थिति में नहीं हूं। ऐसा ज्ञात होता है कि वैवाहिक समारोहों में, मनोरंजन के लिए नृत्यांगनाओं के नृत्यों का भी आयोजन किया जाता था (१३१); और सती होने की परम्परा केवल धर्मपत्नियों के लिए ही नहीं थी बल्कि किसी पुरुष की रखैल स्त्रियाँ भी उसकी मृत्यु पर सती हो जाती थीं (१३२)।

ऊपर हमने जिन घटनाओं तथा परिस्थितियों का संकलन किया है, उन पर सामूहिक रूप से दृष्टिपात करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि इनसे हमें महाराष्ट्र के पुराने शासन कालों की अवधि में मराठा

---

(१३१) इस सम्बन्ध में देखिए मराठी साम्राज्य बखर पृ० ४६, १०२-४ पेशवा का बखर पृ० १३६, १४१, विविध ज्ञान विस्तार, भाग १३, पृ० २०३-३८। रावजी अपाजी का जीवन चरित्र (का० प्र० इ० साधनेन) पृ० २७, और ६३ भी देखें, और तुलना करें-फॉरबीज का ओरियन्टल मेम्वायर्स, भाग १, पृ० ८१। इस प्रकार के आयोजन बहुत पहले भी किए जाते थे देखिए कालिदास रचित रघुवंश, खण्ड ३, श्लोक १६। टैवर्नियर ने एकाधिक बार इस तरह के मनोरंजक आयोजनों का उल्लेख किया है—देखिए भाग १, पृ० ७१, ८७, १५८, २५६, २८६ और तुलना करें, स्काट लिखित डेकन, भाग १, पृ० २६, ७७। फॉरबीज (ओरियण्टल मेम्वायर्स, भाग २, पृ० ५३) इस बात की ओर संकेत करता है कि मराठा शिविरों में भ्रष्ट चरित्र की स्त्रियाँ रहती थीं यद्यपि शिवाजी का नियम इस कार्य को पूर्ण निषेध करता था देखिए चित्रगुप्त लिखित जीवन चरित्र पृ० ३६, १५०; फ्रायर्स ट्रैवेल्स, पृ० १७६, इस सम्बन्ध में चित्रगुप्त, पृ० १६२।

(१३२) देखिए भोंसले बखर, पृ० ७६, ११६, पेशवा शकावली पृ० ११०, तुलना करें डाउसन का एलियट, भाग १, पृ० ६, और बर्नियर पृ० ३१०) भारत के मुसलमान शासकों ने सती प्रथा को रोकने का प्रयास किया था देखिए ओविंगटन, पृ० ३४३, टैवर्नियर भाग १, पृ० २१० और लॉर्ड विलियम बेण्टिक (रूलर्स आव इण्डिया सीरीज) पृ० १०४। भोंसले के पत्रों (काव्य इतिहास संग्रह) पृ० १२, से ज्ञात होता है कि एक अवसर पर, एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसकी तेरह पत्नियों में से प्रत्येक ने मृत पति के साथ चितारोहण किया।

समाज के सामाजिक और धार्मिक जीवन की एक झलक मिलती है। जिन परिस्थितियों का अस्तित्व आज हम देश में देख रहे हैं, वे उस समय भी विद्यमान थीं, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है (१३३)। हमें इस बात को भी स्वाभाविक रूप से मान लेना चाहिए कि वर्तमान काल की अपेक्षा मराठा राजाओं और पेशवाओं के शासन काल में ब्राह्मण व्यवस्था अधिक शक्तिशाली थी, और ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत अधिक था। परन्तु जब हम देखते हैं कि कठोर धार्मिक नियंत्रण के होते हुए भी उस काल में सनातन मानी जानेवाली परम्पराओं के विरुद्ध कार्य किए गए; और उस समय अनेक परम्परा-विरोधी योजनाओं को बनाया गया जिनमें से कुछ का उल्लेख हमने ऊपर किया है, तो हम उन लोगों का समर्थन करने की स्थिति में नहीं रह जाते जो यह मानते हैं कि ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ के साथ देश में कैसे पाश्चात्य विचारों के प्रचार के फलस्वरूप हिन्दू जाति और धर्म में विखण्डन प्रारम्भ हुए और तत्सम्बन्धी नियम शिथिल होने लगे (१३४) मेरे विचार से, ऊपर जिन विभिन्न घटनाओं तथा विचारों

---

(१३३) मिस्टर फारेस्ट के सेलेक्शन्स फ्राम बाम्बे स्टेट पेपर्स में कोई भी देख सकता है कि उस काल में वैवाहिक समारोहों, मृतक संस्कारों, होली आदि त्योहारों आदि के अवसरों के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यों में भी बिलम्ब किया जाता था इसी प्रकार अशुभ नक्षत्रों की स्थिति पर भी कार्य स्थगित कर दिया जाता था देखिये पृ० १२६, १३०, १४५, १४६, १४६, १५०, १५६; १७५, ५६६, फारवोज ओरियण्टल मेम्वायर्स, भाग २, पृ० २२, डाउसन का एलियट भाग, ७, पृ० २६६ प्रोफेसर फारेस्ट के सेलेक्शन्स, भाग १, पृ० ४८६ में ऐसा एक उल्लेख मिलता है; कि मराठों तथा अंग्रेजों के सम्मिलित अभियान में ग्रहों की अशुभ स्थिति के कारण मराठों ने अभियान प्रारम्भ करने में अनिच्छा प्रगट की कि परन्तु अंग्रेज अफसर की कड़ाई के आगे मराठों की एक न चली और उन्हें भी कूच करना पड़ा। इसी प्रकार के एक अन्य मामले के लिए देखिये फारवोज लिखित ओरियण्टल मेम्वायर्स भाग ३, पृ० ४७३। भाऊ साहेब की कैफियत पृ० ११ में इसका एक दृष्टान्त मिलता है कि शुभ नक्षत्र में प्रारम्भ किए गए एक अभियान में सफलता के स्थान पर असफलता का ही मुँह देखना पड़ा।

(१३४) कायस्थ प्रभून्ची बखर पृ० १० अनुसार मुसलमान शासकों के काल में

का उल्लेख किया गया है, उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धार्मिक नियमों एवं रूढ़ियों की शृंखला अंग्रेजों के आने से बहुत पहले ही विच्छिन्न होने की प्रवृत्ति दिखाने लगी थी। और जब हम विच्छिन्नता के कारणों को जानने का प्रयत्न करें और इस दृष्टि से वे इन घटनाओं का अध्ययन करें, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मराठा देश में जिन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर धार्मिक तथा सामाजिक व्यवहार के नियमों को बनाया गया था, कालान्तर में उन परिस्थितियों में महान अन्तर उत्पन्न हो गए कि स्वयं मराठों के प्रभुत्व काल में ही इन नियमों का सफलता पूर्वक लागू किया जाना सम्भव न हो सका, जिसके फलस्वरूप लोगों ने स्वयं आवश्यकता तथा सुविधानुसार इन बन्धनों को ढीला करके परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया। मैं समझता हूँ कि प्रारम्भ में जिन लोगों ने बन्धनों को ढीला करने का प्रयास किया, उन्हें विरोध का सामना करना पड़ा, इसलिए कुछ समय तो नियमों एवं परम्पराओं का खण्डन के सम्बन्ध में इने गिने दृष्टान्त ही सामने आते रहे, परन्तु बाद में नियमों एवं परम्पराओं का खण्डन एक साधारण बात समझी जाने लगी और अन्य क्षेत्रों में प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी, स्थापित एवं प्रचलित परम्पराओं को तोड़ डालने के प्रयास किए जाने लगे, यद्यपि उन परम्पराओं के टूट जाने से भी किसी विशेष लाभ की सम्भावना नहीं थी।

ऊपर, पुरानी परम्पराओं एवं रूढ़िवादिता का मार्ग छोड़ देने के विषय में जो दृष्टान्त दिए गए हैं उनमें से कुछ का अध्ययन करने पर पाठकों ने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए, जानबूझ कर, तथा सामान्य हित के लिए ऐसे प्रयास किए

सभी वर्गों एवं जातियों के लोगों का दैनिक आचरण भ्रष्ट हो चला था, ब्राह्मण भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं करते थे। इसी बखर में पृ० १७-१८ में बनारस के पण्डितों का मत भी देखिये। इस सम्बन्ध में और विवरण के लिए देखिए कायस्थ प्रभुन्च्या इतिहासाचिन साधनेन (ग्रामण्य) पृ० १३, विविध ज्ञान विस्तार भाग, ९ पृ० ३१, ३३, चित्रगुप्त कृत शिवाजी पृ० ९७, १३७ श्री शिव काव्य भाग १ पृ० ५१-२ १०७ और तुलना कीजिये एन मैकलियड लिखित पीप्स ऐट द फार ईस्ट, पृ० २६६ जिसमे इस विषय में एक बाहरी व्यक्ति के विचार दिए गए हैं।

गए थे; परन्तु शेष घटनाएँ दूसरी प्रकृति की हैं; उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशेष उद्देश्य से जानबूझकर इन प्रथाओं तथा परम्पराओं की अवहेलना की गई थी; बल्कि मेरे विचार से इस श्रेणी की धार्मिक और सामाजिक नियमों की उपेक्षाओं को उस वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है, जिसे मैं परम्परागत बन्धनों की सामान्य विश्रृंखला कहता हूं। इन दोनों ही वर्गों के दृष्टान्तों को देखते हुए, मैं यही निष्कर्ष निकालता हूं कि यदि पेशवाओं के हाथ से शासन सत्ता निकल न गई होती तो अपेक्षाकृत अधिक सरलता से और अधिक अंशों में, इन परिवर्तनों द्वारा मराठों का लाभ हो सकता था, और प्रारम्भ में इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति में अधिक सफलता प्राप्त हो सकती थी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजों जैसी विदेशी शक्ति की अधीनता में (जिसकी शासन प्रणाली अंग्रेजों द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों पर ही आधारित थी) इस सम्बन्ध में जितनी सफलता प्राप्त हुई, उसकी अपेक्षा देशी शासकों की अधीनता में (जिनके प्रमुख प्रशासनिक सिद्धान्तों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है), यह सफलता प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से तथा बिना किसी विशेष बाधा के अधिक शीघ्र तथा अधिक निश्चित रूप से प्राप्त होती है यद्यपि इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रसारित पाश्चात्य विज्ञान और कला, पाश्चात्य इतिहास और साहित्य की शिक्षा से उद्भूत प्रेरणा ने जिस शान्त ढंग से भारतीय नवयुवकों में क्रान्ति तथा नवीनता के प्रति उत्साह जागृत किया, वैसा देशी नरेशों के शासनान्तर्गत सम्भव नहीं था (१३६)।

स्वर्गीय सर हेनरी समनर मेन ने अनेकों वर्ष पूर्व ही इस ओर संकेत किया था कि ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा सम्पन्न किए जानेवाले कार्यों के परिणामस्वरूप हिन्दू नियमों की सम्भावित गति अवरुद्ध हो गई थी (१३७)। यह कथन भी सत्य से अधिक दूर नहीं है कि ब्रिटिश प्रशासन के परावलम्बी बना देने वाले प्रभाव ने सामाजिक क्षेत्र

---

(१३६) इस सम्बन्ध में सर एच० एस० मेन की विलेज कम्युनिटीज पृ० २७०, २७३ और २८८ का अध्ययन करना उपयोगी होगा।

(१३७) देखिए विलेज कम्युनिटीज पृ० ४५-७।

में भी इसी प्रकार का गत्यावरोध उत्पन्न कर दिया, और हिन्दुओं की सामान्य सामाजिक प्रगति ठप हो गई। अब भी उन कारणों का पूर्णतः विश्लेषण करना सरल नहीं है जिन्होंने इतने दिनों तक सामाजिक प्रगति को अवरुद्ध कर रक्खा था और जिनसे आज भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका है, और न तो इन कारणों का विश्लेषण करना हमारे विषय-क्षेत्र में ही आता है। परन्तु इस सम्बन्ध में विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्रिटिश प्रशासन के सामान्य प्रभाव के फलस्वरूप वे विभिन्न शक्तियाँ धीरे-धीरे निर्बल पड़ती गईं, जो कि इतने दिनों तक हिन्दू जाति को एक सूत्र में बाँधे हुए थीं, यद्यपि उनका प्रभाव भीतर ही भीतर पड़ता था, (१३८) जब कि दूसरी तरफ व्यक्तिवाद का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया, और जातिवाद और धर्मवाद के बदले में व्यक्तिवाद ही प्रमुख शक्ति बना हुआ है।

उदाहरण के लिए अवसर पड़ने पर नाना फड़नवीस कभी-कभी ऐसे परामर्श भी दिया करता था जो तत्कालीन प्रचलित परम्पराओं के विरुद्ध होते थे; और जब कभी पेशवा नहीं समझ पाता था कि उपस्थित परिस्थितियों में किस प्रकार व्यवहार किया जाय जिसका विरोध जनता द्वारा न किया जाय, तब भी नाना फड़नवीस रूढ़िवादी परम्पराओं पर विशेष ध्यान नहीं देता था और इसी प्रकार का परामर्श दिया करता था, और जब पेशवा इन परामर्शों के अनुसार ही विभिन्न विषयों में अपनी नीति निर्धारित करता था; उसके सम्पर्क में रहने वाले ब्राह्मण इन परम्पराविरोधी नियमों का पालन करते थे, और कोई भी व्यक्ति

---

(१३८) कायस्थ प्रभूंची बखर (का० प्र० इ० साधनेन) पृ० ६ के अनुसार इन भागों में ब्राह्मणों और कायस्थ प्रभुओं कायस्थों के पक्ष में निर्णय दिया तो पश्चिमी भारत के समस्त ब्राह्मणों ने में उत्पन्न हुए एक विवाद को निपटाने के लिए बनारस के पण्डितों के समक्ष उपस्थित किया तथा जब ब्राह्मणों ने इस निर्णय को स्वीकार किया और सभी पुराने भेदभावों और विरोधों को भूल कर निर्णयानुसार [illegible] करने लगे। इस प्रकार की धार्मिक एकता के अनेक उदाहरण सवाई माधव राव के काल तक मिलते हैं। देखिए कायस्थ प्रभूंच्या इतिहास साधनेन (ग्रामण्य) पृ० ७।

खुले रूप से इस सम्बन्ध में विरोध प्रगट नहीं करता था। जब भी कोई समस्या आ पड़ती थी, और पेशवा नाना फड़नवीस से परामर्श लेता था, तो नाना तुरन्त ही एक मार्ग बता देता था, और जब पेशवा उसके बताए मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करता था तो वह झट कह देता था कि पहले बताये हुए मार्ग पर कदम बढ़ाए जाँय, कठिनाइयों को पार करने का उपाय पीछे किया जायगा (जैसा कि परशुराम भाऊ द्वारा पेशवा से भोजन करने का आग्रह करने पर हुआ था। (१३६) परन्तु यह, ज्ञात नहीं होता कि कभी उसके द्वारा बताए गए मार्ग में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हों, और उन्हें पार करने का उपाय उसे ढूँढ़ना पड़ा हो। यदि कभी उपाय ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़ती, तो ऐसा किए जाने में देर न लगती और ये उपाय भी उसी ढंग के होते जिनमें से कुछ का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। समाज इनको स्वीकार करता था। क्योंकि लोगों में समाज को शक्तिशाली बनाए रखने की भावना कार्य करती थी। इसी ढंग से धीरे-धीरे, थोड़े बहुत अवरोधों का सामना करते हुए, समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं का बन्धन ढीला होता रहता, और समय की प्रगति के साथ परम्पराओं में हुए परिवर्तन ही परम्परा का रूप धारण कर लेते। मेरा विश्वास है कि यदि शासन सत्ता पेशवाओं या मराठों के हाथ में ही रही होती, तो सामाजिक विकास का क्रम यही रहता। परन्तु हमारे आज के विकास का क्रम जिस गति से चल रहा है, उसमें वह सम्भाव्य गति नहीं आ

(१३६) पीछे देखिए नोट संख्या (१०३) और (१०४); परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नाना स्वयम् न तो स्वतंत्र-विचारक था, और न धर्म के सम्बन्ध में अविश्वासी-देखिए पत्र, स्मृतिपत्रादि, (का० इ० संग्रह) पृ० ३४, ३९ और वी० वी० खरे लिखित जीवनी, पृ० १६६ (जहाँ प्रमाण रूप में कवि मोरोपन्त को उद्धत किया गया है; इस सम्बन्ध में श्री शिवकाव्य, खण्ड १६, पृ० २७ भी देखिए)। वह वास्तव में, धार्मिक दृष्टि से एक पवित्र हिन्दू था। इसके विपरीत आजकल की धार्मिक प्रवृत्ति के लोग तथा पण्डित यह सिद्ध करने के लिए अब भी स्मृतियों आदि के सागर में गोते लगा रहे हैं कि इंगलैड की यात्रा करने में कोई दोष नहीं है, परन्तु उक्त ग्रंथों में इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्था न पाने पर निरुपाय होकर सिर हिलाते हुए कह देते है—'यह निषिद्ध है', और सारा मामला समाप्त हो जाता है।

सकती जो मराठों के शासनान्तर्गत सम्भव थी, और जहाँ कहीं भी अन्य दृष्टियों से ब्रिटिश प्रभाव काम कर रहा है, वहाँ विकासक्रम की गति अपेक्षाकृत अधिक मन्द और अवरोधपूर्ण है। स्वर्गीय मिस्टर कृष्ण शास्त्री चिथलोणकर पर तीस वर्ष पूर्व यह सन्देह किया गया कि उसने अपने एक यूरोपियन मित्र की मेज पर फल खा लिया था, (१४०) और यद्यपि वह अपने वर्ग के विचारों का नेतृत्व करता था, फिर भी उसे समाज के धर्मधुरन्धरों की प्रत्येक सम्भव आलोचना का सामना करना पड़ा। इसके पश्चात् भी इस प्रकार की घटनाएँ हुईं और तथा कथित दोषियों को ऐसे ही परिणाम भोगने पड़े। यह कहा जा चुका है ऊपर उल्लेख की गई घटनाएँ प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करती हैं, चाहे यह कथन सत्य हो अथवा न हो, चाहे इस प्रकार की घटनाओं के पश्चात् प्रगति हुई हो या न हुई हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उधर जिस प्रकार से विकास हुआ है, उसकी गति अत्यन्त ही मन्द रही है। और दूसरी तरफ इस मन्द गति के प्रणेताओं के रूप में कुछ ऐसे व्यक्ति सामाजिक रंगमंच पर आ गए हैं जो या तो पेशवाओं के काल में हुए आन्दोलन का सारांश भी नहीं जानते, या जानते भी हैं, तो उसका महत्व स्वीकार नहीं करते।

अब मैं भी सोचता हूँ कि मुझे इस प्रकार के विचारों को लिखते ही न जाकर लेखनी को विश्राम देना चाहिए। यत्रतत्र बिखरे तथा छिटके हुए, उपलब्ध साधनों द्वारा, भूतकालीन राजनीति तथा समाज के आवश्यक अंगों को जोड़कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना ही इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। अब यह कार्य समाप्त हो चुका है, और इन अंगों के अध्ययन से प्राप्त विचारों और पाठों का विवरण और विवेचन भविष्य के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। मैं निष्कर्ष के रूप में केवल एक व्याख्यात्मक पंक्ति और जोड़ना चाहूंगा। जिन घटनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उन्हें प्राप्य स्रोतों से ही लिया गया है, तथा इस चयन में यह विचार नहीं किया गया है कि कौन

---

(१४०) इस घटना के लिए देखें डाक्टर नार्मन मैकलियड कृत पोप्स ऐट द फार ईस्ट पृ० ६८ (नोट) और पृ० ३७५। इस निबन्ध को सर्वप्रथम स्वर्गीय मिस्टर जस्टिस के० टी० तेलंग द्वारा २७ सितम्बर १८६२ को डेकन कालेज यूनियन के समक्ष पढ़ा गया था।

स्रोत समकालीन है, Contemporanesus और कौन बाद का। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इनमें से अधिकांश स्रोत वास्तव में समकालीन नहीं हैं। परन्तु यह पुस्तक जिस उद्देश्य तथा विषय क्षेत्र को लेकर लिखी गई है, उसका वर्णन करने के लिए कि किसी परिस्थिति विशेष का सम्पूर्ण विवरण देना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। जो भी हो, ये विवरण उस सिद्धान्त के अनुसार मूल्यवान हैं जिसे पुराने ग्रीक ग्रंथों में गोटे ने अपनाया था, अर्थात् "परदा ही चित्र है।" और चूँकि इस पुस्तक के स्रोत में प्रयुक्त यदि सब नहीं तो अधिकांश स्रोत प्राचीन शासन कालों के हैं, उनमें वर्णित घटनाओं की प्रामाणिकता की जाँच करना मैंने इस पुस्तक के उद्देश्य के लिए आवश्यक नहीं समझा है।